दर्शन का प्रयोजन

डाक्टर भगवान् दास

बनारस

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

प्रस्तावना—दूसरा संस्करण

इस नये संस्करण मे पुराने संस्करण के सब वाक्य रक्खे गये हैं; कोई कमी नहीं की गई है; किन्तु कुछ शोधन और बहुत परिवर्धन किया है। एक अध्याय (पाँचवाँ) 'पौराणिक रूपकों के अर्थ' और एक (छठवाँ) 'दर्शनसार और धर्मसार' बढ़ा दिये हैं।

प्रथम संस्करण के 'पाठकों से निवेदन' रूप प्रस्तावना मे लिखा है कि 'दर्शन के इतिहास' का विहगावलोकन भी ग्रन्थ के अन्त मे रख देने की इच्छा थी, पर पूरी न कर सका; वह इच्छा भी इस संस्करण मे, सातवें अध्याय मे, पूरी कर दी है।

श्री देवनारायण द्विवेदी और ज्ञानमंडल प्रेस ने कागज के दुर्भिक्ष के समय मे, जब सब वस्तुओं का मूल्य और काम करने वालों का वेतन चौगूना छःगूना हो रहा है, और प्रेस की धातबाने की सभी सामग्री, सीसा के टैप, ताम्बा के (टैप ढालने के) मैट्रिक्स, लोहे की मशीनै, आदि, का दाम बीस और पचीस गूना हो गया है—ऐसे नीवाक (रैशनिङ्) और प्रयाम (कन्ट्रोल) के दुष्काल मे इस पुस्तक को छापने की हिम्मत की, इस लिये मै उन का बहुत आभारी हूँ।

बनारस (कॉन्ट),
सौ० ३० श्रावण, २००५ वि० }

भगवान् दास
(१५ अगस्त, १९४८ ई०)

प्रस्तावना—तीसरा संस्करण

इस संस्करण मे भी कुछ (बहुत थोड़ा) संशोधन और परिवर्धन किया गया है। मेरे लिये, तथा 'ज्ञानमंडल' के लिये, हर्ष का स्थान है कि विद्याव्यसनी सज्जनो ने प्रीति से इस का ग्रहण किया, और इस के नये संस्करण का प्रयोजन हुआ।

"शांति सदन", सिग्रा,
बनारस—२.
दीपावली, सौर २० कार्तिक
२०१० वि० }

भगवान् दास
(६ नवंबर, १९५३ ई०)
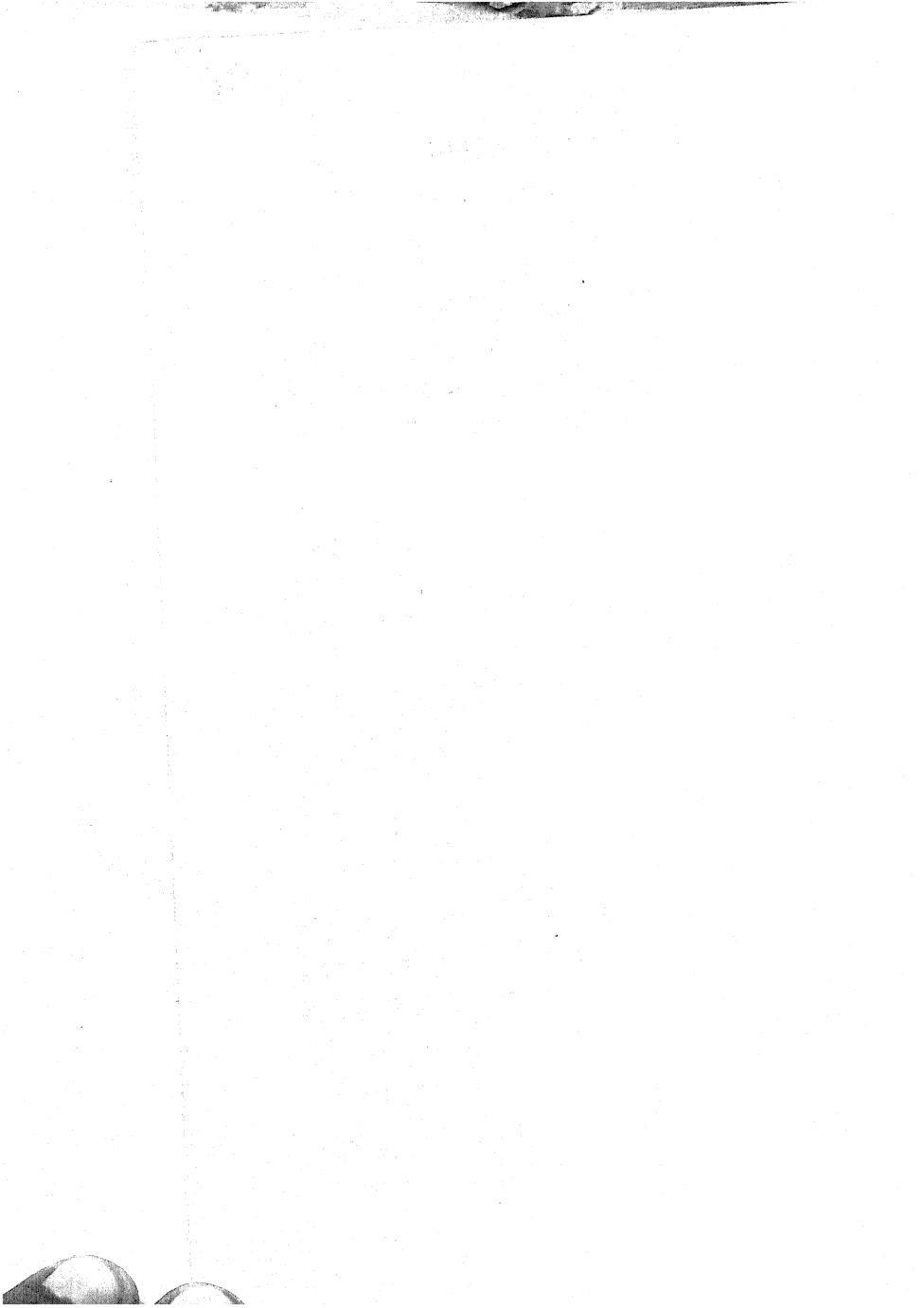
पाठकों से निवेदन

उत्तर प्रदेश की हिंदुस्तानी एकेडेमी की ओर से, जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचंद जी ने, सन् १९२९ ई० के अंत में, पत्र द्वारा मुझे निमंत्रण भेजा, कि दर्शन के विषय पर दो व्याख्यान प्रयाग में दो। तदनुसार, ता० १० और ११ जनवरी, सन् १९३० ई० को मै ने दो व्याख्यान दिये। विषय 'दर्शन का प्रयोजन' था। डाक्टर ताराचंद जी ने कहा कि इन को विस्तार से लिख दो तो छपा दिये जायँ। मै ने स्वीकार किया।

तीन महीने के बाद देश मे 'नमक-सत्याग्रह' का हलचल आरंभ हो गया; सन् १९३१ ई० मे बनारस और कानपुर में घोर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए; सन् १९३२ ई०में फिर 'सविनय अवज्ञा' आरंभ हुई, जिस की परम्परा सन् १९३४ ई० की गर्मियों तक रही; इन सब के संबंध में मुझे बहुत व्यग्रता रही; जिस को विस्तार से लिखने का यहाँ प्रयोजन और अवसर नहीं। सन् १९३४ के अंत मे मित्रों ने, जिन को मै 'नहीं' न कर सका, मुझे कांग्रेस की ओर से, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली (केन्द्रीय धर्मपरिषत्) मे जाने के लिए विवश किया।

सन् १९३४ ई०की गर्मियों मे, बनारस के पास चुनार के छोटे नगर, क्या ग्राम, मे, गंगा के किनारे रह कर, उन दो व्याख्यानो के अधिकांश का विस्तार लिख कर जेनरल सेक्रेटरी जी के पास भेजा। सितम्बर, सन् १९३६ ई० मे जब मै असेम्ब्ली के काम से शिमले मे था, पहिले प्रूफ़ मिले। कभी कदाचित् प्रेस की ओर से देर होती थी, पर अधिकतर मेरी ओर से; कुछ तो मेरी प्रकृति के दोष से, कि एक चलते हुए काम को समाप्त किये बिना, मित्रों के निर्बन्ध से दूसरे काम उठा लेता हूँ; और कुछ अनिवार्य झंझटों और विघ्नो के कारण। इन हेतुओं से छापने के काम में विलम्ब होता रहा। लेख का विस्तार भी, प्रूफ़ों मे, होता गया।

सन् १९४० ई० की गर्मियों तक चार अध्याय पूरे छप गये। इन मे यह दिखाने का यत्न किया है कि सांसारिक और पारमार्थिक दोनो ही सुखों का उत्तम रूप बतलाना, और दोनो के साधने का उत्तम उपाय दिखाना—यही दर्शन का प्रयोजन है। इन दोनो सुखों के साधने के लिये समाज की सुव्यवस्था कितनी आवश्यक है; और दर्शनशास्त्र, आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, के सिद्धांतों के अनुसार, उस व्यवस्था का क्या उत्तम रूप है; यह चौथे अध्याय मे दिखाया है।

इतने से पुस्तक का मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया; अपना वयस् और उस के साथ-साथ तन और मन का थकाव, भी दिन दिन बढ़ता जाता है; यह देख कर जी चाहा कि इस काम को यहीं समाप्त कर दें। पर पहिले से यह विचार था, और प्रयाग के दूसरे व्याख्यान के अंत मे इस का कुछ संकेत भी किया था, कि दर्शन के इतिहास का एक 'विहंगमा-वलोकन' (बर्ड्ज़-आइ-व्यू) भी, प्रयोजन के वर्णन के साथ, समाविष्ट कर दिया जाय, क्योंकि प्रायः उस से भी इस विश्वास का समर्थन होगा कि प्रत्येक देश और काल मे, विचारशील सज्जनो ने, दर्शन का अन्वेषण इसी आशा से किया, चाहे उस आशा का रूप अस्पष्ट अव्यक्त ही रहा हो, कि उस से चित्त को शांति भी और सांसारिक व्यवहार मे सहायता भी मिलेगी। इस हेतु से इस लालच ने बल पकड़ा कि यह अंग भी पूरा कर दिया जाय। यह जान कर भी कि डाक्टर ताराचंद जी जेनरल सेक्रेटरी को, उन के कार्यालय को, और छापाख़ाने को, क्लेश दे रहा हूँ, मै ने डाक्टर ताराचंद जी को लिखा कि जहाँ आप ने इतना धैर्य किया, कुछ सप्ताहों के लिये और धीरज धरैं; उन्हों ने दया कर के स्वीकार कर लिया।

पर उन को यह नया क्लेश देना मेरी भूल ही थी। आकांक्षा बड़ी, शक्ति थोड़ी, काम बहुत बड़ा! आशा यह की थी कि चीन-जापान, हिंदुस्तान, अरब-ईरान, यहूदिस्तान, ग्रीस-रोम, मध्यकालीन (मेडीवल) और अर्वाचीन (माडर्न) यूरोप-अमेरिका—इन सब देशों के दर्शन

के इतिहास का दिग्दर्शन, जिस को बीस पच्चीस बड़ी संचिकाओं मे भी, बहुत संक्षेप से भी, समाप्त करना कठिन है, मै कुछ सप्ताहों मे, और एक ही अध्याय मे, और वह भी ७२ वर्ष के वयस् मे लिख लूँगा !

यद्यपि मै ने मन से इस विहगावलोकन की रूप-रेखा सोच ली थी; और, जो थोड़ी सी पुस्तकें विविध देश काल के दार्शनिकों के विचारों के संबंध मे देख पाई थीं; उन से मुझे यह निश्चय भी हो गया था, (और है), कि इन ग्रंथों मे शब्दों ही की भरमार और भिन्नता बहुत, अर्थ थोड़े और सब मे समान ही; जैसे एक मनुष्य, बदल-बदल कर, सैकड़ों प्रकार के वस्त्र पहिने, तो वस्त्रों का ही भेद हो, पर मनुष्य का एक ही सच्चा रूप रहै; और इस रूपरेखा और इस विचार के अनुसार लिखना भी आरंभ कर दिया; पर थोड़े ही दिनो मे विदित हो गया कि, एक एक देश के दार्शनिकों मे से, प्रत्येक शताब्दी के लिये, सामान्यतः एक-एक वा दो-दो मुख्य मुख्य दार्शनिकों को चुन कर, और उन के एक-एक भी मुख्यतम विचार का निश्चय कर के, निरी सूची मात्र भी प्रस्तुत कर देना, महीनो, स्यात् बरस दो बरस, का समय चाहेगा; उस पर भी निश्चय नहीं, अपितु बहुत सन्देह, कि निरन्तर काम कर सकूँगा। यदि निरंतर काम कर सकने का निश्चय होता, तो स्यात् समाप्त कर सकने का भी कुछ निश्चय होता। बुढ़ापे की बुद्धि-शक्ति का वर्णन, एक हिन्दी कवि ने बहुत मनोहर किया है।

छिन मा चटक, छिनहि मा मद्धिम, बिना तेल जस दीप बरन्।

फ़ारसी का एक शेर इस भाव को दूसरी सुन्दर रीति से कहता है—

गहे बर तारुमे आला नशीनम्,
गहे मन् पुश्ति पाये ख़ुद न बीनम्।

'कभी तो, मानो बहुत ऊँचे गोपुर, अटारी, मीनार, के ऊपर बैठा हुआ बहुत दूर-दूर की वस्तुओं को देखता हूँ। कभी अपने पैर को भी नहीं देख सकता हूँ।' दो दिन चित्त मे स्फूर्त्ति होती है तो चार दिन म्लानि ग्लानि, सब शक्तियाँ शिथिल।

ऐसी अवस्था मे, पोली आशाओं पर पुस्तक को न जाने कितने दिनो तक मुद्रणालय मे पड़ा रहने देना नितांत अनुचित, और हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के कार्यालय पर अत्याचार, होगा। इस लिये अब निश्चय कर लिया कि जितना छप गया है उस को यहीं समाप्त कर के, पुस्तक को प्रकाशित कर ही देना उचित है। और इस को समग्र पुस्तक का प्रथम भाग समझना चाहिये।

गरुड़ावलोकन का काम जो आरंभ हो गया है, उस को शक्ति और समय के अनुसार (—'समय' इस लिये कि अभी दूसरी झंझट से सर्वथा अवकाश नहीं है—) चलता रक्खूँगा। यदि शरीर और बुद्धि ने साथ दिया, और काम पूरा हो गया, तो इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के रूप मे वह प्रकाशित होगा।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ मे 'कापी-राइट' का अधिकार, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू०पी०, को, पुस्तक के प्रकाशित होने के पीछे, तीन वर्ष तक, अर्थात् सन् १९४३ के अंत तक रहैगा। इस के अनंतर जिस का जी चाहे इस को, या किसी अन्य भाषा मे इस के अनुवाद को, छपा सकैगा। हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, जिन पुस्तकों को छापती है, उन के लेखकों को पुरस्कार दिया करती है। मेरी जीविका दूसरे प्रकार से उपलब्ध है, इस लिये मै अपने ग्रंथों के लिये पुरस्कार, रॉयल्टी आदि, नहीं लेता; मै ने जेनरल सेक्रेटरीजी को यह लिखा कि मुझे पुरस्कार न दे कर, उस के विनिमय मे, यह स्वीकार कर लें कि तीन वर्ष पीछे इस मे 'कापीराइट' न रहैगा। उन्हों ने हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू० पी०, की ओर से यह स्वीकृति मुझ को लिख भेजी। यह प्रबन्ध मै ने इस लिये कर लिया है कि इस ग्रंथ मे कोई मेरी उपज की नई बात नहीं है, सब पुरानी आर्ष बातैं ही नये शब्दों मे नयी रीति से लिखी हैं, और मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि उन बातों का अधिकाधिक प्रचार हो, 'कापी-राइट' आदि के कारण इस के प्रचार मे कमी न हो।

एक बात और लिख देना उचित (मुनासिब) जान पड़ता है। कुछ

लोगों की ऐसी धारणा है, कि हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के उद्देश्यों मे एक यह भी था कि जिन पुस्तकों को यह संस्था (इंस्टीट्यूशन, सीग़ा, सरिश्तः) प्रकाशित करै, उन की भाषा ऐसी हो जिस से हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटै, और दोनो के बीच की एक बोली, 'हिंदुस्तानी' के नाम से बन जाय, जो दोनो का काम दे सकै, और सारे भारतवर्ष (हिंदुस्तान) मे फैले। थोड़ा बहुत जतन (यत्न, कोशिश) इस ओर मै ने भी छोटे मोटे लेखों (तहरीरों) मे किया, पर मेरे अनुभव (तज्रुबे) का निचोड़ यह है कि ऐसी बोली साधारण (मामूली) काम के लिये तो बहुत कुछ इस समय (वक़्त) भी चल रही है, और कुछ अधिक (ज़्यादा) भी चलाई जा सकती है; किन्तु शास्त्रीय वादों, लेखों, और ग्रन्थों, (इल्मी त़क्रीरों, तहरीरों, और किताबों) के काम के लिये नहीं बन सकती; इस काम के लिये या तो संस्कृत के शब्दों को, या अरबी फ़ारसी के लफ़्ज़ों को, बहुतायत से लिखना बोलना पड़ैगा। पर यह अवश्य (ज़रूर) करना सम्भव (मुमकिन) भी है, और उचित (मुनासिब) भी है, कि जहाँ तक हो सकै संस्कृत शब्दों के साथ, 'ब्रैकेट' मे, उन के तुल्यार्थ (हम-मानी) अरबी-फ़ारसी शब्द, और अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ों के साथ उन के समानार्थ (हम-मानी) संस्कृत शब्द, भी लिख दिये जाया करें। इस रीति (तर्कीब) मे कुछ दोष (नुक़्स) तो हैं ही; पढ़ने वालों को कुछ पीड़ा (तकलीफ़) होगी, जैसे रोड़ों पर दौड़ती हुई गाड़ी मे बैठे यात्री (मुसाफ़िर) को; पर गुण (वस्फ़) यह है कि उर्दू जानने वालों को हिंदी के भी, और हिंदी जानने वालों को उर्दू के भी, पाँच पाँच सात सात सौ शब्दों का ज्ञान (इल्म) हो जायगा, और एक दूसरे के वार्त्तालाप (गुफ़्तोगू, त़क्रीर) और लेख (तहरीर) समझना सरल (सहल) हो जायगा। यह तो स्पष्ट (ज़ाहिर) ही है कि वाक्यों (जुम्लों) की बनावट (रचना, तर्कीब) हिंदी और उर्दू दोनो मे एक सी है, और क्रिया (फ़ेल) के पद (लफ़्ज़) भी दोनो मे अधिकतर (ज्यादातर) एक ही हैं; भेद

(फ़र्क़) है तो संज्ञा-पदों (इस्म के लफ़्ज़ों) मे है। इन थोड़े से वाक्यों (जुम्लों) मे, मेरे मत (राय) का उदाहरण (नमूना) भी दिखा दिया गया है, और इस ग्रन्थ (किताब) मे कई स्थलों (जगहों) पर भी इस रीति (तरीक़े) से काम लिया गया है।

परमात्मा से, (रूहुल-रूह, रूहि आज़म) से, मेरी हार्दिक प्रार्थना है, (दिली इल्तिजा है), कि इस किताब के पढ़ने वालों के चित्त को शांति (सल्म) मिलै, और समाज के (इन्सानी जमाअत के) व्यवस्थापकों (मुन्तज़िमो) और सुधारने वालों का ध्यान इस देस के पुराने ऋषियों (रसीदः बुज़ुर्गों) के दिखाये हुए मार्ग की (राह की) ओर झुकै। तभी दर्शन का, (फ़ल्सफ़ा का), प्रयोजन सिद्ध होगा (मक़सद हासिल होगा)। सांसारिक और पारमार्थिक (दुनियावी और इलाही, रूहानी) दोनो सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावै वही सच्चा दर्शन; यही दर्शन का प्रयोजन है !

यद् आभ्युदयिकं चैव, नैश्रेयसिकमेव च,
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद् हि दर्शनं।

बनारस,　　　　आप का शुभचिंतक (खैर-अंदेश)

१५ सितम्बर, १९४०　　　　**भगवान् दास**

विषय-सूची

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

पहिला अध्याय

दर्शन का मुख्य प्रयोजन

सनत्कुमार और नारद की कथा

(1) छांदोग्य उपनिषत् मे कथा है, सनत्कुमार के पास नारद आए, प्रार्थना की, 'शिक्षा दीजिए।'

अधीहि भगवः, इति ह उपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं ह उवाच, यद् वेत्थ तेन मा (मां) उपसीद, ततः ते ऊर्ध्वं वक्ष्यामि, इति। स ह उवाच, ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं चतुर्थं, इतिहासपुराणं पंचमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यं, एकायनं,[1] वेदविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्प-देवजन-विद्यां, एतद् भगवोऽध्येमि। सोऽहं, भगवो, मन्त्रविद् एव ऽस्मि, नऽात्मवित्। श्रुतं हि मे भगवद्दृशेभ्यः, तरति शोकं आत्मविद् इति। सोऽहं, भगवः, शोचामि। तं मा (मां) भगवान् शोकस्य पारं तारयतु। (छांदोग्य, अ० ७)

सनत्कुमार ने कहा, 'जो सीख चुके हो वह बताओ, तो उस के आगे की बात तुम से कहूँ।' बोले, 'ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, ये चारो वेद, पंचम वेद रूपी इतिहास-पुराण जिस के बिना वेद का अर्थ ठीक समझ मे नहीं आ सकता, वेदों का वेद व्याकरण, परलोकगत पितरों से और इस लोक मे वर्तमान मनुष्यों से परस्पर प्रीति और सहायता का बनाए

१—१ पाञ्चरात्र आगम के ग्रन्थों मे उस आगम को ही 'एकायन वेद' कहा है। "एषः एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि। वेदं एकायनं

रखने वाला श्राद्धकल्प, राशि अर्थात् गणित, दैव अर्थात् उत्पात-ज्ञान शकुन-ज्ञान, अथ च दिव्य प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान, निधि अर्थात् पृथ्वी मे गड़े धन का ज्ञान, अथ च आकर शास्त्र, वाकोवाक्य अर्थात् तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तर-शास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्ति-शास्त्र, एकायन अर्थात् नीतिशास्त्र, राजशास्त्र, जो अकेला सब शास्त्रों से काम लेता है,[१] देवविद्या अर्थात् निरुक्त जिस मे भूस्थानी मुख्य देव अग्नि, अंतरिक्षस्थानी सोम (पर्जन्य, विद्युत्, इन्द्र आदि जिस मे पर्यायवत् अंतर्गत हैं), द्युस्थानी सूर्य, और देवाधिदेव आत्मा, का वर्णन है, अथ च शब्दकोष, ब्रह्मविद्या अर्थात् ब्रह्म नाम वेद की अंग विद्या, शिक्षा कल्प और छन्द आदि, भूत-विद्या अर्थात् भूत प्रेत आदि की बाधा को दूर करने की विद्या, अथ च अधिभूत शास्त्र, पंचमहाभूतों पंचतत्त्वों के मूल स्वरूप और परिणामो विकृतियों का शास्त्र, क्षत्रविद्या अर्थात् धनुर्वेद, समस्त युद्धशास्त्र, नक्षत्र-विद्या अर्थात् ज्योतिष शास्त्र, सर्पविद्या अर्थात् विष वाले जंतुओं के निरोध की और विष के चिकित्सा की विद्या, अथ च (सर्पंति चरंति प्राणंति जीवंति इति) वृक्ष पशु आदि जीव जंतु का शास्त्र, देवजनविद्या अर्थात् गांधर्व विद्या, चतुःषष्टि कला, गीत, वाद्य, नृत्य, शिल्प, सुगन्ध का निर्माण, सुस्वादु भोज्य पदार्थ का कल्प आदि, यह सब मैं ने पढ़ा। पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मै ने केवल बहुत से शब्दों को ही पढ़ा। आत्मा को, अपने[१] को, नहीं पहचाना। और मै ने आप ऐसे

नाम वेदानां शिरसि स्थितं; तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत् क्रियावताम्।" इत्यादि। किन्तु, इस स्थान पर यह अर्थ अनुपयुक्त है, क्योंकि पाञ्चरात्र आगम की कथा तो यह है कि उस को नारद ने साक्षात् नारायण से पाया, और उसी से मुक्त हो गये; फिर सनत्कुमार के पास शोक से मुक्ति का उपाय पूछने क्यों आते ?

१ 'अपना' शब्द प्रायः संस्कृत आत्मा, आत्मानं, आत्मनः का ही प्राकृत (अत्ता, अत्ताणं, अत्तणो, आपणो) विकार और रूपांतर जान पड़ता है।

वंदनीय वृद्ध महानुभावों से सुना है कि आत्मा को पहिचानने वाला शोक के पार तर जाता है। सो मै शोक मे पड़ा हूँ। मुझ को शोक के पार तारिए।'

तब सनत्कुमार ने नारद को उपदेश दिया।

आज काल[१] के अंग्रेजी शब्दों मे[२] कहना हो तो स्यात् यों कहेंगे कि, सब सायंस और सब आर्ट, सब हिस्टरी, ऐन्थ्रोपॉलोजी, ग्रामर, फैलॉलोजी, मैथेमैटिक्स, लाजिक, केमिस्ट्री, फ़िजिक्स, जियॉलोजी, बॉटनी, ज़ुऑलोजी, साइकिकल सायंस, मेडिसिन, ऐस्ट्रोनोमी, और सब फ़ाइन आर्ट्स, म्युज़िक, डांसिङ्, पेंटिङ्, आर्किटेक्चर, गार्डनिङ्, परफ़्यूमरी, क्युलिनरी, डायेटेटिक्स, आदि—सब जान कर भी कुछ नहीं जाना; चित्त शांत नहीं हुआ, दुःख से, शोक से, छुटकारा नहीं हुआ। इस लिए वह पदार्थ भी जानना चाहिए जिस से चित्त को स्थायी शांति मिले, मनुष्य स्वस्थ आत्मस्थ हो, अपने को जाने, आगमापायी आने जाने वाले सुख दुःख के रूप को पहिचाने, और दोनो के पार हो कर स्थितप्रज्ञ हो जाय, नफ़सुल्मुत्मइन्ना और नफ़्सुर्‌-रहमानी को हासिल करे।

जब तक मनुष्य किसी एक विशेष शास्त्र को जान कर इस अभिमान मे पड़ा है कि जो कुछ जानने की वस्तु है वह सब मै जानता हूँ,

---

१ यद्यपि आज काल चाल 'आज कल' लिखने की चल पड़ी है, पर संस्कृत शब्द 'अद्य काले' की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से भी 'आज काल', आज के काल मे, इस समय (जमाने) मे, ही ठीक जान पड़ता है।

२ All Sciences, all Arts, History, Anthropology, Grammar, Philology, Mathematics, Logic, Chemistry, Physics, Geology, Botany, Zoology, Psychical Science, Medicine, Astronomy, Fine Arts, Music, Dancing, Painting, Architecture, Gardening, Perfumery, Culinary, Dietetics, etc.

तब तक, स्पष्ट ही, उस को आत्मविद्या अर्थात् दर्शनशास्त्र का प्रयोजन नहीं। जब स्वयं उस के चित्त मे असंतोष और दुःख उठे और उस को यह अनुभव हो कि विशेष शास्त्रों के मेरे ज्ञान से मेरा दुःख नहीं मिटता, चित्त शांत नहीं होता, तभी वह इस आत्मदर्शन की खोज करता है। उपनिषत् के उक्त वाक्यों पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—

सर्वविज्ञानसाधनशक्तिसंपन्नस्य ऽपि नारदस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव; उत्तमाभिजनविद्यावृत्तसाधनशक्तिसंपत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा, प्राकृतपुरुषवत्, सनत्कुमारं उपससाद, श्रेयःसाधनप्राप्तये; निरतिशयप्राप्तिसाधनत्वं आत्मविद्यायाः इति।

देवताओं के ऋषि, बहिर्मुख शास्त्रों के सर्वज्ञ, फ़रिश्तों मे अफ़ज़ल और अल्लामा, नारद को भी, ऊँचे कुल का, विद्या का, शक्ति का, गर्व अभिमान छोड़ कर, साधारण दुःखी मनुष्य के ऐसा सिर झुका कर, सनत्कुमार के पास उस अन्तिम ज्ञान के लिए जाना पड़ा, जिस से सब दुःखों की जड़ कट जाती है। जिस हृदय मे अहंकार अभिमान का राज है उस मे वह अंतिम ज्ञान, वेद के अंत, वेदांत, और आत्मा का प्रवेश कहां?

ख़ुदी को छोड़ा न तू ने अब तक,
ख़ुदा को पावेगा कह तू क्यों कर?
जवानी गुज़री, बुढ़ापा आया,
अभी तक, ऐ दिल!, तू ख़्वाब मे है!
न कोई परदा है उस के दर पर,
न रूये रौशन नक़ाब मे है;
तू आप अपनी ख़ुदी से, ऐ दिल!,
हिजाब मे है, हिजाब मे है।

यम और नचिकेता की कथा

(2) ऐसी ही कठ उपनिषत् मे बालक नचिकेता की कथा है। उस के

पिता ने व्रत किया, अपनी सब संपत्ति अच्छे कामो के लिए सुपात्रों को दे दूँगा। जब सब वस्तुओं को उठा-उठा कर लोग ले जाने लगे, तब छोटे बच्चे के मन मे भी श्रद्धा पैठी[१]।

पिता से पूछने लगा, 'तात, मुझे किस को दीजिएगा।' एक बेर पूछा, दो बेर पूछा, तीसरी बेर पूछा। थके पिता ने चिढ़ कर कहा, 'मृत्यु को।' कोमल चित्त का सुकुमार बच्चा, उस क्रूर वाक्य से विह्वल हो गया। बेहोश, निस्संज्ञ, हो कर गिर पड़ा। शरीर बच्चे का था, जीव पुराना था। संसार के चक्र मे, प्रवृत्ति के मार्ग पर, उस के भ्रमने की अवधि आ गई थी। यम लोक, अंतर्यामी लोक, यम-नियम लोक, स्वप्न लोक, को गया। यमराज अपने गृह पर नहीं थे। तीन दिन बालक उन के फाटक पर बैठा रहा[२]। यम लौटे, देखा, बड़े दुःखी हुए, करुणा उमड़ी। 'बच्चे !, उत्तम अधिकारी अतिथि हो कर तीन दिन-रात तू मेरे द्वारे बिना खाए पीए बैठा रह गया। मेरे ऊपर बड़ा ऋण चढ़ गया। तीन वर माग। जो मागेगा वही दूँगा।' 'मेरे यहां चले आने से पिता बहुत दुखी हो रहे हैं, उन का मन शांत हो जाय।' 'अच्छा, वह तुमको फिर से देखेगा।' 'स्वर्ग की बात बताइए, उस की बड़ी प्रशंसा सुन पड़ती है; वहां की व्यवस्था कहिए, वह कैसे मिलता है

१ ठेठ हिंदी मे, इन को भी 'साध' लगी; गर्भवती स्त्रियों के लिए 'साध' अर्थात् उन की श्रद्धित इष्ट वस्तु भेजना; जो 'सर्धा' होय तो दान दो; यह रूप 'श्रद्धा' के देख पड़ते हैं।

२ पुराण ग्रंथों से ऐसी सूचना मिलती है कि जैसे सूक्ष्म लोक से इस स्थूल लोक मे आने और जन्म लेने के पहिले एक संध्याऽवस्था, गर्भावस्था, होती है, वैसे ही प्रायः भूर्लोक से पुनः भुवर्लोक पितृलोक मे वापस जाने के पहिले, बीच मे, एक संध्याऽवस्था, बेहोशी की, नींद की सी, होती है। स्यात् तीन दिन तक यम से न मिलने और बात न होने का आशय यही है। शरीर की दृष्टि से, तीन दिन रात बच्चा बेहोश, निस्संज्ञ, बे-सुध-बुध, पड़ा रहा।

सो भी बताइए।' यम ने सब बतलाया। फिर तीसरा वर लड़के ने मांगा।

या इयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये,
अस्ति इत्येके न ऽयम् अस्तीति च ऽन्ये,
एतद् विद्याम् अनुशिष्टः त्वया ऽहं,
वराणामेष वरस्तृतीयः । (कठ)

मनुष्य मर जाता है, कोई कहते हैं कि शरीर नष्ट हो गया पर जीव है; कोई कहते हैं कि नहीं है; सो क्या सच है, इस का निर्णय बताइए।

इस लोक को छोड़ कर परलोक को, यमलोक, पितृलोक, स्वर्गलोक को, जाग्रत् लोक से स्वप्नलोक को, जीव जाता है। पर वहां भी उस को न्यूनऽधिक यहीं की सी सामग्री देख पड़ती है, और वहां भी मौत का भय बना ही रहता है। नचिकेता अपना स्थूल शरीर छोड़ कर यम लोक मे आया है, तौ भी उस को अपनी नित्यता, अमरता, का निश्चय भीतर नहीं है, क्योंकि सऽादि सऽन्त सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग देह से उस का जीव यहां भी बँधा है, और यम ने भी उस को स्वर्ग का हाल सब बताया है, सुखों के साथ दुःख भी, मृत्यु का भय भी, स्वर्ग से च्युत हो कर पुनः भूर्लोक मे जाने का निश्चय भी, सब बताया है। इस से बालक पूछता है, 'जीव अमर है—यह निश्चय कैसे होय ?'

यम ने बहुत प्रलोभन दिखाया, 'धन दौलत लो, सुंदर पत्नी लो, पुत्र पौत्र लो, ऐश्वर्य लो, बड़े से बड़ा राज लो, दीर्घ से दीर्घ आयु लो, दृढ़ और बहुत खा पी सकने और भोग विलास करने योग्य द्रढिष्ठ बलिष्ठ आशिष्ठ सुंदर श्रीमान् शक्तिमान् शरीर लो; यह प्रश्न मत पूछो। देवताओं को भी यहां शंका लगी ही है, इस प्रश्न का उत्तर बहुत सूक्ष्म है, समुझना बहुत कठिन है।'

देवैः अपि अत्र विचिकित्सितं पुरा;
नहि सुविज्ञेयं, अणुः एष धर्मः।

पर बालक अपने प्रश्न से नहीं डिगा।

अपि सर्वं जीवितं अल्पमेव, तवैव वाहाः, तव नृत्यगीते;
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, वरस्तु मे वरणीयः स एव ।
यस्मिन् इदं विचिकित्संति देवाः,
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नः तत्;
योऽयं वरो गूढं अनुप्रविष्टो,
न ऽन्यं तस्मात् नचिकेता वृणीते ।

यह सब वस्तु जिन से आप मुझ को लुभाते हो, वह सब तो आप ही की रहेगी; एक दिन सब खाना-पीना, नाचना-गाना, हाथी-घोड़े, प्रासाद-उद्यान, ऐश-आराम आप वापस लोगे । देवताओं को भी इस विषय मे शंका है, मृत्यु का भय है, इसी लिए तो मुझे इस शंका का निवारण और भी आवश्यक है । यह वर जो मेरे मन मे गहिरा धँस गया है, जो अत्यन्त गूढ़तम बात की खोज करता है, मुझे इस के सिवा दूसरा कोई पदार्थ नहीं चाहिए । दूसरा कुछ इस समय अच्छा ही नहीं लगता । मुझे प्रश्न का उत्तर ही चाहिए, अमरता ही चाहिए, मृत्यु का भय छूटा तो सब भय छूटा, अमरता मिली तो सब कुछ मिला ।

तब यम ने उपदेश दिया, वेदांत विद्या का भी और तत्संबंधी योग विधि, प्रयोग विधि, का भी, 'मेटाफ़िज़िकल सायंस' का भी और 'साइको-फिज़िकल आर्ट' का भी, निरोध का भी और व्युत्थान का भी, मोक्षशास्त्र, शांति-शास्त्र, 'सायंस आफ़ पीस' का भी, और शक्ति-शास्त्र, 'सायंस आफ़ पावर', 'ओकल्ट सायंस' का भी ।[1]

मृत्युप्रोक्तां, नचिकेतोऽथ लब्ध्वा,
विद्यां एतां, योगविधिं च कृत्स्नं,
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्, विमृत्युः ।
अन्योऽप्येवं, यो विद् अध्यात्ममेव । (कठ)

१ Metaphysical Science, Psycho-physical Art, Science of Peace, Science of Power, Occult Science.

यमराज से वेदांत विद्या, आत्म-विद्या, को, तथा समग्र योग-विधि को, पा कर, नचिकेता ने ब्रह्म का अनुभव किया, रजस् से, राग-द्वेष के मल से, चित्त उस का शुद्ध हुआ, मृत्यु के पार पहुँचा। जो कोई इसी रीति से दृढ़ निश्चय करेगा, यम का सेवन करेगा, कठिन यम-नियमो का पालन करेगा, यमराज मृत्यु का मुँह देख कर उस का सामना करेगा, डर कर भागेगा नहीं, मृत्यु से प्रश्नोत्तर करेगा, और उत्तर की खोज मे दुनिया के सब लोभ लालच छोड़ने को सन्नद्ध होगा, उस को भी नचिकेता के ऐसा, आत्मा का, परमात्मा का, जीव और ब्रह्म की एकता का, 'दर्शन', 'सम्यग्दर्शन', होगा, और अमरता का लाभ होगा[१]।

ज्यौं पनिहारिन, भरे कूप जल, कर छोरे बतरावै,
अपनौ मन सखियन संग रांचै, सुरति (स्मृति) गगर पर लावै,
या विधि जो कोइ मन को लगावै, हरि को पावै। (कबीर)

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

जैसा यम ने सांसारिक विभव से नचिकेता को संतुष्ट करना चाहा, ऐसे ही, जब याज्ञवल्क्य ऋषि का मन इस लोक के जीवन से थका, तब उन्हों ने अपनी भार्या मैत्रेयी से विदा चाहा, और मैत्रेयी को धन दौलत देने लगे। मैत्रेयी ने पूछा, 'क्या मै इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नहीं, केवल यही होगा कि जैसे धनी लोग जीवन का निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी कर सकोगी, और

१ इस संबंध मे आगे चल कर हर्ज़बर्ग नाम के यूरोपियन विद्वान् की पुस्तक, 'दी साइकालोजी आफ़ फ़िलोसोफ़र्स', The Psychology of Philosophers, (सं० १९२९), की चर्चा की जायगी, जिस मे उन्हों ने यूरोप के तीस नामी फ़लसफ़ी अर्थात् दार्शनिकों की नैसर्गिक प्रकृतियों और जीवनियों की परीक्षा समीक्षा की है, और इस की गवेषणा की है कि किन हेतुओं से वे 'फ़िलोसोफ़ी' की, दर्शन की, ओर झुके।

जैसे वे मरते हैं वैसे तुम भी मरोगी।' तब मैत्रेयी ने कहा, 'तो फिर वह ले कर क्या करूँगी जिस से मृत्यु का भय न छूटे। वही वस्तु दीजिए जिससे अमर हो जाऊँ।'

येनऽहं न अमृता स्यां किं अहं तेन कुर्याम्। (बृहदारण्यक)

तब याज्ञवल्क्य ने परा-विद्या का ज्ञान दिया।

बुद्ध-देव।

राजकुमार गौतम को, जो पीछे बुद्ध हुए, उन के पिता ने, ज्योतिषियों की भविष्य वाणी के भय से, ऐसी कोमलता से पाला कि उन को सूखा पत्ता भी कभी यौवन के आरंभ तक न देख पड़ा। दैवज्ञों ने कहा था कि यह बालक या तो सार्वभौम एकराट् चक्रवर्ती होगा, या परम विरक्त समस्त संसार का उद्धार करने वाला सन्यासी होगा। पिता ने राजकुमार के वास-स्थान, प्रासाद, उद्यान के भीतर, जगत् का स्वरूप शोभामय, सौंदर्यमय, सुखमय, प्रलोभनमय बनवाया। इस लिए कि संसार मे उन का मन लिपटा ही रहे, कभी इस से ऊबै उचटै नहीं। पर इस कोमलता ने ही भविष्य वाणी को सिद्ध करने मे सहायता दी। राजकुमार को, एक दिन, फुलवारी के बाहर का लोक देखने की इच्छा हुई। गए। पिता ने सब कुछ प्रबंध किया कि कोई दुः-स्वप्न के ऐसा दुःखद दृश्य उन की आँख के सामने न आवे। सड़क छिड़काया, नगर सजाया, सुंदर रथ पर राजकुमार को नगर मे फिराया। पर होनहार पूरी हुई। जगदात्मा सूत्रात्मा के रचे संसार नाटक के अभिनय मे उपकरण-भूत कर्मचारी देवताओं ने ऐसा प्रबंध किया कि भावी बुद्ध सिद्धार्थ ने जरा से जर्जर बूढ़े को देखा, पीड़ा से कराहते रोगी को देखा, मृत मनुष्य के विकृत शरीर को स्मशान की ओर ले जाए जाते देखा। चित्त मे महा चिंता की आग धधकी, महा करुणा का सोत फूटा और बह निकला, आत्मा की सात्त्विकी बुद्धि जागी। केवल अपने शरीर के दुःख का भय नहीं, सब प्राणियों के अनंत दुःखों का महा दुःख, घन हो कर, संपिंडित हो कर, उन के चित्त मे एकत्र हुआ, उन के शरीर मे

भीना, अंग-अंग मे व्यापा। विवेक, विचार, वैराग्य, सर्व-प्राणि मुमुक्षा, स्वयमेव मोक्तुं इच्छा नहीं, किंतु सर्वान् मोचयितुं इच्छा, दुःख से एक आप अकेले छूट जाने की नहीं, सभी दुःखियों को छुड़ाने की इच्छा, का परम सात्त्विक उन्माद हृदय मे छा गया। उस दया-बुद्धिमय पागलपन मे, उनतीस वर्ष की उमर मे, आधी रात को, सब सुख समृद्धि के सार-भूत अति प्रिय पत्नी यशोधरा और बालक राहुल को भी छोड़ कर, भवन के बाहर, नगर के बाहर, चले गए। नगर के फाटक से बाहर हो कर-घूम कर, बाँह उठा कर, शपथ किया,

जननमरणयोः अदृष्टपारः न पुनः अहं कपिलऽाह्वयं प्रवेष्टा।

जीना क्या है, मरना क्या है, इन के दुःखों से पत्नी पुत्र बंधु बांधव समस्त प्राणी कैसे बचें, इस के रहस्य का जब तक पता नहीं पाऊँगा, तब तक राजधानी कपिलवस्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूँगा।

छः वर्ष की घोर तपस्या से, बहुविध मुनिचर्याओं की परीक्षा कर के, अनंत विचारों की छान-बीन कर के, एकाग्रता से, समाधि से, उस रहस्य को, परम शांतिमय निर्वाण को, भेदबुद्धिमय अहंकारमय इच्छा तृष्णा वासना एषणा के निर्वाण को, पाया; निश्चय से जाना कि सुख

१—भक्ति के शब्दों मे, यह भाव, प्रह्लाद की नारायण के प्रति उक्ति मे, भागवत मे दिखाया है—

प्रायेण, देव !, मुनयः स्व-विमुक्ति-कामाः
स्वार्थं चरंति विजने, न परार्थनिष्ठाः;
न एतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षे एकः,
नऽन्यं त्वद् अस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।

हे देव !, प्रायः मुनिजन अपनी ही मुक्ति की इच्छा से, जनरहित एकांत मे स्वार्थ साधते हैं, परार्थ नहीं। सब संसार मे भ्रमते, कृपण, कृपा के, करुणा के, योग्य इन दीन जनो को छोड़ कर अकेले मुक्त होना मै नहीं चाहता; और आप को छोड़ इन का कोई दूसरा शरण नहीं देखता; इन सब की मुक्ति का उपाय बताइए।

दुःख, जीवन-मरण, सब अनंत द्वंद्वमय संसार, अपने भीतर, आत्मा के भीतर, है; आत्मा आप अपना मालिक है, अपने आप जो चाहता है सो अपने को सुख-दुःख देता है, कोई दूसरा इस को सुख-दुःख देने वाला, इस पर क़ाबू रखने वाला, इस का मालिक, नहीं है । तब पैंतालीस वर्ष तक, सब संसार को, इस ज्ञान के सार, वेद के अंत, परा विद्या, परम तत्व, "सर्व-गुह्यतमं" तथ्य, "गुह्याद् गुह्यतरं" रहस्य, का उपदेश करते हुए, गङ्गा के किनारे-किनारे फिरे । दुःख क्या है, दुःख का हेतु क्या है, दुःख की हानि क्या है, दुःखहानि का उपाय क्या है—यह चार "आर्य-सत्य" बताते रहे; जिसी चतुर्व्यूह को दुःख—आयतन—समुदय—मार्ग के नाम से भी कहते हैं । करुणा से व्याकुल, सब के आँसू पोंछते, यह पुकारते फिरे, 'सब लोक सुनो, दुःखी मत हो; दुःख तुम्हारे वश मे है; तुम अपनी भूल से, अपनी इच्छा से, अपने किये से, दुखी हो, किसी दूसरे के किये से नहीं; यह सब तुम्हारा ही बनाया खेल है; इस को पहिचानो, अपने को पहिचानो, सत्य को जानो, दुःख छोड़ो, स्वस्थ आत्मस्थ हो ।

महावीर-जिन

महावीर-जिन की जीवनी का पता जहाँ तक चलता है, बहुत कुछ बुद्ध के चरित से मिलती है । तीस वर्ष की अवस्था मे, उन्हों ने, स्त्री, पुत्र, युवराज का पद, राज्य-लक्ष्मी, छोड़ा । बारह वर्ष तपस्या करने पर कैवल्य-ज्ञान की, अद्वैत की, तौहीद की, ज्योति का उदय उन के हृदय मे हुआ । शुद्ध, शांति, शक्ति की परा काष्ठा को पहुँचे । तीस वर्ष उपदेश द्वारा संसारी जीवों के उद्धरण मे प्रवृत्त रहे । बुद्ध देव के ज्ञाति, सगोत्र, बन्धु और समकालीन थे । दोनो ही को आज से प्रायः ढाई हजार वर्ष हुए । जैन पद्धति का भी मूल, सब दुःखो से मोक्ष पाने की इच्छा है ।

इस सम्प्रदाय का एक बहुत प्रामाणिक ग्रंथ 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' है । इस को उमास्वामी ने, जिन को उमास्वाती भी कहते हैं, प्रायः

सत्रह सौ वर्ष हुए, लिखा। इस का पहिला सूत्र है, 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'। मोक्ष का, सब दुःखों से, सब बंधनों से, छुटकारा पाने का, उपाय, सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र है।

जैन मत का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आस्रवो बंधहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्;
इति इयं आर्हती मुष्टिः, अन्यद् अस्याः प्रपंचनम्।

बंध का हेतु आस्रव, तृष्णा; उस के संवर से, निरोध से, मोक्ष—इस मूठी मे सारा अर्हत् तंत्र, जैन दर्शन, रक्खा है। अन्य सब भारी ग्रंथ-विस्तार, इसी का प्रपंचन, फैलावा, है। वेदांत दर्शन के बंध—अविद्या—विद्या—मोक्ष, और बौद्ध दर्शन के दुःख—तृष्णा—त्याग—निर्वाण, योग दर्शन के व्युत्थान-निरोध आदि, नितरां सुतरां यही पदार्थ हैं। तथा आयुर्वेद दर्शन के रोग-रोगहेतु-रोगहानोपायः-रोगहानं। उक्त जैन श्लोक मे जो बात इच्छा-संबंधी शब्दों मे कही है उसी का दूसरा पक्ष, दूसरा पहलू, ज्ञान-संबंधी शब्दों मे उसी प्रकार के संग्राहक और प्रसिद्ध वेदांत के श्लोक में कहा है।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं शास्त्रकोटिभिः,
ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नऽपरः।
अविद्या बंधहेतुः स्याद्, विद्या स्यात् मोक्षकारणं;
मम इति बध्यते जन्तुः, न मम इति विमुच्यते।

ईसा मसीह

ईसा मसीह ने भी ऐसी ही बातें कही हैं—

कम् अंटू मी आल यी दैट आर वियरी ऐण्ड हेवी लेडन, ऐण्ड आइ विल गिव यू रेस्ट। इफ़ एनी मैन विल कम आफ्टर मी, लेट हिम डिनाइ हिम्सेल्फ़, ऐण्ड फ़ालो मी। फ़ार हू-सो-एवर विल सेव हिज़ लाइफ़ शैल लूज़ इट, ऐण्ड हू-सो-एवर विल् लूज़ हिज़ लाइफ़ फ़ार माई सेक शैल फ़ाइण्ड इट्। फ़ार

ह्वाट इज़ ए मैन प्रोफ़िटेड इफ़ ही शैल गेन दी होल वर्ल्ड, ऐण्ड लूज़ हिज़ सोल ? यी कैन नाट सर्व गाड ऐण्ड मैमन बोथ। बट सीक फ़र्स्ट दि किङ्डम आफ़ गाड ऐण्ड हिज़ रैचसनेस, ऐण्ड आल थिङ्ज़ विल बी ऐडेड अंटू यू। (बाइबल)[१]

जो दुनिया के बोझ से अत्यंत थके हैं, ऊब गये हैं, वे मेरे पास, आवैं। उन को मै अवश्य विश्राम दूँगा। जो दुनिया से थका नहीं है, वह ख़ुदा के पीछे पड़ता ही नहीं है, ख़ुदा को पावेगा कैसे? सब सुख चैन से, ऐश आराम से, मन हटा कर, सारे दिल से, मेरे पीछे, आत्मा के पीछे, लगे, तो निश्चयेन पावे। जो इन थोथी छोटी ज़िंदगी की अनित्य, नश्वर, वस्तुओं मे मन अटकाए हुए है, वह उस नित्य अजर अमर वस्तु को खो रहा है, भुला रहा है। जो इस को छोड़ने को तयार होगा, वह उस को निश्चयेन पावेगा। और उस वस्तु को पाने का यत्न करना चाहिये। आदमी सब कुछ पावे, पर 'अपने' ही को, अपनी रूह को, आत्मा ही को, खो दे, भुला दे, तो उस ने क्या पाया, उस को क्या लाभ हुआ? दुनिया की और ख़ुदा की, दोनो की, पूजा साथ-साथ नहीं हो सकती। ख़ुदा को, आत्मा को, और आत्मधर्म को, सत्य को, ऋत को, पहिचान लो, पा लो, फिर यह सब दुनियावी चीज़ें भी आप से आप मिल जायँगी। परम सत्य को, तत्त्व को, हक़ को, ढूँढ निकालो और गले लगाओ, अन्य सब पदार्थ स्वयं उस के पीछे आ जायँगे[२]।

---

१ Come unto Me all ye that are weary and heavy laden, and I will give you rest. If any man will come after Me, let him deny himself, and follow Me. For whosoever will save his life shall lose it, and whosoever will lose his life for My sake shall find it. For what is a man profited if he shall gain the whole world and lose his soul? Ye cannot serve God and Mammon both. But seek first the Kingdom of God and his Righteousness and all these things shall be added unto you: *(Bible)*

२ बंध और मोक्ष के भाव और शब्द कैसे स्वाभाविक और व्यापक

किंतु परमात्मा को पा लो तो संसार भी मिल जायगा [द० का

'आत्म-लाभ से सर्व-लाभ'। यही बातें उपनिषदों मे, गीता मे, कही हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज;
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः। (गीता)
आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति।
एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।
एतद् हि एव अक्षरं ब्रह्म, एतद् हि एव अक्षरं परं,
एतद् एव विदित्वा तु यो यद् इच्छति तस्य तत्। (कठ)
यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्,
तं तं लोकं जयते, तांश्च कामान्,
तस्माद् आत्मज्ञं हि अर्चयेद् भूतिकामः।

आत्मैवेदं सर्वमिति…एवं पश्यन् आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः, स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। (छांदोग्य)

अन्य धर्मों को, आत्मा से अन्य पदार्थों के धर्मों को, सब को छोड़ कर, मेरी शरण लो। 'मै', आत्मा, तुम को सब दुःखों से, सब पापों

हैं इस का उदाहरण देखिए, कि ईसा के धर्म के संबंध मे भी ये पाए जाते हैं। पाउल गर्हार्ट नाम के भक्त का भजन है,

आइ ले इन क्रूएल बांडेज, दाउ केमूस्ट एण्ड मेड मी फ्री।

I lay in cruel bondage, thou camst and made me free.

मै बंधन मे पड़ा था, तू ने आ कर मुझे मुक्त किया, स्वतंत्र किया। अँग्रेज़ी शब्द 'बांड' प्रायः संस्कृत के 'बंध' का ही रूपांतर है।

Emancipation of mind, fetter of soul, freedom of thought, deliveranee from sins, bondage of spirit, bonds of sin, spiritual bondage, spiritual freedom, salvation, political bondage, political freedom, ये सब शब्द उन्हीं मूल भावों के द्योतक हैं।

से, छुड़ावेगा। सब कुछ, माल-मता, इज़्ज़त-हुकूमत-दौलत-मनबहलाव, दोस्त-आश्ना, बाल-बच्चे, देव और इष्ट, जो कुछ भी प्यारे हैं, आत्मा ही के वास्ते, अपने ही वास्ते, प्यारे होते हैं। आत्मा ही खो जाय तो सब कुछ खो गया। उस एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है। उस को जान कर, अक्षर, अविनाशी, सब से बड़ी, सब से परे वस्तु को जान कर, पा कर, फिर जिस किसी वस्तु को चाहेगा, वह अवश्य मिलेगी। यह आत्मा ही प्रणव से, ओंकार से, सूचित ब्रह्म है; सब कुछ इस आत्मा के भीतर है; तो यह जान कर जो कुछ चाहेगा, वह आत्मा से ही पावेगा। जिस-जिस लोक मे जाना चाहेगा उस-उस लोक मे बिना रुकावट जा सकेगा; आत्मज्ञानी, आत्मानंदी, ही तो सच्चा स्वराट् है, स्व-राज्य वाला है, उस की गति किसी लोक मे नहीं रुकती[१]।

सूफ़ी

बिजिन्स यही बातें सूफियों ने कही हैं।

न गुम् शुद कि रूयश ज़ि दुनिया विताफ़्त,
कि गुम् गश्त ए .ख्वेश रा बाज़ याफ़्त।
हम् खुदा ख़्वाही व हम् दुनियाइ दूँ,
ईं ख़याल्स्तो मुहाल्स्तो जुनू।
हर कि ऊ रा याफ़्त दुनिया याफ़्तः,
ज़ाँ कि हर ज़र्रः ज़ि मिहश ताफ़्तः।

जिस ने दुनिया से मुँह फेरा वह गुम नहीं हुआ, बल्कि गुम्गश्ता, खोए हुए, भूले हुए, आपे को, अपने को, आत्मा को, उस ने वापस

१ 'He has the freedom of all the worlds, can enter into any worlds at will'. इंगिलिस्तान में 'freedom of a town' किसी को उस नगर की ओर से देना बड़े आदर का चिह्न समझा जाता है। अब तो यह एक निरी रस्म मात्र रह गई है। पर प्रायः पूर्वकाल मे इस का अर्थ यह होगा, कि उस आदृत सज्जन के लिए 'सब घरों के दर्वाजे खुले हैं।'

पाया। दुनिया को भी और ख़ुदा को भी चाहो, और दोनो को साथ ही पाओ, यह मुश्किल है, वह्म है, पागलपन का ख़याल है। अगर ख़ुदा को, परमात्मा को, अपनी अजर अमर आत्मा को पहिचानना और पाना है, अगर सब ख़ौफ़ और तकलीफ़, सब क्लेश और बंध, सब हिर्स और हवस की असीरी, से हमेशा के लिए नजात, मोक्ष, आज़ादी, स्वतंत्रता चाहते हो, सब 'सिन' से 'साल्वेशन'[1] पाने की ख़्वाहिश है, तो एक बार दुनिया से तमामतर मुह मोड़ना ही होगा; एक बार तो सारा दिल ख़ुदा की खोज मे लगा देना ही होगा। जब उस को पा लोगे, तब उस की बनाई हुई चीज़ों को आप से आप पाओगे। सारी दुनिया, एक-एक ज़र्रा, एक-एक अणु, परमाणु, परमात्मा की अद्भुत माया शक्ति से, सिह्र से, जिस की अस्लियत वही है जो तुम्हारे ख़याल की क़ूवत की है, बना है।

जो इल्मो हिकमत का वो है दाना,
तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद;
है अपने सीने मे उस से ज़ायद,
जो बात वायज़ किताब मे है।

जीवात्मा जब परमात्मा को पा ले, यह पहिचान ले कि दोनो एक ही हैं, तो परमात्मा मे जो अनंत सर्वज्ञता भरी है वह इस जीवात्मा मे नई-नई ईजादों की, आविष्कारों की, शकल से ज़ाहिर होने लगती है। उस की रचना शक्ति, माया शक्ति, संकल्प शक्ति, इस मे भी कल्पना शक्ति की सूरत मे नुमायाँ होती है। जीवात्मा और परमात्मा की, रूह और रूहुल्रूह की, ऐनि-मुअय्यन और ऐनि-मुरक्कब की, एकता को पहिचाने बिना भी जो कुछ ईजाद इन्सान करते हैं, जो कुछ नया इल्म ढूँढ़ निकालते हैं, वह जब उसी अथाह इल्म के ख़ज़ाने से, ब्रह्म से, महत्तत्त्व से, अक़्लि-कुल रूहि-कुल से, ही उन को मिल जाता है। पहिचान कर ढूँढ़ने से ज़्यादः आसानी से मिलता है। एक

---

१ Sin, Salvation.

की हालत अँधेरे में टटोल कर पाने की है, दूसरे की चिराग़ लेकर खोजने और पाने की है।

तौरेत, इञ्जील, क़ुरान

क़ुरान में भी ऐसी बातें मिलती हैं। मुहम्मद ने भी पच्चीस बरस की उमर से चालीस की उमर तक, यानी पंद्रह बरस, तपस्या की, पहाड़ों में जा कर, सुबह से शाम तक, शाम से सुबह तक, ध्यान में, मुराक़िबा में, ग़र्क़ हो कर, ख़ुदा को, अल्ला को, आत्मा को ढूँढ़ा और पाया। तब दुनिया को सिखाया।

इन्नल् ख़ासिरीन् अल्लज़् ज़ीना ख़सेरु अन्फ़ुसहुम्। (क़ुरान)

बड़ा नुकसान उन्हों ने उठाया जिन्हों ने अपनी नफ़्स को, अपने आपा को, आत्मा को खोया।

नसुल्लाहा फ़अन्साहुम् अन्फ़ुसहुम् (क़ुरान)

जो अल्लाह को, परमेश्वर को, भूले, वे अपनी नफ़्स को, अपने को भूले।

एज़ा अहब्ब अल्लाहो अब्दन् अग़्तम्मह्र बिल बलाए। (हदीस)

अल्ला, परमात्मा, अंतरात्मा, जब किसी अब्द से, बन्दे से, मुहब्बत करता है, तब बलाओं से उस का गला पकड़ता है, उस के ऊपर मुसीबतें डालता है, ताकि वह दुनियावी हिर्सों से मुड़े, और 'मेरी', अल्ला की, परमात्मा की तरफ़ आवे।

इञ्जील का यही मज़मून है,

हूम दि लार्ड लवेथ ही चेस्टनेथ[१]। (बाइबल)

जिसका ठीक शब्दान्तर भागवत का श्लोक है,

यस्य अनुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हरामि अहम्।

जिस का भला चाहता हूँ उस का सरबस हर लेता हूँ। छीन लेता हूँ। क्यों कि दुःखी हो कर, बाहर की ओर से भीतर की ओर लौटता है, दुनिया की तरफ़ से ख़ुदा की, आत्मा की, तरफ़ फिरता है, और

१ Whom the Lord loveth He chasteneth.

तब उस को ज़रूर ही पाता है। यहाँ तक कि कुन्ती ने, कृष्ण के रूप मे अंतरात्मा से, यह प्रार्थना की है कि,

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र, जगद्गुरो !,
भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्। (भागवत)

हम लोगों पर सदा आपत्, आफ़त्, विपत् पड़ती रहे सो ही अच्छा, जो आप का दर्शन तो हो, जिस से फिर संसार के बन्धनो का दर्शन न हो।

यही मज़मून मुहम्मद ने भी कहा है,

लौ यालमुल्-मोमिन् नियालहू मिनल-अज्रे फ़िल मसायब लतमन्ना अन्नहू क़ुरेज़ा बिल मक़ारीज्। (क़ुरान)

अगर ईमानदार मोमिन (श्रद्धालु) यह इल्म (ज्ञान) रखता कि मुसीबतों मे उस के लिए कितनी उज्रत, कितना फ़ायदा, कितना लाभ रक्खा है, तो तमन्ना (प्रार्थना) करता कि मै क़ैंचियों से टुकड़े-टुकड़े कतरा जाऊँ।

साधारण संसार के व्यवहार मे भी, आपत्ति विपत्ति ऊपर पड़ने पर ही, दुर्बल प्राणी सबल शक्तिशाली प्रभाववान् के पास जाता है, और उस से सहायता की प्रार्थना करता है।

क्षुधा-तृषा-ऽर्ताः जननीं स्मरंति।

बच्चे खेल कूद मे मस्त बेफ़िक्र रहते हैं, जब भूख प्यास लगती है तब मा की याद करते हैं। आध्यात्मिक व्यवहार मे भी, ऐसे ही, परम आपत्ति आने पर ही, संसार से मुड़ कर, संसार के मालिक की, परमात्मा अंतरात्मा की, खोज जीव करता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि पूर्व देश मे जिस पदार्थ को दर्शन, और जिस के संबंधी शास्त्र को दर्शन शास्त्र, कहते हैं, उस का आरंभ दुःख से, और उस दुःख से आत्यंतिक ऐकांतिक छुटकारा पाने की इच्छा से, अथवा आत्यंतिक ऐकांतिक असंभिन्न अपरिच्छिन्न अनवच्छिन्न अपरिमित,

फ़ैनल, कम्प्लीट, पर्फ़ेक्ट, ऐब्सोल्यूट, अन-ऐलोयड, अन-लिमिटेड'[1] सुख पाने की इच्छा से, जो भी वही बात है, हुआ। आत्यंतिक ऐकांतिक सुख की लिप्सा, और दुःख की जिहासा, यही दर्शन की ओर प्रवृत्ति का मूल कारण है। विशेष-विशेष सुख की लिप्सा और विशेष-विशेष दुःख की जिहासा से, विशेष-विशेष शास्त्र और शिल्प उत्पन्न होते हैं। सुख-सामान्य की प्राप्ति और दुःख-सामान्य के निवारण के उपाय की खोज से, शास्त्र-सामान्य, सब शास्त्रों का संग्राहक, अर्थात् दर्शन-शास्त्र (जो सब शास्त्रों के सार का, हृदय का, तत्त्वों का, तथा संसार के मूल परमात्मा का, दर्शन करा देता है, क्योंकि उस मे योग का शास्त्र भी अंतर्गत है) उत्पन्न होता है।

दर्शन शब्द

इस शास्त्र का नाम दर्शनशास्त्र कई हेतुओं से पड़ा। सृष्टि-क्रम के इस विशेष देश-काल-अवस्था अर्थात् युग मे, ज्ञानेंद्रियों मे दो, आँख और कान, तथा कर्मेंद्रियों मे हाथ, अधिक काम करने वाली इंद्रियां हैं। प्रायः इन के व्यापारों के द्योतक शब्दों से, बौद्ध प्रत्यय, 'मेन्टल आइडियाज़्', 'कान्सेप्टस्'[2], आदि पदार्थों का भी नामकरण, सभी मानव भाषाओं मे, हो रहा है। नेदिष्ठ निस्संदेह ज्ञान, विस्पष्ट प्रत्यक्ष अपरोक्ष अनुभव, को 'दर्शन' कहते हैं। 'देखा आपने ?', 'डू यू सी ?',[3] का अर्थ यही है कि 'आप ने ख़ूब साफ़ तौर से समझ लिया न ?'[4]

---

१ Final (आत्यंतिक, जो फिर न बदले), complete, perfect, absolute (ऐकांतिक, अखंडित, निश्चित) unalloyed, unmixed (असंभिन्न) unlimited (अपरिछिन्न, अनवच्छिन्न, अपरिमित)।

२ Mental ideas, concepts.

३ Do you see ?

४ दर्शन का अर्थ मत, राय, view, opinion, भी है। यथा "प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेदः"; स्थान बदला, दृष्टि बदली; अवस्था बदली, बुद्धि बदली; जगह दूसरी, निगाह दूसरी; हालत बदली, राय बदली;

संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख-दुःख के हृदय का, अपने स्वरूप का, पुरुष और पुरुष की प्रकृति का, जिस ज्ञान से दर्शन हो जाय वह दर्शन। दर्शन का अर्थ आँख भी। जिस से नयी आँख हो जाय, और 'नयी आँख को दुनिया नयी' के न्याय से सारी दुनिया का रूप नया हो जाय, नया देख पड़ने लगे, वह दर्शन। "मेधाऽसि देवि विदित-ऽखिल-शास्त्र-सारा", सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को, पहिचानने की शक्ति हो जाय, सब मे एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध विचित्र अनंत कला, देख पड़ने लगे, समदर्शिता हो जाय, सब असंख्य मतों, धर्मों, रुचियों का विरोध-परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय हो जाय, सब बातों के भीतर एक ही बात देख पड़े, वह सच्चा दर्शन।

जिस से सब अनंत दृश्य एक ही द्रष्टा के भीतर ही देख पड़े, जिस से सब देश सब काल सब अवस्था मे अपना ही, आत्मा का ही, 'स्व' का ही, 'मै' का ही, प्राधान्य, राज्य, वश देख पड़े, जिस से दुःख के मूल का उच्छेद हो जाय, सुख का रूप बदल कर अक्षोभ्य शांति मे परिणत हो जाय, वह सच्चा दर्शन।[१]

न्याय

प्रसिद्ध छः दर्शनो के सूत्रों मे प्रायः यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है, कि उन का प्रेरक हेतु, प्रयोजन, (मक़्सद), यही दुःख-जिहासा, अथवा, रूपांतर मे, बंध से मुमुक्षा, है।

गौतम के बनाए न्याय सूत्र के पहिले दो सूत्र ये हैं—

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टांत-सिद्धांत-अवयव-तर्क-

दि व्यु चेंजेज़ विथ दि स्टैंडपोइन्ट, ओपिनियन्स चेंज विथ दि एँगल आफ़ विझ़न आर दि सिट्युएशन, the view changes with the stand-point, opinions change with angle of vision or situation.

१ लॉ ऑफ़ ऐनालोजी, law of analogy.

निर्णय-वाद-जल्प-वितंडा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः। दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्या-ज्ञानानां उत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरऽपायाद् अपवर्गः।

सच्चे ज्ञान के उत्पन्न करने, ले आने, संग्रह करने, के उपकरण, तथा ज्ञान की सत्यता की परीक्षा और निश्चय करने के उपाय, को प्रमाण कहते हैं। यानी सुबूत, ज़रियइ-सुबूत, 'प्रूफ़'[1] इत्यादि। जो पदार्थ प्रमाणों के द्वारा सिद्ध निश्चित किए जाते हैं, उन को प्रमेय कहते हैं। इन दो से संबंध रखने वाले, इन के आनुषंगिक, शेष चौदह पदार्थ हैं। प्रमाण और प्रमेय आदि (जिन प्रमेयों मे आत्मा मुख्य प्रमेय है) सोलह पदार्थों का तात्विक सच्चा ज्ञान होने से, दुःख और उस के कारणो की परंपरा का, उत्तरोत्तर, एक के बाद एक का, अपाय, अप-गमन, निराकरण, क्षय हो कर, अर्थात् तत्त्वज्ञान मिलने से मिथ्याज्ञान का क्षय, उस से राग-द्वेषादि दोषों का क्षय, उस से कर्मों मे प्रवृत्ति का क्षय, उस से सर्व दुःख का क्षय हो कर, अपवर्ग, (जो मोक्ष और निःश्रेयस का नामांतर है) मिलता है। एक ही पदार्थ को, दुःखों के समूल अपवृश्चन से 'अपवर्ग' कहते हैं; नितरां श्रेयस, जिस से बढ़ कर श्रेयान् पदार्थ नहीं है, ऐसा होने से निःश्रेयस कहते हैं; मृत्यु के भय रूपी, और अमरता मे संशय रूपी, मूल बंधनों से, तथा दुःखोत्पादक कर्मों और वासनाओं के मूल बंधनों से, छूट जाने से उसी को मोक्ष कहते हैं; चित्त की सब चंचलताओं के शांत हो जाने से, तृष्णा की जलती आग के बुझ जाने से, उसी को निर्वाण कहते हैं। दूसरी भाषाओं मे, उन-उन भाषाओं के बोलने वाले विद्वान्, सूफ़ी, मिस्टिक, ग्नास्टिक, फ़िलासोफ़र[2] सज्जनो ने उसी "अहमेव सर्वः", 'मुझ मे सब, सब मे मै', के परमानंद ब्रह्मानंद को नजात, लज़्ज़तुल्-इलाहिया, फ़नाफ़िल्ला, यूनियन विथ गाड, फ़्रीडम आफ़ दी स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विज्ञन

१ Proof.

२ Mystic. gnostic, philosopher.

आफ़ गाड, डेलिबरंस फ्राम सिन, साल्वेशन, बीएटिट्यूड, बैप्टिज़्म विथ दी होली गोस्ट, बिकमिङ् क्रैस्टास, बिकमिंग ए सन आफ़ गाड[3] इत्यादि शब्दों से कहा है।

वैशेषिक

कणाद के रचे वैशेषिक सूत्रों के पहिले, दूसरे, और चौथे सूत्र ये हैं–

अथ अतः धर्मजिज्ञासा। यतः अभ्युदय-निःश्रेयस–सिद्धिः सः धर्मः। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य–विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसम्।

धर्म वह पदार्थ है जिस से सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस, भोग और मोक्ष, दुनिया और आक़बत, खिलक़त और खालिक़, सृष्टि और स्रष्टा दोनो मिलते हैं। इस धर्म मे से एक विशेष भाग के आचरण से, द्रव्य आदि पदार्थों के (जिन मे मुख्य द्रव्य आत्मा है) लक्षणात्मक धर्मों का, और उन के साधर्म्य-वैधर्म्य, सादृश्य-वैदृश्य का, तात्त्विक ज्ञान होता है, और तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। इस लिये साधनभूत मानव-धर्म की आपाततः, और उस के साध्यभूत पदार्थों के धर्मों के तत्त्वज्ञान की मुख्यतः, जिज्ञासा की जाती है। चित्त की शुद्धि के साधक वर्णाश्रम धर्म की चर्चा, वैशेषिक सूत्रों के भाष्य मे, जिस को प्रशस्तपाद ने रचा है, की है।

सांख्य

कपिल के नाम से प्रसिद्ध जो सांख्य सूत्र मिलते हैं उन का पहिला सूत्र यह है—

अथ त्रिविधदुःखऽत्यंतनिवृत्तिः अत्यंतपुरुषार्थः।

---

३ Union with God; freedom of the Spirit; divine bliss; vision of God; deliverance from sin; salvation; beatitude; baptism with the Holy Ghost; becoming Christos; becoming a son of God.

ईश्वरकृष्ण की रची सांख्य-कारिका का पहिला श्लोक भी यही अर्थ कहता है—

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ;
दृष्टे साऽपार्था चेत्, न, एकांतऽत्यंततोऽभावात्।

अनेक प्रकार के दुःख मनुष्यों को सताते हैं। उन की यदि राशियाँ की जायँ, तो तीन मुख्य राशियाँ होंगी, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। वाचस्पति मिश्र ने, सांख्य-तत्व-कौमुदी नाम की सांख्य-कारिका की टीका में, इन तीनो का अर्थ एक उत्तम रीति से किया है। यथा, आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के, शारीर और मानस। पाँच प्रकार के वात अर्थात् प्राण वायु, पाँच प्रकार के पित्त, पाँच प्रकार के श्लेष्मा[१]—इन के वैषम्य से, उचित मात्रा मे न हो कर कमी वेशी से, जो रोग पैदा हों वे शारीर। काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि से जो दुःख पैदा हों वे मानस। यह सब आंतरिक उपाय से साध्य हैं, चिकित्सनीय हैं, इस लिये आध्यात्मिक, क्योंकि आत्मा देह्य (देह-रूपी) भी, जैव (जीव-रूपी) भी। वाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार के, आधिभौतिक और आधिदैविक। दूसरे जंगम प्राणियों से, तथा प्राकृतिक स्थावर पदार्थों से, जो दुःख अपने को मिले, वह सब आधिभौतिक; और यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के आवेश[२] से जो हों, वह आधिदैविक।

---

१ Diseases due to derangements of the nervous system and 'the five kinds of nervous forces'; of the assimilative system and 'the five kinds of digestive and bodily-heat-producing secretions'; and of the tissue-building apparatus and 'the five kinds of mucous substances'.

कविराज श्री कुंजलाल भिषग्रत्न ने सुश्रुत का जो अंग्रेजी अनुवाद किया है, उस मे बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से इन तीनो का अर्थ वैज्ञानिक और युक्तियुक्त करने का यत्न किया है।

२ Obsession by evil spirits.

यह वाचस्पति मिश्र का प्रकार है। यदि इस से संतोष न हो तो दूसरे प्रकारों से भी अर्थ किया जा सकता है, और उक्त प्रकार के साथ उन का कथंचित् समन्वय भी हो सकता है। कृष्ण ने गीता के आठवें अध्याय मे भी इन शब्दों का अर्थ बताया है। उस के अनुसार, नये शब्दों मे, यों कह सकते हैं कि तीन पदार्थ अनुभव से सिद्ध हैं, एक 'मै' जानने वाला, दूसरा 'यह' जो कुछ जाना जाता है, तीसरा इन दोनो का 'संबंध'। विषयी, विषय, और उन का संबंध। चेतन, जड़, और उन का संबंध। स्पिरिट, मैटर, फ़ोर्स। सब्जेक्ट, आब्जेक्ट, रिलेशन। गाड, नेचर, मैन[३]। जीवात्मा (अर्थात् तत्स्थानी चित्त, मन, अन्तःकरण), देह, और दोनो को बाँध रखने वाला प्राण। भिन्न-भिन्न प्रस्थानो से देखने से ऐसे भिन्न-भिन्न त्रिक देख पड़ते हैं। इन मे सूक्ष्म भेद भी है तो स्थूल रूप से समानता भी है। मूल त्रिक पहिले कहा, विषयी-मै-चेतन, विषय-यह-जड़, और दोनो का संबंध। इसी मूल त्रिक की छाया अन्य सब पर पड़ती है। अब मानव सुख दुःख के प्रसङ्ग मे, मुख्य दो ही प्रकार देख पड़ते हैं। एक जो अधिकांश भीतरी हैं; अपने आत्मा जीवात्मा मन के हैं, अपनी प्रकृति के किए हैं, अन्तःकरण से विशेष संबंध रखते हैं; काम, क्रोध, भय, लोभ, चिंता, ईर्ष्या, पश्चात्ताप, शोक आदि के दुःख, और उन के विकार; इन को आध्यात्मिक कह सकते हैं।

दूसरे जो बाहर से आते हैं, अधिकांश बाहरी हैं, जिनको दूसरे प्राणी, अथवा जड़ पदार्थ, पत्थर, लकड़ी, काँटा, विष, जल, आग, बिजली आदि पाञ्चभौतिक पदार्थ, हमारे पाञ्चभौतिक शरीर को पहुँचाते हैं; इन को आधिभौतिक कह सकते हैं।

तीसरे, हमारे जीव और हमारी देह को एक दूसरे से बाँधने वाले जो प्राण हैं, उन के विकार से जो उत्पन्न होते हैं; उन को आधिदैविक कह सकते हैं। दीव्यति, क्रीड़ति, वि[illegible]षति, व्यवहरति, द्योतते,

---

३ Spirit, matter, force ; subject, object, relation (between the two) ; God, Nature, Man.

मोदते, माद्यति, स्वपिति, कामयते, गच्छति—दिव् धातु के ये सब बहुत से अर्थ हैं। क्रीड़ा, खेल, का भाव सब मे अनुस्यूत है, सब का संग्राहक है। आत्मा और अनात्मा का, पुरुष और प्रकृति का, परस्पर खेल, जीवत् प्राणवान् शरीर के द्वारा—यही संसार का रूप है। प्राण ही मुख्य देव है[१]। तो प्राणो के विकार से जो रोग और दुःख हों, वे आधिदैविक। सूक्ष्म दृष्टि से इस प्रकार का इन का विवेक किया जाय, तो सम्भव है; अन्यथा, प्रायः ये भी अथवा आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक के अन्तर्गत होते हैं। अथवा तीन का विवेक यों किया जाय कि मानस दुःख, सब प्रकार के, आध्यात्मिक; शरीर को जो दूसरे जीव जन्तुओं वा जड़ पदार्थों से पहुँचे, वह आधिभौतिक; और प्राण के विकार से जो रोग उत्पन्न हों, ज्वर, काश-श्वास, उदर-शूल, शिरो-व्यथा आदि, वे सब आधिदैविक।

अब पश्चिम के वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे मानने लगे हैं, कि मनुष्य, पशु, वृक्ष, और धातु[२] की सृष्टियों के सिवा अन्य 'योनियों' का भी सम्भव है, जो हम को चर्म-चक्षु से नहीं देख पड़तीं। स्थूल शरीर के स्थूल नेत्रों से जितना हम को देख पड़ता है, उस के सिवा जगत् मे और कुछ है नहीं, ऐसा कहना थोथा अहंकार है[३]।

देव, उपदेव, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, भूत, प्रेत, पिशाच

---

१ प्राणो के, इंद्रियों के, महाभूतों के, 'अभिमानी देव' भी उपनिषदों मे कहे हैं। एक अर्थ मे यह भी कहना ठीक हो सकता है, कि मानव जीव सभी प्राणो इन्द्रियों महाभूतों का अभिमानी देव है, क्योंकि इस के पिंड मे समस्त ब्रह्मांड के पदार्थ, बिंब-प्रतिबिंब न्याय से, उपस्थित हैं।

२ Human, animal, vegetable, mineral kingdoms.

३ "What I know not is not knowledge."

४ Nature spirits, angels, sylphs, fairies, undines, gnomes, brownies, ghosts, devils, demons, fiends. vampires, succubi, incubi, etc.

आदि जीव भी नितरां असंभाव्य नहीं हैं। 'साइकिकल रिसर्च'[१] मे जो वैज्ञानिक प्रवृत्त हैं, वे इन के विषय मे ज्ञान का संग्रह, उचित परीक्षा के साथ, कर रहे हैं; न अंध विश्वास करते हैं, न अंध अविश्वास ही। तो यदि ऐसे जीव हों, और उन से हमारे प्राणो को, और उन के द्वारा हमारे चित्त को, उन्माद, अपस्मार, आदि रूप से, बाधा पहुँचे, तो उस दुःख को भी आधिदैविक कह सकेंगे। साइको-ऐनालिसिस, साइकिऐट्री, साइकोथिरापी, साइकिकल रिसर्च[२] आदि के विविध वैज्ञानिक मार्गों से, पश्चिम मे जो अन्वेषण हो रहा है, उस से, आगे चल के, इन सब विषयों का जो भारतीय शास्त्र, योग और तंत्र-मंत्र का, नष्ट-भ्रष्ट हो गया है, उस का वैज्ञानिक रूप मे जीर्णोद्धार होगा—इस की संभावना है। अस्तु। इस स्थान पर आधिदैविक शब्द के अर्थ के निर्णय के संबंध मे यह चर्चा हुई है। निष्कर्ष यह कि दुःखों का यह राशीकरण[३] एक सूचना मात्र है। भिन्न दृष्टियों से भिन्न प्रकारों की राशियां बनाई जा सकती हैं। विशेष-विशेष दुःखों के प्रकार अनंत असंख्य अपरिगणनीय हैं। दुःख का सामान्य रूप एक ही है, वह अनुभव से ही सिद्ध है, अर्थात् 'मै' का 'ह्रास'; जैसे 'मै' की वृद्धि', बहुता, बाहुल्य, सुख है; 'भूमा एव सुखम्''। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव—यह सदा अभेद्य रूप से परस्पर बद्ध हैं। जिस की कहीं प्रधानता हो जाती है, वहां उसी का नाम दिया जाता है। आयुर्वेद मे रोगों की प्रायः दो राशि की हैं, एक आधि अर्थात् मानस, और

---

१ Psychical research,

२ Psycho-analysis, psychiatry, psycho-therapy, psychical research. "The neurotic patient is set *free* from his neurosis"—this is an idea and expression of frequent occurrence in *psycho*-analytic literature, and it is noteworthy.

३ Classification.

दूसरी व्याधि अर्थात् शारीर। और यह भी कहा है कि आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि, उत्पन्न होती है[१]।

इन सब वर्गों के, अर्थात् मानस, शारीर, और मध्यवर्ती अवांतर जो कोई हों, सब दुःखों का, एकांत, निश्चित, और अत्यंत, सदा के लिए, जड़ मूल से, जो फिर न उपजें, ऐसा नाश, दृष्ट उपायों से, औषध आदि से, नहीं होता देख पड़ता है। इस लिए ऐसे उपाय की जिज्ञासा होती है जिस से इन का समूल, सार्वदिक, असंशयित विनाश हो जाय। वह कैसे हो?

सांख्य का उत्तर है,

ज्ञानेन चाऽपवर्गो ... व्यक्ताऽव्यक्त-ज्ञ-विज्ञानात्।
बुद्धिर्विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषांतरं सूक्ष्मम्।
(सांख्यकारिका)

'सच्चे ज्ञान से ही अपवर्ग होता है। 'ज्ञ', ज्ञाता, द्रष्टा, आत्मा, पुरुष, स्पिरिट,[२] रूह, एक ओर; ज्ञेय, प्रकृति, प्रधान, दृश्य, व्यक्त, मात्रा, मैटर[३], माद्दा, जिस्म, दूसरी ओर; इन का भेद-रूप संबंध,

१ Compare: "Psychogenic disorders, that is, disorders originating in the mind, are variously distinguished as 'psycho-neuroses', 'functional nervous disorders', or, more popularly, 'nervous diseases'. They include neurasthenia, hysteria, anxiety neuroses, phobias, and obsessions, all of which conditions are ultimately due to disturbances of emotional life. In the psycho-neuroses, the disorder is not primarily a disorder of structure, but of function. 'Organic' diseases, as distinct from 'functional', are preponderatingly physical in origin, their cause being some defect of bodily structure. It is a fact that emotional disturbances can produce physiological changes." J. N. Hadfield, *Psychology and Morals*, p. 1, (pub. 1927)

२ Spirit.

३ Matter, "मात्रास्पर्शास्तु, कौंतेय", (Gītā); मांति, परिमा-

कारण-रूप अव्यक्त शक्ति, तीसरी ओर; इन तीनो का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञेय मे उस के दोनो रूप, कार्य-रूप व्यक्त, और कारण-रूप अव्यक्त, अंतर्गत हैं। और 'ज्ञ' मे 'ज्ञेय' अंतर्गत है। अपवर्ग के इस ज्ञान-रूपी उपाय को, ख्याति को, विवेकख्याति को, प्रकृति और पुरुष के परस्पर अन्यता भिन्नता की ख्याति को, पुरुष के तात्त्विक स्वरूप की ख्याति को कि वह प्रकृति से अन्य है, भिन्न है, इसी विवेकऽात्मक ख्याति को दर्शन कहते हैं—यह सांख्य का कहना है। "एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनं"—ऐसा पंचशिख आचार्य का सूत्र है। सम्यक् ख्यानं संख्यानं, तद् एव सांख्यं। ख्याति का अर्थ है ज्ञान, व्याख्यान, गणन।

योग

पतंजलि के योग-सूत्रों मे भी ये ही बातें हैं।

परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैः गुण-वृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेयं दुःखं अनागतम्। द्रष्टृ-दृश्ययोः संयोगो हेय-हेतुः। तस्य हेतुः अविद्या। विवेकख्यातिः अविप्लवा हानोपायः। (अ० २, सू० १५,१६, १७, २४, २६)।

ततः क्लेश-कर्म-निवृत्तिः। पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (अ० ४, सू० ३०, ३४)।

जिस को हम लोग सुख समझते हैं वह भी, विवेक से, बारीक तमीज़ से, देखने से, कोमल चित्त वाले, नाज़ुक तबीयत वाले, जीव के लिए दुःख ही है। परिणाम मे, आख़िरत मे, वह भी दुःख ही देता है, इस लिये आदि से ही सब संसार दुःखमय, दुःखव्याप्त, जान पड़ता है। जिस को यह मालूम है कि मुझे कल ज़हर का प्याला पीना पड़ेगा

पर्यंति, अवच्छेदयंति, आत्मानं, इति मात्राः, महाभूतानि, इन्द्रियविषयाणि, इन्द्रियाणि च। मां, अहमं, जीवं, त्रायंते, व्यंजयन्ति, इति च। मीयन्ते, प्रमीयन्ते, निश्चीयन्ते, ज्ञायन्ते, अत एव त्रायन्ते च, व्यक्तीक्रियन्ते, विद्यन्ते, अतः त्रिद्यन्ते, इति च।

ही उस को आज स्वादु से स्वादु खाद्य चोष्य लेह्य पेय व्यंजन भी प्रिय नहीं लग सकता। और भी; विविध प्रकार की वृत्तियाँ, वासनाएँ, चित्त के भीतर परस्पर कलह सदा किया करती हैं; एक को पूरी करने का सुख होता है, तो साथ ही दूसरी तीसरी के भंग का दुःख होने लगता है; इस से भी सब जीवन, सुकुमार चित्त वाले विवेकी विद्वान् को, दुःखमय जान पड़ता है। इस लिये जो दुःख बीत गया उस की तो अब कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, जो आने वाला है उस को दूर रखना चाहिये। कैसे दूर हो? तो पहिले रोग का कारण जानो तब चिकित्सा करो। सब दुःखों का मूल कारण, द्रष्टा और दृश्य, पुरुष और प्रकृति, का संयोग है। और उस संयोग का भी हेतु मिथ्याज्ञान, ग़लत-फ़हमी, धोखा, ला-इल्मी, बेवक़ूफ़ी, अविद्या है। उस को दूर करने का एकमात्र उपाय, तत्त्वज्ञान, सच्चा ज्ञान, ख्यान, विद्या, ख्याति, वक़्फ़, इर्फ़ान, मारिफ़त, यानी यह कि पुरुष और प्रकृति के, चेतन और जड़ के, विषयी और विषय के, 'मैं' 'और 'मेरे के, ख़ालिक़ और ख़िलक़त के, विवेक, फ़र्क़, भेद को, ख़ूब अच्छी तरह पहिचानो। इस विवेक-ख्याति से सब कर्म और क्लेशों की निवृत्ति होगी। और वासना, तृष्णा, के क्षीण होने पर, सत्त्व-रजस्-तमस्, अर्थात् ज्ञान-क्रिया-इच्छा, तीनों गुण, स्पंद-रहित हो कर शांत हो जायँगे, बीजावस्था को चले जायँगे, और चित्, चेतन, आत्मा, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायगा, केवल अपने ही को देखेगा, "एकमेवा-द्वितीयं" रूपी कैवल्य को प्राप्त हो जायगा, अपने सिवा किसी दूसरे को कहीं भी कभी भी नहीं देखेगा। 'ग़ैरियत' को छोड़ कर 'अनानियत' में क़ायम हो जायगा। जब रूह को, आत्मा को अपना सच्चा स्वरूप मालूम हो जाता है, तब चंचल इच्छाओं की अधीनता से, दीनता से, हिर्सो-हवस की असीरी से, वह मुक्त हो जाता है। सब काल, सब देश में, केवल 'मैं ही मैं हूँ', 'सब वासना केवल मेरे ही अधीन हैं, मैं उन के अधीन नहीं हूँ', ऐसा कैवल्य, वहदियत, परतंत्रता से मोक्ष, सब दुःखों के जड़ मूल से नजात, छुटकारा, उस को प्राप्त होता है।

(पूर्व) मीमांसा

जैमिनी के मीमांसा सूत्रों का भी पहिला सूत्र वही है जो वैशेषिक का। (मीमांसन का अर्थ है गभीर विचारण अन्वेषण)।

अथातो धर्म-जिज्ञासा ।

इस के भाष्य मे शबर मुनि ने कहा है,

तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः । स हि निःश्रेयसेनः पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे ।

को धर्मः, कथं-लक्षणः, कानि अस्य साधनानि, कानि साधनऽाभासानि, किंपरश्चेति । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यं । सोऽयं अविचार्य प्रवर्त्तमानः कंचिदेव उपाददानः विहन्येत, अनर्थं वा ऋच्छेत् ।

धर्म के सच्चे स्वरूप को जानना चाहिये, धर्म क्या है, कर्त्तव्य क्या है, इस का लक्षण क्या है, इस के साधन क्या हैं, धोखा देने वाले धर्मऽाभास और साधनऽाभास क्या हैं, इस का अंतिम तात्पर्य, इस का प्रयोजन, क्या है। धर्म के विषय मे बड़े जानकार मनुष्यों मे भी मतभेद, विवाद, और भ्रांति देख पड़ती है; कोई एक बात कहते हैं, कोई दूसरी बात कहते हैं। तो बिना गहिरा विचार किये, किसी एक को धर्म मान ले, और तदनुसार आचरण करने लगे, तो बहुत संभव है कि मारा जाय, अथवा बड़ी हानि उठावे। इस लिये धर्म के सच्चे स्वरूप को खोजना और जानना चाहिये। धर्म के सच्चे ज्ञान और आचरण से पुरुष को निःश्रेयस प्राप्त होता है। यह मीमांसा शास्त्र की प्रतिज्ञा है।

यद्यपि मीमांसा शास्त्र का साक्षात् संबंध कर्मकांड से, यज्ञादि आपूर्त्तादि धर्म से, कहा जाता है, ब्रह्म-ज्ञान से और ब्रह्म से नहीं, तो भी उस का अन्तिम लक्ष्य वही है जो दूसरे दर्शनो का। प्रसिद्ध यह है कि नित्य, नैमित्तिक, और काम्य (यज्ञ-यागादिक, 'इष्ट', और वापी कूप तड़ाग आदि का लोकहितार्थ निर्माण, 'आपूर्त्त') कर्म से, स्वर्ग

मिलता है, और स्वर्ग मे विविध प्रकार के उत्कृष्ट इंद्रिय-विषयक सुख मिलते हैं, अमृतपान, नन्दनवन, गन्धर्व और अप्सरा का गीत वाद्य नृत्य आदि। पर मीमांसा मे 'स्वः' शब्द की जो परिभाषा की है उस का अर्थ कुछ दूसरा ही है।

यन् न दुःखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तमनंतरम्,
अभिलाषोपनीतं च, तत्पदं स्वःपदास्पदम्। (श्लोक-वार्त्तिक)

जिस सुख मे दुःख का लेश भी मिश्रित न हो, जिस का कभी लोप न हो, जो कभी दुःख से ग्रस्त अभिभूत न हो जाय, जो अपनी अभिलाषा के अधीन हो, किसी पराए की इच्छा के अधीन नहीं, उस पद को, उस अवस्था को, उस सुख को, 'स्वः' शब्द से कहते हैं। यह सुख तो पूर्वपरिचित सांख्यादि दर्शनो का कहा हुआ आत्यंतिक ऐकांतिक आत्मवशता-रूप निःश्रेयस मोक्ष ही है।

मनु ने भी कहा है,

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं,
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः। (४-१६०)
सर्वभूतेषु च आत्मानं, सर्वभूतानि च आत्मनि,
समं पश्यन् आत्मयाजी, स्वाराज्यं अधिगच्छति। (१२-९१)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है। जो अपने को सब मे, सब को अपने मे, समदृष्टि से देखता है और इस दर्शन से ही सर्वदा आत्मयज्ञ करता है, वह स्वाराज्य को पाता है। निःश्रेयस, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, कैवल्य, स्वरूप-प्रतिष्ठा, स्वाराज्य, सब पर्याय हैं।

इस रीति से देखने से जान पड़ेगा कि, जैसा कुछ लोग विचार करते हैं, पूर्व मीमांसा का और उत्तर मीमांसा का अशमनीय विरोध है, सो ठीक नहीं। धर्म और ब्रह्म, कर्म और ज्ञान, प्रयोग और सिद्धांत, लोक और वेद, व्यवहार और शास्त्र, प्रैक्टिस और थियरी, ऐप्लिकेशन और प्रिंसिपल, सायंस और फ़िलासोफ़ी[१], अमल और इल्म, का संबंध

१ Practice and theory, application and principle, science and philosophy.

अविच्छेद्य है। शुद्ध आचरण से, पुण्य कर्म से, शुद्ध ज्ञान; और शुद्ध ज्ञान से शुद्ध कर्म—ऐसा अन्योऽन्याश्रय है।

वेदांत (उत्तर मीमांसा)

बादरायण के कहे ब्रह्म सूत्रों मे तो प्रसिद्ध ही है कि आत्मा के, 'मै' के, ब्रह्म के, सच्चे स्वरूप के ज्ञान से, ब्रह्मलाभ, ब्रह्मसम्पत्ति, सब दुःखों से मुक्ति, आनंद और शांति की परा काष्ठा की प्राप्ति, होती है। इन सूत्रों को वेदांत के नाम से कहते हैं, यद्यपि यह नाम तत्त्वतः उपनिषदों का है, क्योंकि वेद नाम से विख्यात ग्रंथों के अंत मे ये उपनिषद् रक्खे हैं; अथ च वेद का, ज्ञान का, अंत, समाप्ति, पूर्णता, पराकाष्ठा, परमता, जिस को बौद्ध संकेत मे पारमिता, प्रज्ञापारमिता, कहते हैं, इन मे पाई जाती है। कर्मकांड के पीछे ज्ञानकांड का रखना सर्वथा न्याय-प्राप्त, मानव जीवन के विकास के क्रमिक इतिहास के अनुसार ही है। पहिले प्रवृत्ति तब निवृत्ति। पहिले यौवन से बहिर्मुख-वृत्ति और चंचलता और विविध कर्मों मे लीनता, पीछे वार्धक्य मे अंतर्मुखता, कर्मशिथिलता, स्थितिशीलता, स्थिरबुद्धिता, ज्ञानपरायणता। वेदांत को ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, पराविद्या, आदि नाम से भी पुकारते हैं। और ऐसा जान पड़ता है कि भगवद्गीता के गायक कृष्ण के समय मे सांख्य और योग इसी वेदांत के ही दो अर्ध, पूर्वार्ध-परार्ध अर्थात् ज्ञानांश और कर्मांश, शास्त्रांश-प्रयोगांश, थियरी-प्रैक्टिस, सायंस आफ़ पीस और सायंस आफ़ पावर (औकल्ट सायंस, मैजिक, थामेटर्जी), मेटाफ़िज़िक्स और स्युपर-फ़िजिक्स (या साइको फ़िज़िक्स)[१] इल्म-अमल, इर्फ़ान-सुलूक, समझे जाते थे।

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदंति, न पंडिताः। (गीता)

सांख्य और योग को वे ही लोग पृथक् बताते हैं जिन की बुद्धि

१ Theory-practice, Science of Peace and Science of Power (occult science, magic, thaumaturgy), metaphysics, superphysics (or psycho-physics).

अभी बाल्यावस्था मे है, बालकों की सी है। सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा संजाता यस्य सः पंडितः, सत् और असत् मे विवेक कर सकने वाली बुद्धि का नाम पंडा, वह जिस मे सम्यक् जात, अच्छी तरह से उत्पन्न, हो गई है, वह पंडित। जो पंडित है वह सांख्य और योग को पृथक् नहीं देखता, उन को एक दूसरे का पूरक समझता है।

ब्रह्म-सूत्रों मे दर्शन के प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले सूत्र ये हैं,

अथऽतो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्मादि अस्य यतः। तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (अ० १, पा० १, सू० १, २, ७)। तदधिगमे उत्तर पूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। यदेव विद्ययेति हि। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते। (४-१-१३, १८, १९)। संपद्यऽाविर्भावः स्वेन शब्दात्। मुक्तः प्रतिज्ञानात्। अनावृत्तिः शब्दाद्, अनावृत्तिः शब्दात्। (४-४-१, २, २२)

बृहत्तम, ब्रह्म, सब से बड़े पदार्थ, की खोज करना चाहिये, उस को जानना चाहिये; जिस से सब दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति होती रहती है। जो पदार्थ ऐसा बृहत्तम, महत्तम, महतो महीयान्, कि यह सब संसार उस के अधीन हो, "वशे प्रभो मृत्युरपि ध्रुवं ते," कोई वस्तु जिस के अधिकार के बाहर न हो, यतः, जिस को, जिस से, जिस के लिये, जिस मे से, जिस का, जिस मे, और जो ही स्वयं (यतः, सार्वविभक्तिकस्तसिः), यह सारा व्यस्त समस्त जगत् हो। यह इष्टों का इष्ट, बंहिष्ठ भी अल्पिष्ठ भी, महिष्ठ भी अणिष्ठ भी, वरिष्ठ भी लघिष्ठ भी, दविष्ठ भी नेदिष्ठ भी, श्रेष्ठ भी प्रेष्ठ भी, चेतना, चित्, चितिशक्ति, चैतन्य, आत्मा ही है। इस विद्या, इस ज्ञान, इस अनुभव मे परिणिष्ठित होने से, अभेद-बुद्धि का, 'युनिवर्सालिटी, युनिटी, कन्टिन्युइटी, आफ् औल् लाइफ्, औल् कान्शसनेस्, औल नेचर,'[१] का, तौहीद, इत्तिहाद, ला-तफ़्रीक़ का, यक़ीन, निश्चय हो जाता है। तब

१ Universality. unity, continuity, of all life, all consciousness, all nature.

आत्मा को बांधने वाले, बंधन मे डालने वाले, आज़ादी, स्वतंत्रता, स्वराज्य से गिरा कर परतंत्रता, पराधीनता, दीनता मे डालने वाले, सब पुण्य पापों के मूल राग-द्वेष आदि की वासना का, तृष्णा का, मायाबीज की घोरता उग्रता का, जिस को अब पच्छिम मे 'विल-टू-लिव, विल-टु-पावर, लिबिडो, एलान् वीटाल्, हार्मे, अर्ज-आफ्-लाइफ्'[१] आदि नामो से पहिचानने और कहने लगे हैं, क्षय होता है। तब शांत मन से, अपने प्रारब्ध कर्मों के फलभूत सुख-दुःखों का सहन करता हुआ, स्थिर-बुद्धि, असंमूढ़, स्थित-प्रज्ञ, अपने परमात्म-भाव से संपन्न और प्रतिष्ठित, जीव, सब मिथ्या भावों से मुक्त हो जाता है[२]। जब तक शरीर रहता है तब तक अपने कर्त्तव्यों का पालन करता रहता है, पर नए धोखों के चक्कर मे नहीं पड़ता, और छूटने के बाद फिर इस जगत् मे नहीं आता।

ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति।
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[३]

ब्रह्म को जानने वाला परम पदार्थ परमार्थ को पाता है। जो ही ब्रह्म सदा से था वही ब्रह्म फिर भी हो जाता है, वही बना रहता है।

मुहम्मद पैग़म्बर की हदीस है, "अल् आना कमा काना", मैं जैसा था वैसा हो गया और वैसा हूँ। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही है बृहत्तम, सब से बड़ा भी, और अनंत बढ़ने की शक्ति रखने वाला भी।

बृहत्वाद् बृंहणत्वाच् च ऽात्मैव ब्रह्म इति गीयते।

ऐसा पदार्थ 'मै' आत्मा ही है, इस लिये आत्मा ही को ब्रह्म कहते हैं। जिस ने ब्रह्म को, आत्मा को, पहिचाना, जिस को यह

---

१ Will-to-live, will-to-power, libido, *elan vital*, horme, urge-of-life.

२ Is finally freed from the root psycho-neurosis, A-vidyā.

३ तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, नृसिंहोत्तर, मुंडक उपनिषत्।

निश्चय हो गया कि 'मै' परमात्म-स्वरूप है और हूँ, चिन्मय, सब से बड़ा, अमर, "अनल् हक़", "ला इलाहा इल्ला अना", 'मै' के, मेरे, सिवा और कोई दूसरा अल्ला नहीं, उस को सब कुछ मिल गया।

यं लब्ध्वा च ऽपरं लाभं मन्यते न ऽधिकं ततः;
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते;
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्;
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो ऽनिर्विण्णचेतसा। (गीता)
जीवात्मनोस्तु संयोगो योग इत्युच्यते बुधैः।
योगश्च ऐक्यं हि कथ्यते।

मनुष्य को अथक मन से उस योग मे जतन करना चाहिये, लग जाना चाहिये, जिस से सब दुःखों से वियोग हो जाय, और उस पदार्थ से संयोग हो जिस का लाभ हो जाने पर अन्य किसी वस्तु के लाभ की तृष्णा नहीं रह जाती, जिस से बढ़ कर और कोई दूसरा लाभ नहीं।

पाश्चात्य मत, आश्चर्य से जिज्ञासा की उत्पत्ति

इन सब उद्धरणो से यही सिद्ध होता है कि पूर्व देश मे दर्शन पदार्थ का आरंभ सब बंधनो से मोक्ष पाने की इच्छा से, आत्यंतिक ऐकांतिक दुःख-जिहासा सुख-लिप्सा से, हुआ है। पच्छिम देश मे विविध मत कहे गए हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि गहिरी दृष्टि से देखने से, उन सब का भी पर्यवसान इसी मे पाया जायगा।

प्लेटो और ऐरिस्टाटल् ने कहा है कि फ़लसफ़ा, दर्शन, का आरंभ 'वंडर'[1] अर्थात् आश्चर्य से होता है, आश्चर्य से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। गीता मे भी इस का संकेत, इशारा, है,

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनं,
　　आश्चर्यवद् वदति तथैव च ऽन्यः;
आश्चर्यवच् च एनं अन्यः शृणोति,
　　श्रुत्वा ऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।
　　　　　　　　(गीता)

---

१ Wonder.

आश्चर्य से लोग इस सब सृष्टि को देखते हैं, सुनते हैं, कहते हैं, पर कोई इस को ठीक-ठीक जान पाता नहीं।

तथा उपनिषदों मे भी,

श्रवणाय ऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः,
श्रृण्वन्तो ऽपि बहवो यं न विद्युः,
आश्चर्यो वक्ता, कुशलो ऽस्य लब्धा,
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलऽनुशिष्टः।
(कठ, १-२-७)

इस रहस्य का सुनना दुर्लभ है, सुन कर समझना दुर्लभ है। इस का जानने, कहने, सुनने, समझने, वाला—सब आश्चर्य है।

ऋग्वेद के संहिता भाग मे भी आश्चर्य से प्रेरित प्रश्न मिलते हैं।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चाः नक्तं ददृशे, कुहचिद् दिवा ईयुः;
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि, विचाकशत् चन्द्रमा नक्तमेति।
(मं० १, सू० २२)

ये तारे ऊँचे पर रक्खे हुए रात मे देख पड़े, दिन मे कहाँ चले गए? वरुण के कर्म अर्थात् आकाश के अचरज, समझ के पार हैं। रात मे चमकता हुआ चंद्रमा निकलता है। तथा यजुर्वेद मे,

किं स्विद् आसीद् अधिष्ठानम्,
आरंभणं कतमस्स्वित् कथासीत्;
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा
विद्याम् और्णोत् महिना विश्वचक्षाः।
(अ० २३)।

इस जगत् का आरंभक अधिष्ठान सर्वव्यापी क्या था, कौन था, कैसा था? किस विश्वकर्मा ने, सब रचना की शक्ति रखने वाले ने, सब कुछ कर सकने वाले ने, सर्वशक्तिमान् ने, उस मे से इस भूमि

को उत्पन्न किया ? किस सर्वचक्षा ने, सब कुछ देखने वाले ने, सर्वज्ञ ने, इस आकाश मे इस द्युलोक को अपनी महिमा से फैलाया।

ऋग्वेद का, दस ऋचा का, हिरण्यगर्भ सूक्त (म० १, सू० १२१) सब का सब इसी प्रश्न को पूछता है, "कस्मै देवाय हविषा विधेम ?" उस का पहिला मन्त्र यह है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तत ऽग्रे, भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत्; स दाधार पृथिवीं द्यां उत इमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

सोने के ऐसा चमकता हुआ, सब से पहिला, सब भूतों का पति, इस पृथ्वी और इस आकाश का फैलाने और सम्हालने वाला, जिस ने ऐसे अचरज रचे, वह कौन देव है, कि उस की हम पूजा करें ?[१]

अचरज की चर्चा चली है। इस अचरज को भी देखिये कि जो ही प्रश्न वेद के ऋषि के मन मे उठे, जो ही प्रश्न आज काल के, अच्छी से अच्छी ऊँची शिक्षा पाए हुए, बुद्धिमत्तर पश्चिमी विद्वान् के मन मे उठते हैं, वे ही प्रश्न अफ्रीका की अशिक्षित जातियों मे से एक 'बासूटो' जाति के एक मनुष्य के हृदय मे उठते हैं, और वैसे ही सरस और भावपूर्ण शब्दों मे उठते हैं।

'एक देशाटन के प्रेमी सज्जन ने शुद्ध निष्कारण मानस कुतूहल का उदाहरण लिखा है। एक बेर बासूटो जाति के एक मनुष्य ने उन से कहा—"बारह वर्ष हुए मै अपने पशुओं को चराने ले गया। आकाश मे धुंध थी। मै एक चटान पर बैठ गया। मेरे मन मे शोक भरे प्रश्न उठने लगे। शोक भरे, क्योंकि उन का

१ कोई, इस सूक्त का व्याख्यान, प्रश्नात्मक नहीं करते, किन्तु वर्णनात्मक और नमस्कारात्मक करते है, 'कस्मै' को, सर्वनाम 'कः' की नहीं, बल्कि प्रजा-पति-वाचक 'कः' की चतुर्थी का रूप कहते हैं। साधारणतः वह रूप 'काय' लौकिक संस्कृत मे होता है, पर वैदिक मे 'कस्मै' भी हो सकता हो।

उत्तर सूझ नहीं पड़ता था। तारों को किसने अपने हाथों से छुआ है? किन किन खम्भों पर ये रक्खे हैं? पानी सदा बहता ही रहता है। कभी थकता नहीं। बहना छोड़ दूसरा काम कोई उस को आता नहीं। सवेरे से शाम तक, शाम से सवेरे तक, बहता ही रहता है। कहीं भी ठहरता है, कभी भी आराम लेता है, या नहीं? कौन उसे बहाता है? बादल आते हैं, जाते हैं, फट कर पृथ्वी पर पानी के रूप मे गिरते हैं। कहाँ से आते हैं? कौन भेजता है? हवा को मै देख नहीं सकता। पर है अवश्य। क्या है? उस को कौन चलाता है? सिर झुका कर, दोनो हाथों से मुह छिपा कर, मै सोचता रह गया"[१]।

प्रश्न वे ही अथवा वैसे ही हैं जैसे वेद के। उत्तर बेचारा 'बासूटो' कुछ भी नहीं समझ पाता। उस के जीवात्मा का अधिक उत्कर्ष होने पर कुछ समझेगा। प्रश्न शोकपूर्ण हैं, क्योंकि उत्तर नहीं सूझता; मुह

---

१ "In the following, reported by a traveller, we have an instance of this spontaneous transition to disinterested curiosity in the case of an intelligent Basuto: 'Twelve years ago' (the man himself is speaking) 'I went to feed my flocks. The weather was hazy. I sat down upon a rock and asked myself sorrowful questions; Yes, sorrowful, because I was unable to answer them. Who has touched the stars with his hands? On what pillars do they rest? The waters are never weary, they know no other law than to flow without ceasing—from morning till night, and from night till morning, but where do they stop, and who makes them flow thus? The clouds also come and go, and burst in water over the earth. Whence come they? Who sends them? I cannot see the wind, but what is it? Who brings it, makes it blow? Then I buried my face in both my hands": Casalis, *The Basutos*, p. 239, quoted in a foot-note at p. 311 in *The Psychology of the Emotions* by Ribot.

को हाथों से ढाँक कर सोचता है, 'इन बातों मे प्रकृति देवता ने क्या आफ़त छिपा रक्खा है ?' इस पर आगे कुछ कहा जायगा। पश्चिम के सभ्य देशों का आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् इन प्रश्नों का बहुत कुछ उत्तर देता है, और कार्य-कारण की परम्परा को बहुत दूर तक ले जाता है, पर अंत मे मूल कारण के विषय मे वह भी शोकपूर्ण हो जाता है, मुह को हाथों मे छिपा कर गहिरा सोच करता ही रह जाता है, और 'दी मिस्टरी आफ् दी यूनिवर्स' के सामने, या तो 'चांस', या 'ला आफ् एवोल्यूशन', या 'एनर्जी' या 'अनू-नोएब्ल' प्रभृति शब्दों का, या 'गाड'[१] शब्द का, प्रयोग करता है। वैदिक ऋषि ने उस को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् , सर्वज्ञ ब्रह्म, परमात्मा, चैतन्य, ऐसे नामो से समझने समझाने का प्रयत्न किया है।

मानस कुतूहल से जिज्ञासा, तथा संशय से, तथा कल्पना की इच्छा से

पच्छिम मे अधिकतर विचार साम्प्रत काल मे, मौजूदा ज़माने मे, यह रहा है कि जैसे अन्य उत्कृष्ट ज्ञानो और शास्त्रों का, वैसे ही दर्शन, फ़लसफ़ा, का, प्रेरक प्रयोजक हेतु, सम्पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः, 'इंटेलेक्चुअल क्युरियासिटी',[२] मानस कुतूहल, है। बच्चों को नई वस्तु के विषय मे बड़ा कुतूहल रहता है, यह क्या है, क्यों है, इस का नाम क्या है, यह कैसे हुआ, कैसे बनता है, इत्यादि। जो बाल्यावस्था मे ज्ञान के वर्धन का कारण है वही प्रौढ़ावस्था मे भी।

जो अशिक्षित जाति को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाता है वही सुशिक्षित जाति को और आगे चलाता है। पैथागोरस ने, फ़लसफ़ा का जन्म शुद्ध ज्ञान की इच्छा से, अथवा नवीन रचना कल्पना कर सकने

१ The mystery of the Univers; Chance; Law of Evolution; Energy; Unknowable; God.

२ Intellectual curiosity.

के लिये उपयोगी ज्ञान पाने की इच्छा से, बताया है। तथा डेकार्ट ने, संशय से। ये दोनो भी, एक ओर आश्चर्य से, दूसरी ओर कुतूहल से, मिलते हैं। यह सब विचार भी निश्चयेन अंशतः ठीक हैं। जैसे बासूटो के प्रश्नो मे शोक निगूढ़ होने का प्राकृतिक गभीर अभिप्राय है, वैसे ही इस कुतूहल, संशय, ज्ञानेच्छा, मे भी वही अभिप्राय अंतर्हित है; निष्कारण कुतूहल नहीं है। यह आगे दिखाने का यत्न किया जायगा। पर तत्काल इस कुतूहलवाद को पच्छिम मे यहाँ तक बढ़ा दिया, कि विज्ञानशास्त्री और कलावित् कहने लग गए, कि 'सायंस इज़ फ़ार् दी सेक आफ् सायंस', 'आर्ट इज़ फ़ार् दी सेक आफ् आर्ट'[१]। अर्थात् मानव जीवन का और कोई लक्ष्य नहीं, सिवा इस के कि शास्त्र की वृद्धि हो, कला की वृद्धि हो। मानव जीवन केवल साधन, 'शेष', उपाय, मार्ग; और शास्त्र अथवा कला केवल साध्य, 'शेषी', उपेय, लक्ष्य हो गए।

अतिवाद

पच्छिम मे यह अतिशयोक्ति और अंधश्रद्धा, मूढ़ग्राह और अति भक्ति, वैज्ञानिक आधिभौतिक शास्त्रों के विषय मे वैसी ही फैली जैसी भारतवर्ष मे धर्मशास्त्रों के विषय मे; यहां तक कि अपने को पंडित मानने वाले लोग भी बुद्धिद्वेषी हो कर यह डिंडिम करने लग गए कि 'धर्म मे बुद्धि का स्थान नहीं।' यद्यपि यह प्रायः प्रत्यक्ष-सिद्ध है, और पूर्व के भी और पच्छिम के भी पूर्वाचार्यों का माना हुआ सिद्धांत है, कि वैज्ञानिक शास्त्र भी और धर्म शास्त्र भी, सभी शास्त्र, परस्पर सम्बद्ध होते हुए, एक दूसरे की बाधा और व्याहति न करते हुए, एक व्यापक सत्य तथ्य ज्ञान के अंश और अंग होते हुए, देश-काल-निमित्त के अनुसार, मनुष्यों के व्यवहार के संशोधन, और उन के जीवन के सुख के साधन और उत्कर्षण, के लिए बने और बनाये गये हैं और बनते जाते हैं। दर्शन

---

१ 'Science is for the sake of science', 'Art is for the sake of art' etc.

के ग्रंथों से जो सूत्रादि पहिले उद्धृत किए और बताए गए, यथा "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः," उन से स्पष्ट है कि धर्म पदार्थ मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन मात्र है, स्वयं साध्य नहीं। मनुष्य के लिए शास्त्र है, शास्त्र के लिए मनुष्य नहीं, इस तथ्य के विरोधी अतिवाद की अतिवादता को विचारशील सज्जनों ने पच्छिम में भी अब पहिचाना है, और नामी वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि—"सायंस इज़् फ़ार् लाइफ़्, नाट् लाइफ़ फ़ार सायंस,"[१] अर्थात् शास्त्र और कला आदि सब मानव जीवन के सुख के साधन मात्र हैं, स्वयं साध्य नहीं हैं। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रत्येक सभ्य जाति में, स्वास्थ्य और समृद्धि बनाने वाले क़ानून, विज्ञान के आधार पर बनाए जाते हैं; ('वेद-मूलो हि धर्मः,' 'धर्मो वेदे प्रतिष्ठितः', का जैसा अर्थ है, यानी ज्ञान पर, विज्ञान पर, सायंस-शास्त्र-वेद पर, धर्म-क़ानून को प्रतिष्ठित होना चाहिए ही); और बड़े बड़े कर्मांतों यंत्रालयों के साथ वैज्ञानिक योग्यशाला[२] भी रक्खी जाती हैं, जिन की उपज्ञाओं, बुद्धि की 'उपजों', जिद्दतों, ईजादों, का, नवीन आविष्कारों का, उपयोग उन कर्मांतों में किया जाता है। गत दो विश्व-युद्धों में ऐसी उपज्ञाओं का कैसा राक्षसी दुरुपयोग किया गया, यह भी प्रसिद्ध है।

सायंस के स्वयं साध्य-लक्ष्य होने का जो अतिवाद कुछ दिनों प्रबल रहा, उस का मूल कारण यही रहा होगा कि मध्ययुगीन यूरोप में कई सौ वर्ष तक धर्म के बहाने एक विशेष (रोमन कैथलिक) मत के रूप में धर्माभास ने अंधश्रद्धा को अति प्रचंड कर, स्वावलंबिनी बुद्धि को दबा कर, विज्ञान को निगड़ित कर रक्खा था। तपस्या से, त्याग से,[३] शक्ति और ऐश्वर्य मिलते हैं, क्रमशः ऐश्वर्यमद और विषय-

---

१ Science is for life, not life for science.

२ Experimental Laboratory. सुश्रुत में "तस्माद् योग्यां कारयेत्", योग्या शब्द 'एक्सपेरिमेंट' के अर्थ में मिलता है।

३ Self-denial, self-sacrifice.

लोलुपता बढ़ती है; जो रक्षक थे वे भक्षक हो जाते हैं; फिर लोक का 'रावण', रोआना, 'रुलाना' करके, बड़ा उथल पुथल मचा कर, दंड पाते हैं, पदच्युत होते हैं, नष्ट होते हैं; ऐसा क्रम इतिहास मे बहुधा देख पड़ता है। "मन्युस्तन्मन्युमृच्छति"। अति अभिमान का शमन तज्जनित प्रत्यभिमान और रौद्र क्रोध से होता है। प्रायः इतिहास के पृष्ठों मे, और आँख के सामने प्रवर्तमान जगद्वृत्त मे, देखने मे आता है कि धर्म और ज्ञान आदि के अधिकारी, तथा शासन और प्रभुत्व के अधिकारी, तथा धन के अधिकारी, आरम्भ मे यदि अच्छा भी करते हैं, तो काल पा कर सत्य पथ से, अपने कर्तव्य और सत् लक्ष्य से, बहँक जाते हैं, जनता के ज्ञान की सम्पत्ति का, निर्विघ्नता निर्भयता की सम्पत्ति का, अन्न-वस्त्र की सम्पत्ति का, शिक्षा-रक्षा-जीविका का, साधन करने के स्थान पर बाधन करने लगते हैं, जनता को ज्ञानशून्य और मूर्ख बना कर अपना दास बनाए रखना चाहते हैं।

अंग्रेज़ी मे दो शब्द 'प्रीस्टक्राफ़्ट' और 'स्टेटक्राफ़्ट' हैं[१]। अर्थ इन का—पुरोहित की कपटनीति और राजा की कपटनीति। दोनो का सार इतना ही है कि साधारण-जन-समूह को बेवक़ूफ़ और कायर बना कर, अबुध और भीरु बना कर, उन को चूसते झूँसते रहना।

> चराणां अन्नं अचराः, द्रंष्ट्रिणां अपि अदंष्ट्रिणः,
> बुधानां अबुधाश्चापि, शूराणां चैव भीरवः। (भागवत)

चलने वाले प्राणियों का आहार स्थावर वनस्पति आदि, दाँत वालों के दंतहीन, होशियारों के मूर्ख, और शूरों के भीरु, अन्न, भोज्य, होते हैं।

शेख़ सादी ने गुलिस्ताँ मे कहा है, "ख़ुर्दन् बराय ज़ीस्तन् अस्त, न कि ज़ीस्तन् बराय ख़ुर्दन्; व माल अज़् बह्रे आसायिशे उम्र अस्त, न कि उम्र अज़् बह्रे गिर्द कर्दने माल"। खाने के लिये जीना नहीं, जीने के लिये खाना है; माल के लिये जिन्दगी नहीं, जिंदगी के लिये माल है।

१ Priestcraft, statecraft.

पर यह भी प्रकृति का अबाध्य नियम है, कि स्वार्थ के वश किया हुआ पाप,[१]

शनैः आवर्त्तमानस्तु कर्तुः मूलानि कृंतति ।

चक्र सदृश आवर्त करता हुआ, घूमता हुआ, 'साइक्लिकल पीरियोडिसिटी'[२] से, क्रिया की प्रतिक्रिया के न्याय से, लौट कर, अपने करने वाले की जड़ को काट देता है। यही दशा पश्चिम मे पुरोहितों और राजाओं की हुई। पहिले उन्हों ने प्रजा का हित किया। फिर स्वार्थी हो कर प्रजा की बहुत हानि की। अन्ततः जनता ने अधिकांश उन पर से श्रद्धा हटा ली, और बड़े-बड़े घोर विप्लव कर के, उन के अधिकार उन से ले लिए। इसी सिलसिले मे, दबी हुई बुद्धि और विज्ञान का, प्रतिक्रिया न्याय से, इतना अतिमात्र औद्धत्य हुआ कि उन्हों ने ऐसा कहना अपनी शोभा माना, कि बुद्धि के आगे अतींद्रिय पदार्थ कोई नहीं ठहरता, (यद्यपि बुद्धि स्वयं अतींद्रिय है !), और विज्ञान स्वयं साध्य है, (यद्यपि मनुष्यों ने अपने जीवन के सुख के साधन के लिए ही उस का आविष्कार किया है !) ।

विशेष प्रयोजन से जिज्ञासा

किसी विशेष अर्थ की खोज मे भी विशेष ज्ञान का संग्रह हो जाता है और उस ज्ञान के क्रमबद्ध कार्य-कारण-परम्परान्वित होने से शास्त्र बन जाता है। जैसे अन्न वस्त्र की खोज मे कृषि शास्त्र और गोरक्षा शास्त्र बने; घरेलू बर्तनो के, तथा अस्त्र शस्त्र के, लिए, ताँबा लोहा आदि; भूषण और वाणिज्य की सुविधा के लिए सोना चाँदी आदि; अन्नपाचन, शीतनिवारण, तथा और बहुतेरे कामो, मे सहायता देने वाली अग्नि के लिए, कोयला आदि, खनिजों की खोज से धातु-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, आदि का आरम्भ हुआ; पृथ्वीतल पर भ्रमण, समुद्र पर यान, आदि की आवश्यकताओं से भूगोल खगोल के शास्त्र रचे गए; रोग-निवृत्ति के

१ Discoveries; inventions.

२ Cyclical periodicity.

लिए गौरवशाली चिकित्सा शास्त्र, और उस के अंग, शारीरिक अथवा कायव्यूह-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, जन्तु-शास्त्र, आदि बनाए गए। तो यह भी मानने की बात है कि विशेष अर्थ की इच्छा से, विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष सुख के लाभ के लिए, शास्त्र मे प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार से, धर्माभास और धर्मदम्भ के अतिवाद का शमन, सायंस-विज्ञान के आभास-रूप प्रत्यतिवाद से हुआ। अब दोनो, अपने अपने आभासों और अतिवादों को छोड़ कर, तात्त्विक सात्त्विक मध्यमा वृत्ति पर आ जाँय, और परस्पर समन्वय, सङ्गति, सम्वाद, संज्ञान, सम्मति करैं—इसी से मानव-जाति का कल्याण है। निष्कर्ष यह कि मानस कुतूहल भी निश्चयेन ज्ञान की वृद्धि मे अंशतः प्रेरक हेतु है, पर जैसे आश्चर्य, वैसे कुतूहल भी, परम्परया, उक्त मूल प्रयोजन का अवांतर और अधीन साधक है। इस को विशद करने का यत्न आगे किया जायगा।

कर्तव्य कर्म मे प्रवर्त्तक हेतु की जिज्ञासा

पच्छिम मे कुछ दार्शनिकों ने यह भी माना है कि कर्त्तव्य से, जिस मनुष्य का चित्त, किसी कारण से, विमुख, निरुद्ध, प्रतिबद्ध, हो रहा है, उस को उस कार्य मे प्रवृत्त करने के लिए; तथा अकर्त्तव्य को करने के लिए जिस का मन चञ्चल और व्युत्थित हो रहा है उस को उस से निवृत्त, निरुद्ध, शान्त करने के लिए भी; दर्शन का प्रयोजन होता है। यह एक व्यावहारिक प्रयोजन भी फ़लसफ़ा का है। यह बात भी ठीक ही है।[१] भगवद् गीता, तथा योग-वासिष्ठ, इस के उदात्त उदाहरण हैं।

---

१ "The relation between theoretical and practical philosophy is a psychological one. The inhibited person requires a stimulant before he can act, or a sedative in order to bear inaction; the practical philosophies provide these. Every philosophy, says Nietsche, however it may have come into existence, serves definite educative ends, *e.g.*, to encourage, or to calm, etc."; *Herzberg, The Psychology of Philosophers*, p. 213.

वैराग्य से जिज्ञासा

संसार की दुःखमयता को देख कर के भी, जैसा पूर्व मे वैसा पच्छिम मे भी, कोमलचित्त मृदुवेदी स्त्रियों और पुरुषों की, दार्शनिक विचार की ओर प्रवृत्ति हुई है[१]। यूरोप के मध्य युग मे, जैसा भारत के मध्य युग मे, और वर्त्तमान समय मे भी, इस "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" की दृष्टि का प्रभाव अधिकतर यह होता रहा, और है, कि लोग किसी न किसी प्रकार के भक्ति मार्ग या पंथ मे जा रहते थे। 'मोनास्टरी', मठ, विहार, मे पुरुष; 'कानवेंट' या 'नन्नरी' मे स्त्रियाँ[२]। इस प्रकार से, भक्ति से, ईश्वर मे, विष्णु, महादेव, दुर्गा, अल्ला, गॉड, जेहोवा, अहुरा मज़्दा मे, ईसा मे, बुद्ध, मुहम्मद, ज़रदुश्त, राम, कृष्ण मे, मन लगा कर, संसार के झगड़ों से अलग हो कर, पर कुछ लोकसेवा भी करते हुए, जन्म बिता देते थे। कुछ गिने चुने जीव, ज्ञान की ओर झुक कर, दार्शनिक विचारों की सहायता से, अपने चित्त की शांति करते थे, और दूसरों को शांति देने का यत्न भी करते थे।

उत्तम प्रकार के सात्त्विक, परार्थी, लोक-हितैषी, विवेक-वैराग्य का यह स्वरूप है; जैसा राम और महावीर जिन और बुद्ध का हुआ,

१ Thus, George Sand (quoted by Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, I, 347) "When the sadness, the want, the hopelessness, the vice, of which human society is full, rose up before me, when my reflections were no longer bent upon my proper destiny, but upon that of the world of which I was but an atom, my personal despair extended itself to all creation, and the law of fatality arose before me in such appalling aspect that my reason was shaken by it."

२ Monastery; convent; nunnery. See Wells' *Short History of the World*, on such, in China etc., and Lin Yutang's *My Cauntry and My People*.

जैसा ब्रह्मज्ञान के सब सच्चे अधिकारियों को होना चाहिए; अपने ही छुटकारे की चिंता नहीं। पच्छिम के एक ग्रंथकार ने कई पाश्चात्य दार्शनिकों के उदाहरण दिये हैं जिन को भी, ऐसी शुद्ध नहीं, पर इस के समीप की, कोमलचित्तता का अनुभव हुआ[१]।

उक्त सब प्रकार उपनिषदों में भी दिखाए हैं। श्वेतकेतु बाल्यावस्था मे, खेल कूद से मग्न, प्रकृति के उग्र थे। पिता उद्दालक ने कहा, "वस ब्रह्मचर्यं, नैव, सोम्य !, अस्मत्कुलीनो ब्रह्मबंधुः इव भवति", गुरुकुल में, ब्रह्मचर्य का संग्रह करने वाली चर्या करते हुए, वास करो, विद्या सीखो; हमारे कुल मे, आर्य कुल मे, अनपढ़ अनार्य मनुष्य होने की चाल नहीं है। ब्रह्म शब्द के तीन अर्थ, परमात्मा भी; परमात्मनिष्ठ वेद अर्थात् सब सत्य विद्या, शास्त्र, ज्ञान भी; और अनंत संतान-परम्परा की सृष्टि की दिव्य शक्ति का धारण करनेवाला शुक्र, वीर्य, भी; तीनों का संचय करो। श्वेतकेतु ने चौबीस वर्ष की उम्र तक पढ़ा; घर लौटे, विद्या-मद से स्तब्ध, 'मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरे ऐसा बुद्धिमान् विद्वान् दूसरा नहीं।' तरह-तरह के मद होते हैं, बलमद, रूपमद, धनमद, ऐश्वर्यमद, तथा विद्यामद, बुद्धिमद भी। पिता ने देखा कि पुत्र ने बहुत कुछ सीखा, पर जो सब से अधिक उपयोगी बात है, जिस का सीखना सब से अधिक आवश्यक है, वही नहीं सीखा, मनुष्यता, इन्सानियत, नहीं सीखा, अपने को नहीं पहचाना—मैं क्या हूँ, पोथी पत्रों के भार का वाहक ही हूँ, बहुत से शब्दों के उच्चारण करने का यंत्र मात्र हूँ, या कुछ और हूँ, यह नहीं जाना। उस की सोई हुई आत्मा को जगाया। कुतूहल के द्वारा पूछा, 'पुत्र, बहुत बातें सीखा, क्या वह भी सीखा जिस से अनसुनी बात सुनी हो जाय, अनजानी बात जानी हो जाय ?' श्वेतकेतु ने कहा 'यह तो नहीं जाना, सो आप शिक्षा दीजिए।'

जनक की सभा मे, जल्प और विवाद से भी आरम्भ कर के,

---

१ Herzberg, *The Psychology of Philosophers.*

याज्ञवल्क्य आदि इसी परमार्थ ज्ञान पर श्रोताओं को लाये । कितने ही प्रष्टाओं ने, उपनिषदों में, दूसरे विषयों के प्रश्नों से आरंभ किया है, पर अवसान इसी में हुआ है । अर्थात् दुःख की जिहासा और सुख की लिप्सा; सुख कैसे मिले, दुःख कैसे छूटे । मक्खी और मच्छर, साँप और बीछू, बाघ और भेड़िये, क्यों पैदा हुए, यह अक्सर पूछा जाता है । आम और ईख, गुलाब और चमेली, कोयल और बुल्बुल, क्यों पैदा हुए, यह स्यात् ही कभी कोई पूछता हो । हाँ, मक्खी और मच्छर वग़ैरह कम कैसे हों, आम और ईख आदि बढ़ें कैसे, इस पर बहुत खोज और मिहनत की जाती है ।

सब का संग्रह

ज्ञान और इच्छा और क्रिया का अविच्छेद्य संबंध है । जानाति, इच्छति, यतते ।

> यद् ध्यायति तदिच्छति, यदिच्छति
> तत्करोति, यत्करोति तद् भवति ।

ज्ञान से इच्छा, उस से क्रिया, उस से फिर और नया ज्ञान, फिर और इच्छा, फिर और क्रिया, फिर और ज्ञान—ऐसा अनंत चक्र चला हुआ है । जिज्ञासा का अर्थ ज्ञातुम् इच्छा, ज्ञान की इच्छा । आश्चर्य, कुतूहल, नई कल्पना करने की अंतःप्रेरणा, संशय निवृत्त करने की इच्छा—ये सब जिज्ञासा के ही विविध रूप हैं । और सब का मर्म यही है कि, साक्षात् नहीं तो परम्परया, कार्य-कारण का संबंध जान कर, आज नहीं तो जब अवसर आवे तब, हम उस ज्ञान के द्वारा दुःख का निवारण और सुख का प्रसारण कर सकें । विशेष दुःख के अपाय की आकांक्षा से, विशेष सुख के उपाय की कामना से, विशेष शास्त्र । अशेष निःशेष दुःख की, दुःखसामान्य की, निवृत्ति की वांछा, उत्तम सुख, परमानंद, सुखसामान्य, की अभिलाषा से, शास्त्र-सामान्य अर्थात् दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति होती है; और इस आशंसा की पूर्ति ही इस

शास्त्र का प्रयोजन है। मीमांसा का सिद्धांत है "सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरं, विहितं कर्म धर्मपरम्, धर्मः पुरुषपरः अर्थात् पुरुषनिःश्रेयसपरः"; सब ज्ञान, कर्म का उपयोगी है; उचित न्याय्य कर्म, धर्म का उपयोगी है; धर्म, पुरुष का, अर्थात् पुरुष के निःश्रेयस का उपयोगी, साधन, है। आत्मज्ञान ही निःश्रेयस परमानंद है। इस लिये,

सर्वं कर्म ऽखिलं, पार्थ!, ज्ञाने परिसमाप्यते। (गीता)

दर्शन की उत्पत्ति के, उक्त ज्ञानात्मक, इच्छात्मक, क्रियात्मक, 'इंटेलेक्चुअल, इमोशनल, और प्रैक्टिकल अथवा ऐक्शनल्',[1] सभी स्थानो का संग्रह, गीता के एक श्लोक मे मिलता है।

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनो, ऽर्जुन!
आर्त्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च, भरतर्षभ!

आर्त्त, विशेष अथवा अशेष दुःख से दुःखित; जिज्ञासु, विशेष अथवा निश्शेष ज्ञान का कुतूहली; अर्थार्थी, अल्प अथवा परम अर्थ का अर्थी; और ज्ञानी; ये चार प्रकार के मनुष्य, मुझ को, विशेष इष्टदेव, ईश्वर, को, विशेष ज्ञानदाता, विशेष अर्थदाता को, अथवा 'मे' को, परमात्मा को, सर्वार्थदाता को, भजते हैं।

इन सब प्रकारों का मूल खोजा जाय तो प्रायः सब का समन्वय हो जाय। अशक्तता, दुर्बलता, अतः पराधीनता और पर से भय, दुःख का भय और भय का दुःख और उस दुःख से छूटने की इच्छा, तथा स्वाधीनता, आत्मवशता, सर्वशक्तिमत्ता, निर्भयता, और तज्जनित असीम सुख पाने की इच्छा—यह इच्छा इन सब प्रकारों के भीतर, व्यक्त नहीं तो अव्यक्त रूप से, अनुस्यूत है। 'बासूटो' मनुष्य के प्रश्न देखने मे शुद्ध मानस कुतूहल से जनित होते हुए भी शोकपूर्ण थे। क्यों? उत्तर न दे सकने के कारण। 'न सकना', अशक्तता, यही तो परवशता और दुःख का मूल स्वरूप है।

---

1 Intellectual; emotional; practical or actional.

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखम्-
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।

(मनु, अ० ४, श्लोक १६०)

सब परवशता, विवशता, बेबसी, ही दुःख, सब आत्मवशता, स्वतंत्रता, खुद-मुख़्तारी ही सुख, यह सुख और दुःख का तात्त्विक हार्दिक लक्षण थोड़े मे जानो—यह मनु का आदेश है। दूसरे शब्दों मे, इष्टलाभः सुखं, अनिष्टलाभः दुःखं; जो जो अपना चाहा पदार्थ है उस का मिलना सुख; जो जो अपना चाहा नहीं है उस का मिलना दुःख। अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, अपने मन के विरुद्ध, कोई बात होना ही दुःख; अपनी ख़्वाहिश के मवाफ़िक़, अपने चित्त के अनुकूल, जो ही बात हो वही सुख। नश्वरता का दुःख, मृत्यु के भय का दुःख, यही सब दुःखों का सार है, परवशता की परा काष्ठा है; इस के निवारण के उपाय की जिज्ञासा मुख्य जिज्ञासा है; इस का निवारण ही सब अर्थों का परम अर्थ है। और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान, कि वह अजर-अमर है, स्वतंत्र है, पराधीन नहीं; सब उस के अधीन, वह वह किसी के अधीन नहीं; जो कुछ सुख-दुःख का भान उस को होता है वह अपनी लीलामयी संकल्प शक्ति, ध्यान शक्ति, इच्छा शक्ति, माया शक्ति, अविद्या शक्ति से ही होता है, दूसरे किसी के किया नहीं—यही ज्ञान एक मात्र परम उपाय सब दुःख के निवारण और सब सुख अर्थात् परम शांति रूप परम आनन्द के प्रापण का है। यदि मृत्यु का भय और दुःख मनुष्य को न होता तो निश्चय है कि पृथ्वी पर धर्म-मज़हब-रिलिजन का और दर्शन शास्त्र का दर्शन न होता। इन की ज़रूरत ही न पड़ती। कवि ने हँसी में बहुत सच कहा है, "ये भी कहेंगे फैली ख़ुदाई बज़ोरे मौत" (अकबर इलाहाबादी)। जब और जिस को यह भय है, तब और तिस को धर्म की, मज़हब-रिलिजन की, दर्शन की, आवश्यकता, इस के लिये, रही है और होगी। धर्म को, दर्शन को, पृथ्वी से उठा देने का

प्रयत्न करना, आकाश को लाठी से तोड़ना और बिना वायु के मनुष्य को जीते रखना है।

इसी लिये भागवत मे, क़ुरान मे, इञ्जील मे कहा है।[१]

यस्य ऽनुग्रहं इच्छामि तस्य सर्वं हरामि अहम्।

इस का, भगवद् गीता के उक्त श्लोक के साथ मिला कर, यों अनुवाद किया जाय, तो दर्शन की उत्पत्ति के सब स्थानो का समन्वय हो जाय,

ईश, आतमा, अंतर्यामी, कहत पुकारि-पुकारी,
जा को चहौं अनुग्रह वा की छीनौं सम्पद सारी;
संपद खोइ, होइ आरत अति, परम अरथ अरथावै,
जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ, तब सब जग मे मोहि भावै॥

पाश्चात्य कविता मे उसी दिव्य वासना का अंकुर

अंतरात्मा की यह दिव्य प्रेरणा, सात्त्विक वासना, सब देशों मे, सब कालों मे, अशिक्षित, सुशिक्षित सब मनुष्यों मे, 'वासूटो' मनुष्यों मे, वैज्ञानिक मे, वैदिक ऋषि मे भी, सदृश रूप से काम कर रही है; कहीं प्रसुप्त अव्यक्त अनुद्बुद्ध है, कहीं किंचिद् व्यक्त अंकुरित स्पंदित अर्धनिद्रा मे है, कहीं तनु है, कहीं विच्छिन्न है, कहीं व्यक्त स्फुट उद्बुद्ध है, कहीं उदार है[२]; पर सब को आत्मज्ञान,[३] आत्म-दर्शन, की ओर ले चल रही है। यह दिखाने को, दो अंग्रेज़ी कवियों की उक्तियों का उद्धरण।

---

१ पूर्वगत पृष्ठ १७-१८ देखिये।

२ Unconscious, dormant, sleeping; fore-conscious; 'tenuous', 'thin', slightly conscious; now conscious now unconscious, broken; wide-awake, fully conscious.

३ Self-realisation.

करना चाहता हूँ। एक का देहान्त १६३३ ई० में हुआ, दूसरे का १९०७ ई० मे।

जार्ज हर्बर्ट की गीत के सब पद्यों का संपूर्ण अनुवाद, उन के ऐसे सुंदर शब्दों मे करना, मेरे लिये असंभव है; थोड़े में आशय यों कहा जा सकता है,

सिरजि मनुज कौ ईश ताहि सब सम्पति दीन्ही,
पर नहि दीन्ही शांन्ति, एक वा कौ रखि लीन्ही,
इन खेलन तें थकि अवश्य कबहुँक उकतावै,
करत शांति की खोज गोद मेरी फिरि आवै।[१]

---

१ When God at first made man,
Having a bowl of blessings standing by,
"Let us", He said, "pour on him all We can,
Let the world's riches which dispersed lie,
Contract into a span."
So Strength first made a way,
Then Beauty flowed, then Wisdom, Honour, Pleasure;
When almost all was gone, God made a stay,
Perceiving that, alone of all His treasure,
Rest at the bottom lay.
For "If I should," said He,
"Bestow this Jewel also on My creature,
He would adore My gifts instead of Me,
And rest in Nature, not the God of Nature,
So both should losers be.
Yet let him keep the rest,
But keep them with repining Restlessness;
Let him be rich and weary, that, at least,
If Goodness lead him not, yet Weariness,
May toss him to My breast."

ये सज्जन, जार्ज हर्बर्ट, अंग्रेज़ जाति के सच्चे ब्राह्मण पादरी थे। इन के जीवन मे कोई विशेष दुरवस्था, अन्न वस्त्र का क्लेश, अथवा दुराचार पश्चात्ताप आदि का दुःख नहीं था; संसार से वैराग्य का भाव, इन के चित्त मे, मृदु, सहज, शांत था। तदनुसार, कविता मे हृदयोद्गार भी इन का सरल शांत भक्तिप्रधान है।

दूसरे कवि, फ्रान्सिस टाम्सन, के जीवन मे आर्थिक क्लेश, दुरवस्था, और अनाचार के पश्चात्ताप का शोक, बहुत तीव्र हुआ। उन के अनुभव के अनुसार उन का हृदयोद्गार भी तीव्र करुणा से तथा तीव्र आनन्द से भरा है।

पूर्ववत् संक्षेप से आशयानुवाद उस का यह है,

जब विषाद अत्यंत तिहारे हिय मे छावै,
सरब प्रान तें करु प्रकार, उत्तर तैं पावै;
रहत देवता ठाढ़ौ निसि दिन तेरे छारै,
मुख फेरे तू ही रहै वाकौ न निहारै[1]।

---

[1] O world Invisible!, we view Thee.
O world Unknowable!, we know Thee,
O world Intangible!, we touch Thee,
    Inapprehensible!, we clutch Thee!
Does the fish soar to find the ocean,
The eagle plunge to find the air—
That we ask of the stars in motion,
    If they have rumour of Thee there?
Not where the wheeling systems darken,
And our benumbed conceiving soars—
The drift of pinions, would we hearken,
    Beats at our own clay-shuttered doors,
The angels keep their ancient places—
Turn but a stone and start a wing!

विस्तार से, इन पश्चिमी कवियों के अनुभवों का, उन के हृदय के भावों और बुद्धि के दर्शनों का, सरसतर प्रतिरूप तो मीरा, कबीर, आदि संतों और सूफ़ियों की उक्तियों मे मिलता है।

मीरा ने रात मे, हृदय की व्यथा के अंधकार मे, सर्व प्राण से पुकार किया और इष्ट का दर्शन पाया।

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदय रहो जी धीरा,
आधि रात प्रभु दर्शन देंगे, प्रेम नदी के तीरा।

और कबीर ने भी उन्हें देखा, पहिचाना, और गाया।

मोकूँ कहाँ तू खोजै, बंदे !, मै तो तेरे पास,
नहीं अगिन मे, नहीं पवन मे, नहिं जल, थल, आकास,
नहिं मक्का मे, नहिं मदिना मे, नहिं कासी कैलास,
नहिं मंदिर मे, नहिं मस्जिद मे, मै आतम बिस्वास—
मै तो सब स्वाँसा की स्वाँस।

दक्खिन के एक सूफ़ी ने कहा है—

हक़ से नाहक़ मे जुदा था, मुझे मालूम न था,
शक्ले इन्साँ मे खुदा था, मुझे मालूम न था,

'Tis ye', tis your estrangéd faces,
That miss the many-splendoured thing.
But, when so sad thou canst not sadder,
Cry—and upon thy so sore loss
Shall shine the traffic of Jacob's ladder
Pitched betwixt Heaven and Charing Cross.
Yea, in the night, my soul !, my daughter !,
Cry—clinging Heaven by the hems;
And lo !, Christ walking on the water,
Not of Gennesareth but Thames.

मतूलए दिल पे मेरे छाया था ज़ंगारे खुदी,
चाँद बादल मे छिपा था, मुझे मालूम न था,
बावजूदे कि मुझ़दए तेरा, नहनो अक़्रब,
सफ़हे मसहफ़ पे लिखा था, मुझे मालूम न था,
हो के सुल्ताने हक़ीक़त इसी आबो गिल मे,
दर बदर मिस्ले गदा था, मुझे मालूम न था।

जैसा किसी संत ने कहा है,

जा के घर सुख का भंडारा, सो क्यों भटकै दर दर मारा।

क़ुरान और गीता मे भी ये ही भाव मिलते हैं,

व फ़ी अन्फ़ुसेकुम् इल्ला तुब्सरून।

मै तो तुम्हारे भीतर, तुम्हारी नफ़्स मे, मौजूद हूँ, तुम्हारी नस नस मे व्यापा हूँ, पर तुम देखते ही नहीं हो, मुह फेरे हुए हो, आँख बंद किए हो, तुम को आँख है ही नहीं, दर्शन करना चाहते ही नहीं।

अवजानंति मां मूढ़ाः मानुषीं तनुं आश्रितम्;
परं भावं अजानंतः मम भूतमहेश्वरम्। (गीता)

मोह मे पड़े हुए जीव, मनुष्य शरीर के भीतर छिपे हुए परमात्मा को, अपने को, पहिचानते नहीं, और 'मेरा' यानी अपना, तिरस्कार करते हैं, अपने को तुच्छ समझते हैं, यद्यपि यह आत्मा, उन की आत्मा, सब की आत्मा, सब पदार्थों का महेश्वर है।

दर्शन और धर्म (मज़हब, 'रिलिजन')

पच्छिम के आधुनिक प्रकारों से जिन्हों ने विद्या का संग्रह किया है उन को जो बातें ऊपर कही गईं उन से प्रायः शंका होगी कि दर्शन का, फ़लसफ़ा का, और धर्म-मज़हब का, संकर किया जा रहा है, और ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि पच्छिम मे तो ये दोनो अलग कर दिये गये हैं।

इस शंका का समाधान यों करना चाहिये।

जैसा गीता मे कहा है,

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः,
सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं यत् स्यात् एभिस्त्रिभिः गुणैः।

पुरुष की प्रकृति के ये तीन गुण, सत्त्व, तमस्, रजस्, सब भूतों मे, सब प्राणियों मे, सदा सर्वत्र व्याप्त हैं। इन के बिना कोई वस्तु है नहीं। ज्ञान, इच्छा, क्रिया, और गुण, द्रव्य, कर्म, इन्हीं के रूपांतर कहिये, परिणाम, प्रसूति, फल कहिये, होते हैं[१]।

पर ऐसा घनिष्ठ मैथुन्य, अभेद्य संबंध, होते हुए, इन तीनो गुणो और उन के संतानो मे परस्पर अशमनीय कलह भी सदा रहता है, यहाँ तक कि इन के वैषम्य से ही सृष्टि, संसार, 'कॉस्मॉस', और इन के साम्य से ही प्रलय, 'केऑस'[२] घोर निद्रा, होती है।

अन्योऽन्य-ऽभिभव-ऽाश्रय-मिथुन-जनन-वृत्तयश्च गुणाः।
(सांख्य-कारिका)

ये तीनो गुण, सदा साथ भी रहते हैं, एक दूसरे को जनते अर्थात् पैदा करते रहते हैं, एक दूसरे के आसरे से ही रहते हैं, और एक दूसरे को दबाते भी रहते हैं।

इस प्राकृतिक नियम के अनुसार, ज्ञान जब बढ़ता है तब इच्छा और क्रिया दब जाती हैं; इच्छा जब उभरती है तब ज्ञान और क्रिया पीछे हट जाती हैं; क्रिया जब वेग बाँधती है तब ज्ञान और इच्छा छिप जाती हैं। और ऐसा एक भाव का प्राधान्य, दूसरों का गौणत्व, तीनो को पर्याय से, पर्याय से, पारी-पारा, होता ही रहता है; विविध

१ इस अर्थ को विशद करने का यत्न मै ने अपनी अंग्रेजी भाषा मे लिखी पुस्तक, *The Science of Peace* के अध्याय ११ के परिशिष्ट मे किया है।

२ Cosmos; Chaos.

परिमाणो, पैमानो पर। यथा एक दिन मे, सबेरे यदि ज्ञान का प्राधान्य, तो दोपहर को इच्छा, तीसरे पहर क्रिया। एक वर्ष मे, यदि (साधारण सर्दी गर्मी वाले देश मे) वसंत और ग्रीष्म मे ज्ञान, तो वर्षा-शरद् मे इच्छा, और शिशिर-हेमन्त मे क्रिया। एक जीवन मे, आदि मे ज्ञान (विद्यार्थी की ब्रह्मचर्यावस्था), फिर यौवन मे इच्छा (गार्हस्थ्य का आरम्भ), फिर क्रिया (गार्हस्थ्य की, जीविकार्थ, और वानप्रस्थता के विविध यज्ञ और त्याग आदि के लिए), फिर और गंभीर ज्ञान (सन्यास मे आत्मचिंतन)। (यदि पुनर्जन्म माना जाय तो) एक जन्म मे ज्ञान दूसरे मे इच्छा, तीसरे मे क्रिया। एक मानव जाति और युग मे ज्ञान, दूसरे मे इच्छा, तीसरे मे क्रिया। इत्यादि। यह एक उत्सर्ग की, सामान्य नियम अनुगम की, सूचना मात्र है। इस के भीतर बहुत से अवांतर भेद, विशेष-विशेष कारणो से, हो सकते हैं, जो ऊपर से देखने मे, इस्तिस्ना, 'एक्सेप्शन'[1], अपवाद, ऐसे मालूम होते हैं; किन्तु यह अनुगम प्रायः निरपवाद ही है कि, जिस समय, जिस चित्त मे, एक का विशेष उदय होता है, वहाँ अन्य का अस्त होता है। यहाँ प्रसंगवश इन तीन के, स्थूल रूप से, क्रमिक चक्रक और परस्पर कलह पर ध्यान देना है।

संसार की अनेकता मे एकता भी अनुस्यूत है ही; अन्यथा तर्क, अनुमान, न्याय, भविष्य का प्रबन्ध, नियम, धर्म, क़ानून, व्याप्तिग्रह, अनुगम, सांसारिक जीवन का मर्यादित व्यवहार, कुछ भी बन ही न सकता; यह प्रायः प्रत्यक्ष है कि प्रकृति के अनन्त अवयव, असंख्य अंश, सब परस्पर सम्बद्ध हैं, सब का अंगांगिभाव है; यह प्रत्यक्षप्राय है कि चेतन एकवत् और सर्वत्र व्याप्त है, सब को बाँधे हुए है, (और इस को विस्पष्ट सुस्पष्ट कर के, शंका समाधान कर के, बुद्धि का संस्कार परिष्कार कर के, हृदय मे बैठा देना ही अंतिम दर्शन वेदान्त का काम है); यहाँ तक कि अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी 'ऑर्गेनिक यूनिटी ऐण्ड

1 Exception.

कंटिन्युइटी आफ़ नेचर'[१] को पहिचानने लगे हैं, और कहने लगे हैं कि 'सायंसेज़ आर नाट मेनी, सायंस इज़ वन'[२], अर्थात् शास्त्र बहुत और पृथक् और विभिन्न नहीं है, असल मे शास्त्र, ज्ञान, वेद, एक ही है, और जिन को हम अलग-अलग शास्त्र समझे हैं वे सब एक ही महावृक्ष के मूल, स्थाणु, स्तम्भ, शाखा, प्रशाखा, वृन्त, पल्लव, आदि हैं। यद्यपि ऐसा है, तौ भी तत्तच्छास्त्राभिमानी शास्त्रियों के, 'सायंटिस्ट्स'[३] के, चित्त के अहंकार रूपी मुख्य दोष से विविध शास्त्रों मे विरोध का आभास होता है, शास्त्री लोग एक दूसरे से कहा करते हैं कि हमारे तुम्हारे वेदांतों मे विरोध है, इत्यादि; यद्यपि स्पष्ट ही, एक ही, सत्य वास्तविक ज्ञान के अंशों मे विरोध नहीं हो सकता, विरोध तो अविद्या-कृत, अहंकारजनित, राग, द्वेष, अभिनिवेश से दूषित, शास्त्रिणम्मन्यों के चित्तों मे ही हो सकता है।

ऐसे ही, ज्ञान-इच्छा-क्रिया मे भी, यदि ये विद्या से प्रेरित हों तो; यदि इन मे परस्पर अत्यंत कलह न हो, अन्योऽन्य का घोर अभिभव न हो, उचित आश्रय-मिथुन-जनन-वृत्ति हो। पर, सांसारिक, आभ्युदयिक, इच्छा स्वयं साक्षात् अविद्या का रूप ही है; संसृति का, संसरण का, जनन-मरण का, कारण ही है। क्रिया-प्रतिक्रिया के दोलान्याय से, चक्रकन्याय से, 'साइक्लिकल पीरियोडिसिटी' और 'ऐक्शन रिऐक्शन'[४] के न्याय से, जब वह अपना रूप बदल कर, नैश्रेयसिक, पारमार्थिक, इच्छा, अर्थात् मुमुक्षा, शुभ वासना, नैष्काम्य, मे परिणत होती है तभी इन तीनो के विरोध और कलह का कथं-कथंचन शमन कर सकती है; तब तक इन का संग्राम होता ही रहता है।

ज्ञान-प्रधान मनुष्य, उपयुक्त प्रेरणा और सामग्री होने पर दार्शनिक

१ Organic Unity and Continuity of Nature.
२ Sciences are not many, Science is one.
३ Scientists.
४ Cyclical periodicity. Action, Reaction.

विचार की ओर झुकते हैं; इच्छा-प्रधान, भक्ति और उपासना की ओर; क्रिया-प्रधान,व्यावहारिक सांसारिक कर्म अथवा (पारलौकिक निष्ठा अधिक होने पर) कर्मकांड की ओर; होम, हवन, यज्ञ आदि 'इष्ट', और वापी, कूप, तटाक आदि के सार्वजनिक लाभ के लिये निर्माण, 'आपूर्त्त', की ओर। सज्ज्ञान, सच्छ्रद्धा, सद्धर्म मे, सज्जीवन में, तीनो की मात्रा, यथास्थान यथासमय तुल्य रूप से होनी चाहिये; और आदर्श महापुरुषों के जीवन मे होती भी हैं। पर प्रायः यही देखा जाता है, पूर्व में भी, पच्छिम मे भी, कि अपने-अपने इष्ट, अपनी-अपनी चाल, की प्रशंसा के साथ साथ दूसरों के इष्ट और चाल की निन्दा भी की जाती है। एक ओर राग है तो दूसरी ओर द्वेष भी। इसी से ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, और कर्म मार्ग मे, सौमनस्य के स्थान पर, बहुधा वैमनस्य देख पड़ता है, और फ़लसफ़ी दार्शनिक मे और श्रद्धालु, मोमिन, 'फ़ेथफ़ुल बिलीवर'[१] मे, अन-बन ही रहा करती है, एक दूसरे को बुरा ही कहते रहते हैं; और दुनियादार कर्मठ आदमी दोनो को बेवक़ूफ़ समझते हैं। पच्छिम मे प्लेटो आदि के समय से ग्रीस मे भी, रोम मे भी, ईसा के पूर्व के धर्मों के देवी देवों मे और उन के पुजारियों मे अति श्रद्धा करने वालों के विरुद्ध, तथा ईसा के बाद रोमन कैथलिक चर्च[२] के, श्रद्धांधता और मूर्खता के पोषक, धर्माधिकारियों के विरुद्ध, विचारशील दार्शनिक बुद्धि वाले, हर ज़माने मे कुछ थोड़े से, लिखते बोलते आये; पर प्रायः बहुत दबी ज़बान से। क्योंकि उपासनात्मक और कर्मकांडात्मक धर्मों के अधिकारियों पुजारियों की चतुरता और श्रद्धालुओं की मूर्खता का ज़ोर बहुत रहा।

पर सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से, जब से मार्टिन लूथर ने, जर्मनी मे 'पोपों' के विरुद्ध झंडा खड़ा किया, (—रोमन कैथलिक संप्रदाय के 'जगद्-गुरु' महाशय 'पोप' कहलाते हैं, मुसल्मानो के 'जगद्-

१ Faithful believer.
२ Roman Catholic Church.

गुरु' 'ख़लीफ़ा', और हिंदुओं में तो पंथ-पंथ के अलग अलग बहुत से 'जगद्-गुरु', 'शंकराचार्य', 'रामानुजाचार्य, आदि हैं—); तब से, बुद्धि-स्वातन्त्र्य, पच्छिम में,धर्मनीति में भी और राजनीति में भी बढ़ता गया, और 'रिलिजन' और 'सायंस' का, शास्त्रवाद और बुद्धिवाद का, पारतंत्र्य और स्वातंत्र्य का, असीरी और आज़ादी का, विरोध अधिकाधिक उग्र होता गया; जैसा पहिले कहा। यदि एक ओर श्रद्धाजड़ता थी, तो दूसरी ओर अश्रद्धाजड़ता भी देख पड़ने लगी। जैसे कृष्ण और बाणासुर के संग्राम में माहेश्वर ज्वर का प्रतिरोध वैष्णव ज्वर ने किया, वैसे अत्या-स्तिक्य का वारण अतिनास्तिक्य ने यूरोप में किया। तब से पच्छिम में दर्शन और धर्म का पार्थक्य हो गया। ईसा-युग के आदि काल में और मध्य काल में भी, पादरियों ने[१] दर्शन का अभ्यास किया, दर्शन के अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे, और उन से अपने ईसा-धर्म का पोषण किया; पर अब फ़लसफ़ा की प्रेरक, अधिकांश 'इण्टेलेकचुअल क्युरियासिटी'[२] बुद्धि का कुतूहल, ही रह गई।

'फ़िलॉसोफ़ी' शब्द का यौगिक अर्थ ही जिज्ञासा, ज्ञान की इच्छा, ज्ञातुम् इच्छा, है; ग्रीक भाषा के दो शब्दों को, 'फ़ाइलॉस' प्रेम, और, 'सोफ़िया' विद्या, वैदुष्य, 'विज़्डम्'[३] को, मिला कर, यह अंग्रेज़ी शब्द बनाया गया है। इसी यौगिक अर्थ के अनुसार, इन शास्त्रों को, जिन को अब आधिभौतिक विज्ञान, 'फ़िज़िकल सायंसेज़', कहते है, उन को पहिले 'नेचुरल फ़िलॉसोफ़ी'[४] कहा करते थे। फ़िलॉसोफ़ी मानो बुद्धि की खुजली और कुतूहल मिटाने का एक उपाय, एक प्रकार, रह गई। सायंस की एक कोटि फ़िलॉसोफ़ी को छूती है; दूसरी कोटि नई-नई

---

१ Patristic philosophers, Fathers of the Church, Scholastic philosphers, Schoolmen.

२ Intellectual curiosity.

३ Philosophy; philos, love, sophia, wisdom.

४ Physical Seiences, Natural Philosophy.

ईजादें कर के व्यावहारिक कर्म को सहायता देती है। रहा उपासनात्मक धर्म, परलोक बनाने वाली बात; जिस को परलोक मे विश्वास हो, और उस को बनाने के उपाय की खोज हो, उस के लिए यह हृदय से सम्बन्ध रखने वाली बात दोनो से अलग पड़ गई।

इस प्रकार से ये तीनो अलग तो हो गये पर नतीजा यह हुआ कि तीनो, दर्शन-उपासना-व्यवहार, ज्ञान-भक्ति-कर्म, खंडित हो रहे हैं; और सिर, हृदय, हाथ-पैर मे, 'हेड-हार्ट-लिम्ब्ज़'[५] मे, नित्य झगड़ा हुआ करता है। पर यह झगड़ा तो नितांत अस्वाभाविक, प्रकृति के विरुद्ध, है। मनुष्य के शरीर मे सिर का, हृदय का, हाथ-पैर का, घनिष्ट सम्बन्ध है; एक से दूसरा अलग नहीं किया जा सकता; वैसे ही, उस के चित्त मे ज्ञान-इच्छा-क्रिया का घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतवर्ष की उत्कृष्ट अवस्था मे, जब यहाँ की शिष्टता सभ्यता सर्वांगसम्पन्न थी, तब प्रायः ऐसा तीव्र संघर्ष नहीं था; ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय और समाहार जाना माना और बर्ता जाता था; जिस का प्रमाण, थोड़े मे, गीता है; अथवा उस का भी संक्षेप चाहिये तो उसी के दो श्लोक पर्याप्त हैं, यथा,

ये तु अक्षरं अनिर्देश्यं अव्यक्तं पर्युपासते,
सर्वत्रगं अचिंत्यं च कूटस्थं अचलं ध्रुवम्,
संनियम्येंद्रियग्रामं　सर्वत्र　समबुद्धयः,
ते प्राप्नुवंति　मामेव　सर्वभूतहिते　रताः।

कूटस्थ अक्षर अव्यक्त परम-आत्मा की पर्युपासना अर्थात् अन्वेषण—यह दर्शन का, ज्ञान का, अंश है। मामेव प्राप्नुवन्ति—मुझको, दिव्य उपाधि से उपहित विशेष महा-पुरुष को, अति उत्कृष्ट ईश्वरत्वप्राप्त जीव को, सौर जगत् के ईश-सूत्रात्मा-ब्रह्मा को, पाना—यह भक्ति का अंश है। सर्वभूतहिते रताः—सब प्राणियों का यथाशक्ति हित करना—यह कर्म का अंश है। यदि और भी संक्षिप्त रूप से यही भाव देखना हो तो

---

५ Head, heart, limbs.

गीता ही के श्लोक के एक पाद से दिखाया है—माम् अनु-स्मर युध्य च। (स्मर), अर्थात् परमात्मा को याद करो— ज्ञान; अनु : स्मर, मुझे, मेरे पीछे पीछे चलने की इच्छा से, सेवाभाव से— भक्ति ; युध्य च, पाप और पापियों से यथा-शक्ति युद्ध करो—कर्म। भागवत आदि पुराणो मे भी तीनो का समन्वय स्थान-स्थान पर किया है ; पर सब से उत्तम और विस्तीर्ण प्रमाण तो मनुस्मृति है जिस के ऊपर भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता प्रतिष्ठित है, और जो स्वयं अध्यात्मशास्त्र, वेदांत, के ऊपर प्रतिष्ठित है। मनु की प्रतिज्ञा है,

ध्यानिकं सर्वमेव एतद् यद् 'एतद्' अभिशब्दितम्।
नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलम् उपाश्नुते।
सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च,
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविद् अर्हति।

अर्थात्, 'एतत्' शब्द से, इदं 'यह' शब्द से, जिस समग्र दृश्य-जात का, जगत् का, अभिधान होता है, वह सब ध्यानिक है ; परमात्मा के ध्यान से, संकल्प से, ही बना है ; इस लिये, ध्यान के शास्त्र को, अध्यात्मशास्त्र, अन्तःकरण शास्त्र, योगशास्त्र, आत्मविद्या को, जो नहीं जानता है वह किसी भी क्रिया को उचित रीति से नहीं कर सकेगा, और उस के उचित फल को नहीं पा सकेगा; उस की सब क्रिया अव्यवस्थित अमर्यादित होगी। इस लिये सांसारिक व्यवहारों का निरीक्षण, उपदर्शन, नियमन, सेनापतित्व, दंडनायकत्व, राजत्व, अथ किं सर्वलोकाधिपत्य भी वेदशास्त्र वेदांत के जानने वाले को ही सौंपा जाना चाहिए। जो मनुष्य की, पुरुष की, प्रकृति के तत्त्व को नहीं जानता, वह उस के जीवन-संबंधी व्यवहारों का नियमन व्यवस्थापन क्या कर सकता है ?

यह भाव प्राचीन काल मे यहाँ था। पर यहाँ भी सनातन-आर्य-वैदिक-मानव धर्म का बुद्धदेव ने जो प्रति-संस्करण किया, उस के प्रभाव

के क्रमशः लुप्त हो जाने पर, जो भारतीय सभ्यता का रूप बदलता रहा, उस मे कुछ वैसी ही सी दशा, दर्शन और व्यवहार की, हुई, जैसी पच्छिम मे; यद्यपि उतना पार्थक्य नहीं हुआ जैसा वहाँ। एक कारण तो यह होगा कि आधिभौतिक विज्ञान की वैसी समृद्धि यहाँ नहीं हुई जैसी वहाँ। इस लिये यहाँ, थोड़े दिनो पहिले तक, कुछ कुछ वह हाल था जो मध्ययुगीन यूरोप का था, जब वहाँ 'स्कूलमेन' और 'स्कोलास्टिसिज़्म'[१] के दर्शनो का प्रताप था। इधर कुछ दिनो से, भारतवर्ष मे भी, उस वर्ग मे जिस ने पाश्चात्य भाषा और शास्त्रों का अधिक अध्ययन किया है, इस पार्थक्य की वैसी ही दशा हो रही है जैसी पच्छिम मे।

किंतु यह दशा श्लाघनीय और वांछनीय नहीं है। प्रकृति के विरुद्ध है, रोगवत् है, चिकित्सा चाहती है; पूर्व मे भी और पच्छिम मे भी। ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग का; ज्ञान-विज्ञान अर्थात् फ़िलासोफ़ी-सायंस का, और भक्ति-उपासना अर्थात् 'रिलिजन' का, और सांसारिक व्यवहार अर्थात् 'लाइफ़ इन दी वर्ल्ड'[२] का; समन्वय, विरोध-परिहार, करना परम आवश्यक है। दिल तो कहता है कि किसी सगुण साकार इष्टदेव की पूजा करो जो आपत्काल मे सहाय हो; दिमाग़ कहता है कि ऐसा देव हो ही नहीं सकता; हाथ पैर कहते हैं कि खाओ, पीयो, दुनियादारी से मतलब साधो, और मुसीबत आवे, मौत आवे, तो मर जाओ—ऐसी हालत मे ज़िन्दगी में क्या चैन हो सकता है? इस लिये तीनो का मेल करना ज़रूरी है। वह दर्शन सच्चा नहीं है, जो अन्य दोनो से मेल मुहब्बत न कर सके, और उन को भी अपने साथ एक रास्ते पर न चला सके। दर्शन का अर्थ आँख है, देखना है। सब रास्तों को देख कर निर्णय करना, कि किस पर चलने से, किस तरह चलने से, क्या सामग्री साथ ले चलने से, हाथ और पैर, बिना ख़ौफ़ ख़तरे के, बिना भय और क्लेश के, दिल को, सारे शरीर को, जो आँख

---

१ Schoolmen; Scholasticism.
२ Life in the world; the day-to-day life of the world.

का भी, हृदय का भी, हाथ पैर का भी मालिक है, उस के अभीष्ट लक्ष्य से मिला देंगे, मंज़िले मक़सूद तक पहुँचा देंगे—यह दर्शन का काम है।

कुतूहल, जिज्ञासा, भी, ज्ञान की इच्छा है; इस इच्छा का अभिप्राय भी यही है कि, इस बात को जान कर, हम भी, समय-समय पर ऐसा-ऐसा काम कर सकें, इस ज्ञान से काम ले सकें। 'नालेज इज़ पावर'[१]। पच्छिम मे भी अब यह प्राचीन भाव फिर ज़ोर कर रहा है कि, 'ऐज़ दी फ़िलासोफ़ी आफ़ लाइफ़, ऐज़ दी औटलुक अपान लाइफ़, सो दी लाइफ़', 'आइडीयल्स आर दी ग्रेटेस्ट मूविङ्ग फ़ोर्सेस आफ़ नेशन्स', 'एवेरी मूवमेंट हैज़ ए फ़िलासोफ़ी बिहाइंड इट', 'दी साउंडर दी फ़िलासोफ़ी, दी मोर एफ़ेक्टिव दी मूवमेंट,' इत्यादि[२]। ग्रीस देश की पुरानी कहावत है, 'मनुष्य के जीवन की नेत्री फ़िलासोफ़ी है'[३]। प्रत्यक्ष है कि कहना और करना, क़ौल व फ़ेल, 'वर्ड' और 'डीड,' एक दूसरे से बँधे हैं, एक दूसरे की कसौटी हैं। 'प्रैक्टिस' की, कृति की, जाँच 'प्रोफेशन'[४] से, वाणी से, ज्ञान से, विश्वास से; 'प्रोफ़ेशन' की, विश्वास की, जाँच 'प्रैक्टिस' से, कृति से। यदि कथनी के अनुकूल करनी, और करनी के अनुकूल कथनी, न हो तो जानना कि कथनी झूठी है, बनावटी है। असली विश्वास, जो सब से गहिरा, मनुष्य के हृदय के भीतर धँसा रहता है, कृति उसी के अनुसार होती है; मुँह से कहना चाहे जो कुछ हो। बुद्धि भी, हृदय भी, कृति भी, तीनों एक साथ जिस

---

१ Knowledge is power.

२ As the philosophy of life, as the outlook upon life, so the life; Ideals are the greatest moving forces of nations; Every movement has a philosophy behind it; The sounder the philosophy the more effective the movement, etc.

३ *Philosophia biou kubrenetes.*

४ Word and deed; practice; profession.

तथ्य की साक्षी दें, वही तथ्य और सत्य है; और उसी को पाया हुआ पहुँचा हुआ, जीव, 'तथा-गत', तथ्य-गत, सत्य-प्राप्त, आप्त, रसीदा, ऋषि (ऋच्छति, गच्छति, प्राप्नोति इति) है।

मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येक, महात्मनाम्;
मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद्, दुरात्मनाम्।

'जो बात मन मे, सोई बचन मे, सोई कर्म मे—यह महात्माओं का लक्षण है; मन मे दूसरी बात, बोलने मे दूसरी बात, करने मे दूसरी बात—यह दुरात्माओं का लक्षण है।' इस प्रसंग मे, महात्मा शब्द का अर्थ है, वह जीव जिस को ज्ञान सच्चा अपरोक्ष हो गया है, जिस के दिल दिमाग़ हाथ-पैर मे विद्या एकरस समरस हो कर भीन गई है। तथा दुरात्मा शब्द का अर्थ वह जीव, जिस को ऐसा अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है, जिस का ज्ञान अभी परोक्ष है, शाब्दिक है, झूठा है। जो अविद्या के वश मे है, जिस के ख़ुद मे अभी ख़ुदी ग़ालिब है और ख़ुदा मग़लूब है।

धर्म-मज़हब-रिलिजन का विश्वास, अन्य विश्वासों की अपेक्षा से, सच्चा और गहिरा इसी लिये समझा जाता है कि मनुष्य का हृदय उस में लगा है, वह मनुष्य के हृदय की बात है, और उस के लिये वह सब कुछ करने, जान तक दे देने, के लिए तैयार होता है; क्योंकि उस को हृदय से दृढ़ विश्वास है कि उस धर्म से उस को, इस लोक मे नहीं तो परलोक मे, अवश्य सुख मिलेगा। जैसा पहिले कहा, मौत के भय से, मौत के दुःख के छूटने के उपाय की खोज से, धर्म उत्पन्न होते हैं। यह बात 'फ़िलासोफ़ी आफ़ रिलीजन' अथवा 'सायंस आफ़ रिलिजन'[१] की खोज करने वाले पच्छिम के विद्वान् भी मानते व कहते हैं। जिस को यह भय नहीं, उस को धर्मादिक की आवश्यकता नहीं।

---

१ Philosophy of Religion; Science of Religion.

यस्तु मूढ़तमो लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः,
द्वौ इमौ सुखं एधेते, क्लिश्यति अंतरितो जनः।

जो नितान्त मूढ़ है, जिस को मृत्यु और भय के कारण का पूर्वापर-विचारात्मक ध्यान ही नहीं हुआ, वा जो बुद्धि के पार पहुँच गया, हैवान है या इन्सानुल-कामिल है, पशु है वा पशुपति है—ये दोनो सुखी हैं। बीच मे जो पड़ा है वही दुःखी है। जिस को यह निश्चय हो गया कि मै अमर हूँ, किसी दूसरे के वश मे नहीं, सब सुख-दुःख अपने ही किये से, अपनी ही लीला क्रीड़ा के अनुसार, भोगता हूँ उस को फिर बाहरी किसी धर्म का प्रयोजन नहीं रह जाता, सब धर्म का तत्त्व, मूल, उस के भीतर आ जाता है।

जब मनुष्य देखता है कि शरीर को तो मौत से छुटकारा नहीं ही हो सकता; जिस वस्तु का आरंभ होता है उस का अंत भी होता ही है; तब वह जीव मे, रूह मे, ईश्वर मे, परम-ईश्वर, रूहुल्-आज़म मे, मन अटकाता है, कि इस लोक मे नहीं तो परलोक मे अजर अमर होंगे।

कुछ लोग चाहते हैं कि मज़हब को दुनियाँ से उठा दो[1]। कई तो नेकनीयती से, और सहीह, एतबार करते हैं कि जो वस्तु, धर्मों, मजहबों के नाम से, दुनिया मे फैली है, उस से मनुष्यों को बड़ी-बड़ी हानियाँ पहुँची हैं, और उन की सद्बुद्धि के विकास मे, सच्चरित्रता की उन्नति मे, परस्पर स्नेह प्रीति के प्रसार मे, भारी विघ्न हुए हैं, और दुर्बुद्धि, दुश्चरित्रता, परस्पर कलह की वृद्धि हुई है; इस लिए वे समझते हैं, और चाहते और यत्न करते हैं, कि मज़हब, धर्म, रिलिजन, दुनिया से ग़ायब हो जाय। पर वे गहिरी निगाह से नहीं देखते, कि ये सब दुष्फल, सद्धर्म के नहीं, वरन् धर्माभास और मिथ्या धर्म के हैं; धर्मों के असली तात्विक अंश के फल नहीं हैं, प्रत्युत उस मिथ्या अंश के हैं, जिस को मतलबी स्वार्थी पुजारियों, मज़हब का पेशा करने वालों, ने, उन मे

१ यथा रूस देश के बोल्शेविक शासक; किन्तु अब उनके विचार बदले हैं।

मिला दिया है। कोई लोग, जो स्वयं बदनीयत और बदकार हो कर दूसरों को भी बिगाड़ने की नीयत से ही, उन के समीप धर्म की हँसी करते हैं, और उन को धर्म से अलग करना चाहते हैं, उन के विषय मे तो अधिक कहने का प्रयोजन नहीं। प्रथम वर्ग के लोगों को चाहिये कि पहिले मौत को या मौत के भय को, दुनियाँ से ग़ायब कर दें; सब धर्म आप से आप ही लुप्त हो जायगा। जब तक यह नहीं कर सकते तब तक उन को लुप्त करने मे कृतार्थता नहीं हो सकती। अंग्रेज़ कवि कोलरिज ने, बहुत सरस शब्दों मे अखण्डनीय युक्ति कही है, जिस का आशय यह है,

'नास्तिक कौन वस्तु ऐसी दै सकिहै,
हिय की व्यथा तिहारी जो परिहरिहै।
कहत ईश मेरे समीप तू आवै—
नहिं दुख अस जासों न शान्ति तू पावै।
जहँ कहुँ दुखी होइ तू आँसू बहावै,
मेरो मंदिर खोजि वहाँ तू धावै।
टूटौ हिय अपनो तू मोहिं दिखावै,
वाके जोरन कौ उपाय मो सों तू पावै'।

जिन सब आसा खोइ दई तिन की वह आसा,
अँधियारे भरमत जन की वह ज्योति प्रकाशा।
नहिं कोउ अन्य आसरो, करु वाही कौ ध्याना,
सब-दुख-मेटनहार वही है इक भगवाना[१]।

भारतवर्ष के संतों ने भी ऐसे ही कोमल करुणामय भावों का, बहुत मधुर शब्दों मे भजन किया है, यथा—

---

१ Come, ye disconsolate!, where'er ye languish,
Come to God's altar, fervently here kneel,
Here bring your wounded hearts, here bring your anguish,

दीननाथ ! दीनबन्धु ! मेरी सुधि लीजियै !
भाई नाहिं, बन्धु नहिं, परिजन परिवार नाहिं,
ऐसो कोउ मीत नाहिं, जासौं कहौं—दीजियै !
खेती नाहिं, बारी नाहिं, बनिज ब्यापार नाहिं,
राज नाहिं, विद्या नाहिं, जा के बल जीजियै !
हे रे मन ! धीरज धरु, छाँड़ि कै पराई आस,
जाही विधि राम राखैं वाही मे रीझियै !
दीननाथ ! दीनबन्धु ! मेरी सुधि लीजियै !

जिन के मन मे प्रभु-भक्ति बसै तिन साधन और किये न किये !
भव भीति मिटाइ सबै तिन के नित नूतन उपजत आस हिये !

जब तक बच्चे की हालत मे है, तब तक माता पिता का सहारा ढूँढना ही पड़ेगा। धीरे-धीरे, अपने पैरों पर खड़ा हो जायगा। एक दिन ऐसा आवैगा जब दूसरों को सहारा दे सकेगा, अपने बच्चों के लिये आप ईश्वर हो जायगा। प्रत्येक जीव को भक्ति मार्ग मे से गुज़रना ही होगा, और बाद मे ज्ञान मार्ग में पहुँच कर, अपने पैरों पर खड़ा भी होना होगा, और बालक भाव को छोड़ कर, क्रिया-मार्गी सेवक भाव की भक्ति भी बनाये रहना ही होगा।

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीवबुद्ध्या त्वदंशकः,
आत्मबुद्ध्या त्वमेवऽहं, इति वेदान्त-डिंडिमः।

Earth has no sorrow that Heaven cannot heal.
Joy of the desolate, Light of the straying,
Hope, when all others die, fadeless and pure,
Here speaks the Comforter, in God's name saying,
'Earth has no sorrow that Heaven cannot heal'.
Go, ask the infidel what boon he brings us,
What charm for aching hearts can he reveal,
Sweet as the heavenly promise that Hope sings us,
'Earth has no sorrow that Heaven cannot heal.'

'देह की दृष्टि से ईश्वर का दास हूँ; जीव की दृष्टि से इष्ट देव भी मै भी दोनो ही परमात्मा के अंश हैं; आत्मा की दृष्टि से मै और परत्मा एक ही हैं।'

धर्म की ओर से, जन समुदाय को, अरुचि, घृणा, क्रोध, और विरोध भी होता है, जब कुछ लोग उस को अपनी जीविका और भोग विलास और दुष्ट कामनाओं की पूर्त्ति का उपाय बनाने के लिये, उस मे मिथ्या विश्वासों, दुष्ट भावों, और घोर दुराचारों और कुरीतियों को मिला देते हैं, और इन्हीं को धर्म का मुख्य रूप बता कर, सरल-हृदय जनता के साथ, विश्वासघात करने लगते हैं, रक्षक के स्थान पर भक्षक हो जाते हैं। मानव जाति के इतिहास में 'धर्म' के नाम से ऐसी ऐसी दारुण हत्या बालकों की, स्त्रियों की, एशिया मे, यूरोप मे, अमेरिका मे, आफ्रिका मे, की गई है, और की जा रही है, जिन से अधिक घोर यम-यातना भी नहीं हो सकती। भारतवर्ष मे वाममार्गी आदि, अब भी अपने राक्षसी पैशाचिक देवताओं को, नरबलि दे ही डालते हैं; पकड़े जाने पर फाँसी पाते हैं।

यस्य अंके शिरः आधाय जनः स्वपिति निर्भयः,
स एव तच्छिरः छिंद्यात्, किं नु घोरमतः परम्। (म०भा०)

'जिस की गोद मे सिर रख कर बच्चा सोता है, वही उस सिर को काट ले—इस से अधिक घोर पाप क्या हो सकता है?' तिस पर भी लोक किसी न किसी धर्म का आसरा चाहते और खोजते ही हैं; एक से उद्विग्न हो कर, उस को छोड़ते हैं, तो किसी दूसरे को ओढ़ते हैं; क्योंकि भीतर से अमरता चाहते हैं। जो उन के सच्चे शुभचिंतक हैं, उन्हीं ने, हर ज़माने मे, प्रत्येक युग मे, जनता को, वह रास्ता दिखाने का जतन किया है, जिस से उन को अमृत लाभ हो, आबि-हयात मिले, अर्थात् अपनी अमरता और स्वाधीनता का निश्चय हो जाय।

धर्म की परा काष्ठा—दर्शन

अचम्भा तो यह है कि मौत का ख़ौफ़ तभी ग़ायब होगा, जब मज़हब मुकम्मल होगा, और इन्सान कामिल होगा; और तभी, एक मानी मे कह सकते हैं कि मज़हब भी ग़ायब हो जायगा; क्योंकि ख़ुदी ग़ायब हो जायगी और सिर्फ़ ख़ुदा रह जायगा, और ख़ुदा को दूसरे के बताये मज़हब की क्या ज़रूरत ? सब अच्छे से अच्छे, ऊँचे से ऊँचे, धर्म तो आप उस के भीतर भरे हैं।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः।

'जिस ने पहिचान लिया कि परमात्मा तीनो गुणो की हरकतों से, विकारों से, परे है, उस को दूसरे के कहे विधि निषेधों की, क़ायदे क़ानूनो की, आवश्यकता नहीं; वह अपने भीतर से सब उपयुक्त विधि निषेधों को पाता रहता है।

दर हक़ीक़त ख़ुद तु ई उम्मुल्-किताब;
ख़ुद ज़े ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज़ याब।
लौहि महफ़ूज़स्त दर मानी दिलत्,
हर चि मी ख़्वाही शवद् ज़ू हासिलत्।

'सचमुच तुम ही सब पुस्तकों, शास्त्रों, वेद, क़ुरान, इंजील आदि की माता हो; जो श्रुति, जो आयत, जो ऋचा, जो ज्ञान, तुम चाहो, उस को अपने भीतर ही पाओगे; और पाते ही हो; जो भी ग्रंथ संसार मे हैं सब मनुष्यों ने ही तो बनाये हैं। तुम्हारा हृदय ही चित्र-गुप्त, गुप्त-चित्र, है; भूत-भवद्-भविष्य सब उस मे लिखा है'।

सर्वासां विद्यानां हृदयं एकायनं। (उप०)

दुःख की निवृत्ति की खोज से ही धर्म उत्पन्न होते हैं; और दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति का एक मात्र उपाय यही दर्शन है; परम-ईश्वर का दर्शन, परमात्मा का दर्शन, ब्रह्म-लाभ, ख़ुदा का ख़ुद मे नुमायाँ

हो जाना, और ख़ुदी का ख़ुद से ग़ायब हो जाना। यों ही 'हेड' और 'हार्ट' और 'लिम्ब्ज़' का, दिल, दिमाग़, और हाथ-पैर का, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का, झगड़ा मिट जाता है; और 'इन्टेलेक्चुअल' (थिओरेटिकल)-इमोशनल—ऐक्शनल (प्रैक्टिकल) इंटरेस्ट्स',[१] तीनो का समाहार हो जाता है। यों ही सिद्ध होता है कि धर्म-मज़हब-रिलिजन की परा काष्ठा का ही नाम दर्शन है। परा काष्ठा इस लिये कि, जैसा पहिले कहा, जो पदार्थ आज काल धर्म, मज़हब, रिलिजन, के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन से यदि हृदय को संतोष होता है, तो मस्तिष्क को प्रायः नहीं होता, और सांसारिक व्यवहार दोनो से प्रतिकूल पड़ता है; और दर्शन से, यदि सच्चा दर्शन है, तो सब का सामंजस्य, सब की परस्पर अनुकूलता, सब की तुष्टि, पुष्टि, पूर्ति, और सौमनस्य हो जाना चाहिये।

आत्म-दर्शन ही परम धर्म

जैसा मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है,

सर्वेषामपि च एतेषां आत्म-ज्ञानं परं स्मृतम्;
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते ही अमृतं ततः।
(मनु, अ० १२)

इज्या-ऽऽचार-दम-अहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्,
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्।
(याज्ञवल्क्य, अ० १)

सब ज्ञानो, सब कर्मो, से उत्तम आत्मज्ञान है; सब अन्य विद्याओं से ऊँचा है, सब मे अग्र्य श्रेष्ठ है, क्यों कि उस से अमरता प्राप्त होती है। यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय—इन सब से बढ़ कर यह है कि योग के द्वारा आत्म-दर्शन करे।

---

१ Intellectual (theoretical)—Emotional—Actional interests.

सब धर्मों का परम अर्थ यही है कि आत्म-दर्शन हो

भिद्यते हृदयग्रन्थिः, छिद्यंते सर्वसंशयाः,
क्षीयंते चऽस्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे।

(मुंडक उपनिषत्)

आत्मा के दर्शन होने पर, परमात्मा का स्वरूप ठीक-ठीक विदित हो जाने पर, हृदय की, बहुत दिनो की पड़ी हुई सब गाँठे, काम, क्रोध, लोभ आदि की ग्रन्थियाँ,[१] कट जाती हैं; बुद्धि के सब असंख्य संशय उच्छिन्न हो जाते हैं, नये सांसारिक बंधन बनाने वाले सब स्वार्थी कर्म क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि भेद-बुद्धि ही, पृथक्-जीवन की वासना ही, मै अलग और अन्य जीव अलग, मन् दीगरम् तू दीगरी, यह भाव ही, मिट जाता है। सभी अपने ही हो जाते हैं, आत्मा ही मे मग्न हो जाते हैं।

यही भाव सूफ़ियों ने भी कहा है,

गौहरे जुज़ ख़ुद-शिनासी नीस्त दर बहरे वुजूद ;
मा बगिर्दे ख़्वेश मी गर्दम चूँ गिर्दाबहा।
रहे इश्क़ जुज़ पेच दर पेच नीस्त ;
बरे आरिफ़ां जुज़ ख़ुदा हेच नीस्त।

इन हृदय की ग्रथियों को पच्छिम मे 'साइको ऐनालिटिक' सम्प्रदाय (Psycho-analytic school) के विद्वानो और गवेषकों ने 'काम्प्लेक्स' (complex) के नाम से पहिचाना है। पर वे, विशेष-विशेष ग्रंथियों का निर्मूलन, उन के विशेष-विशेष स्वरूप और कारण के ज्ञान के द्वारा, करने का यत्न करते हैं; आत्म-विद्या सब अशेष ग्रंथियो का एक साथ निर्मूलन आत्मज्ञान से करती हैं।

चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बि बन्द;
गर न बीनी रूयि हक़, बर मा बिखंद।

भवसागर मे आत्मज्ञान के सिवा और कोई मोती नहीं है। जैसे पानी का भँवर अपने ही चारो तरफ़ फिरता है, वैसे ही हम सब अपनी ही, अपने आत्मा की ही, परिक्रमा करते रहते हैं। प्रेम की राह पेंच के भीतर पेंच के सिवा और कुछ नहीं है; ज्ञानी के लिये परमात्मा के सिवा और कुछ कहीं भी नहीं है। आँख, कान, मुह, बंद करो, परमात्मा अवश्य देख पड़ेगा। 'रहे इश्क़' के स्थान पर, 'रहे इल्म' भी पाठ है; तब अर्थ यह करना होगा कि न्याय, तर्कशास्त्र, आदि विद्या तो पक्ष-प्रतिपक्ष, अनुमान-प्रत्यनुमान, दलील पर दलील, पेंच मे पेंच, की अनंत कठ-हुज्जत है; ऐसे विवाद से इष्ट-सिद्धि नहीं।

योग सूत्र के शब्दों मे,

चित्तवृत्तिनिरोधे द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

जब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध कर दिया जाता है, जब ज्ञानात्मक-इच्छात्मक-क्रियात्मक सब वृत्तियाँ रोक दी जाती हैं, जब मन सब तरफ से हट जाता है, तब द्रष्टा, देखने वाला, सब संसार का साक्षी, आत्मा, अपने स्वरूप मे, 'मैं' मे, अवस्थित हो जाता है; मैं परमात्मा, सब संसार का साक्षी, सब का धारक, व्यापक, सब से अन्य, पृथक्, भी हूँ—ऐसी अवस्था, ऐसा ज्ञान, ऐसा भाव उदय होता है।

मुहम्मद ने भी कहा है,

मन अरफ़ा नफ़्सहू फ़क़द अरफ़ा रब्बहू।

आत्मा का, अपने का, ज्ञान, और ईश्वर का ज्ञान, एक ही चीज़ है। जिस ने अपने को जाना उस ने ख़ुदा को जाना।

ख़ुद शिनासी, इर्फ़ानि ख़ुद, हक़-बीनी, दीदार, ब्रह्मज्ञान, आत्म-

दर्शन, ब्रह्मलाभ, आत्मलाभ, 'विज़न आफ़ गाड', 'सेल्फ़-नालेज'[1]—यह सब पर्याय हैं, एक ही पदार्थ के विविध नाम हैं, जिसी पदार्थ से ऐकांतिक आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति होती है, और इंतिहाई दवामी लाज़वाल सुख-शांति का लाभ होता है।

यही दर्शन का और दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

---

१ Vision of God; Self-knowledge.

दूसरा अध्याय

दर्शन का गौण प्रयोजन

दर्शन के प्रधान प्रयोजन का वर्णन किया गया। उस का गुणरूप, गुणभूत, गौण, बड़ा गौरवशाली, और भी प्रयोजन है।

राजविद्या का अर्थ और उस की उत्पत्ति की कथा

गीता का उपाख्यान किस को नहीं मालूम ? अर्जुन को जब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता, दीनता, विषण्णता ने घेरा, तब कृष्ण ने उस बेचैनी को आत्मविद्या के उपदेश से दूर किया। ब्रह्मचर्य की परा काष्ठा से, आत्मनिग्रह, आत्मवशता से, दैह्य आत्मा पर भी वशित्व[१] पाये हुए, मृत्यु पर भी विजय पाये हुए, इच्छा-मृत्यु, भीष्म ने, योग से शरीर छोड़ते हुए, कृष्ण की जो स्तुति की उस मे इस को कहा है।

---

१ Biological autonomy। शास्त्रीय सिद्धान्त यह है कि नया शरीर, नया प्राण, उत्पन्न करनेवाली, "शुक्रं ब्रह्म सनातनं" रूप, शक्ति को जो अपने शरीर से अवकीर्ण न होने दे, उस प्राण शक्ति को उसी शरीर के ही पोषण मे परिणत करता रहे, तो बहुत काल तक उस शरीर को स्थिर रख सकता है, जब तक वह स्वयं उस शरीर के धारण से खिन्न न हो जाय। आज काल पच्छिम के विद्वानो ने जीर्ण वृद्ध मनुष्य के शरीर को पुनः युवा बना देने का उपाय यह निकाला है कि वानर आदि पशुओं के वृषण (अथवा यदि स्त्री हो तो वानरी आदि के रजःकोष) उस के शरीर मे जमा देते हैं। पुराणो मे इसकी सूचना इस प्रकार से की है कि इन्द्र के अंडकोश जब, पर-दार-गमन के कारण, ऋषि के शाप से, (अथवा उपदंश रोग 'सिफ़लिस' से, गिर गये,

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य, स्वजनवधाद्विमुखस्य, दोषबुद्ध्या,
कुमतिं अहरद्ऽऽत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ।

'शत्रुओं की सेना मे आगे बंधु बांधवों को देख, उन के वध को महापातक मान, विषण्ण हुए अर्जुन की कुमति को जिस ने आत्मविद्या से हटाया, उस हरि की सुन्दर मूर्ति मेरे मन मे, स्नेह से आवृत, सदा बसै'।

सड़ गये), तब उन के स्थान पर स्वर्ग के वैद्यों ने, अश्विनीकुमारों ने, मेष के वृषण लगा दिये। यह प्रकार, राजस, तामस और पापीयान् है; सात्त्विक नहीं। तो भी, उस से भी यही सिद्ध होता है कि शुक्र धातु के शरीर मे बनने और संचित होने से, यौवन अर्थात् प्राण, ओजस्, तरस्, सहस्, तेजस्, महस्, वर्चस् आदि सूक्ष्म शरीर के गुण, शरीर मे उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक मानवीय शुक्र से, सात्त्विक मानवीय ओजस् आदि सब छः, ब्रह्मचर्य द्वारा; प्रायः राजस तामस वानरीय शुक्र से, शल्य चिकित्सा द्वारा, प्रायः वानरीय ओजस्, तरस्, और सहस् ही, किन्तु सूक्ष्मतर तेजस् महस् वर्चस् नहीं। पश्चिम मे यह आसुरी वाजीकरण चिकित्सा कुछ वर्षों तक बहुत चली; पर अब अनुभव से निश्चय हो गया है कि उस के परिणाम बहुत बुरे होते हैं, इस से इस का प्रचार कम होता जाता है।

ओजो हि तेजो धातूनां शुक्रातानां परं स्मृतम्। (वाग्भट)

अंग्रेजी मे इस आशय को कहना हो तो स्यात् यों कहा जायगा कि Conservation of normal vital seed and its psycho-physical energy in the body, instead of allowing it to escape outside, will prolong life of that body for an indefinite period, (*i.e.* for much longer than the usual, but not endlessly, of course), till the soul is itself tired—as it will surely become tired in course of time—of holding on to, and daily repeating the experiences, over and over again, of that one body.

इस आत्मविद्या ही का नाम राजविद्या, राजगुह्य, है। जैसा स्वयं कृष्ण ने अर्जुन से कहा है।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि अनसूयवे,
ज्ञानं विज्ञानसहितं, यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रं इदं उत्तमं,
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्।

आत्मविद्या का नाम राजविद्या क्यों पड़ा, इस विषय मे, कुछ विद्वान्, एक उपनिषत् मे कहे हुए कुछ वाक्यों के आधार पर तर्क करते हैं कि यह विद्या पहिले क्षत्रियों मे उदित हुई। अन्य विद्वान् इस का उपज्ञान ब्राह्मणो ही द्वारा मानते हैं। ऐसे विवाद, जात्यभिमान, वर्ग-प्रशंसिता, आदि ओछे भावों से प्रेरित जान पड़ते हैं। गीता के चतुर्थ अध्याय मे, इस विषय मे जो कहा वह प्रसिद्ध है; (परमात्मा ने अथवा ब्रह्मा ने) आदि काल मे यह योग (ब्रह्मविद्यारूपी) विवस्वान् (सूर्य) को दिया, सूर्य ने अपने पुत्र मनु को; इत्यादि। योग-वासिष्ठ मे इसकी उत्पत्ति नीचे लिखे प्रकार से कही है।

विश्वामित्र दशरथ के पास आये। 'दुर्जन लोग (राक्षस) हमारे ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्माश्रम, विद्यापीठ के सत्कार्यों मे विघ्न करते हैं। (यज्ञ का अर्थ है स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, आदि, मनुष्यों के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के, देह और बुद्धि के, संस्कार परिष्कार करने वाले, और इस के द्वारा इहलोक परलोक दोनों को सुधारने वाले, सब परोपकारी कार्य; गीता, अ. ४)। राम जी को आज्ञा दीजिये कि मेरे साथ चलें और इन दुष्टों का दमन करें।' 'राम ने तो खाना-पीना छोड़ रक्खा है, न जाने किस चिंता मे पड़ गये हैं, किस मोह से मूढ़ हैं, या कोई रोग से रुग्ण हैं; आप उस का उपाय कीजिये, और ले जाइये'। राम जी बुलाये गये। ऋषि ने पूछा। राम जी ने कहा। बहुत विस्तार से; बहुत सरस, मधुर, ओघवान्, वेगवान्, बलवान्,

हृदय को पकड़ कर खींच ले जाने वाले, शब्दों मे, संसार की अस्थिरता और दुःखमयता, और उस को देख कर अपने चित्त की विकलता और खेदपूर्णता, कहा। बुद्ध को भी, राम जी के बहुत वर्षों पीछे, यही अनुभव हुआ, और उन के पहिले तथा उन के पीछे, सब काल मे, अपने अपने समय से, सब जीवों को, मृदुवेदिता और कोमलचित्तता के उदय होने पर, वैसा ही होता रहा है और होगा। संक्षेप से, जो राम जी ने कहा वह यह है।

'संसार मे जो प्रिय से प्रिय, स्थिर से स्थिर, महान् से महान्, पदार्थ हैं, उन की अनित्यता को देख कर, सब प्राणियों को दुःखी देख कर, मुझे भारी व्यथा हो गई है, कुछ अच्छा नहीं लगता ; यही मन मे फिर फिर उठता है कि ऐसे नश्वर शरीर को, अपने आप खाना पीना बन्द करके, छोड़ देना अच्छा है ; यम से नित्य नित्य डरते काँपते हुए, इस अपवित्र मलमय रक्त मांस अस्थि के संचय को पकड़े रहने का यत्न करना नहीं अच्छा।'

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु न ऽहं अलि-पक्षति-चंचलेषु, ब्रह्मन् !, रमे, मरण-रोग-जरादिभीत्या, शाम्यामि अहं परं उपैमि पदं प्रयत्नात्। (योग-वासिष्ठ, १-२१-३६)

विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए। दशरथ से कहा, 'राम का यह मोह परम सात्त्विक मोह है। राम को बड़े काम करना है, इस लिये बड़े ज्ञान की इन को आवश्यकता है। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, फ़ानी और बाक़ी, का विवेक जिस को हो, नश्वर से वैराग्य जिस के हृदय में जागे, नित्य की खोज मे जो सर्व प्राण से पड़ जाय, दिल और दिमाग़ दोनों मे जिस को इस की सच्ची लगन लग जाय, उस को महा उदय, अभ्युदय भी, निःश्रेयस भी, देने वाला, नित्य पदार्थ का बोध मिलता है।'

विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः।

'छोटे छोटे कामो मे भी कृतार्थता पाने के लिए ऐसी लगन की आवश्यकता होती है; फिर अजर, अमर, अनादि, अनंत पदार्थ पाने के लिये क्यों न चाहेगी ? जिस को यह धुन न लगेगी, कि "कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि", वह कृतार्थ नहीं होगा। सो राम को यह उत्तम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। इन के कुल के पुरोहित वसिष्ठ जी इस को पूरी करेंगे'। ऐसा विश्वामित्र ने कहा।

तब वसिष्ठ ने आरंभ किया. और आदि मे ही कहा कि इस जिज्ञासा को पूरी करने वाली ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, का नाम राजविद्या, राजगुह्य, भी है। और इस के विवरण के लिये समाजशास्त्र (सोसियालोजी)[१] की, जो भारतवर्ष के पुराण-इतिहास का एक अंग है, कुछ मूल बातों की चर्चा कर दी। मानव इतिहास के आदि काल मे मनुष्य परस्पर मेल मुहब्बत से[२] रहते थे। इस काल को सत्ययुग[३] का नाम दिया जाता है, क्योंकि मनुष्यों को प्रायः असत्य बोलने के योग्य चपल बुद्धि ही न थी, सीधे सादे होते थे। इस को कृतयुग भी कहते हैं, क्योंकि वृद्ध कुलपति, जातिपति, प्रजापति,[४] नेता, जो कह देते थे उस को सब लोग बिना पूछ पाछ, बिना हुज्जत बहस, कर देते थे। "कृतमेव, न कर्त्तव्यं"; वृद्ध के मुह से उपदेश आदेश निकला नहीं कि युवा ने कर दिया; अभी करने को बाक़ी है—ऐसी नौबत नहीं आती थी। क्रमशः मनुष्यों मे अस्मिता, अहंकार, द्वेष, द्रोह, स्पर्धा, ईर्ष्या आदि के भेद-भाव बढ़े। परस्पर युद्ध होने लगे। कापोतन्याय के स्थान में मात्स्यन्याय प्रवृत्त हुआ[५]। शांति के स्थापन के लिये राजा चुने बनाये गये[६]। उन की बुद्धि समाज-रक्षा के कार्य मे, अक्षम, असमर्थ, क्षुब्ध,

१ Sociology.

२ Idyllic state of nature, 'Pigeon-like'.

३ Golden age; Childhood of Mankind.

४ Patriarch.

५ Warring 'state of nature', 'Fish-like.'

६ Social contract.

किंकर्त्तव्यविमूढ़, होने लगी। तब ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न किया, आत्मज्ञान से सम्पन्न किया, और राजाओं को शिक्षा के लिये नियुक्त किया। आत्मविद्या की उत्तम शिक्षा पा कर राजा लोग स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः, स्थिरबुद्धि, स्थिरमति, हुए, और शांत मन से, प्रजा के द्विविध रक्षण का, अर्थात् पालन और पोषण का, द्विविध उपाय से, अर्थात् दुष्टनिग्रह और शिष्टसंग्रह से[1], अपना कर्त्तव्य करने के योग्य हुए। तभी से यह विद्या राजविद्या कहलाई, क्योंकि विद्याओं की राजा है, और राजाओं की विद्या है, राजाओं के लिये विशेष उपयोगिनी है।

तेषां दैन्यऽपनोदार्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च,
ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः।
अध्यात्मविद्या तेन इयं पूर्वं राजसु वर्णिता,
तदनु प्रसृता लोके, राजविद्या इत्युदाहृता।
राजविद्या राजगुह्यं अध्यात्मज्ञानमुत्तमम्,
ज्ञात्वा, राघव !, राजानः परां निर्दुःखतां गताः।
(यो० वा०, २-११ १६, १७, १८)

इस का उपयोग—इहलोक, परलोक, उभयलोकातीत, सब के बनाने मे

इस रीति से राजविद्या का जो आद्य अवतरण हुआ, उसी का दूसरा उदाहरण, नवीकरण, वा पुनरवतरण, भगवद्गीता का उपाख्यान और उपदेश है। इस परा विद्या को कृष्ण ने 'गुह्यतम', 'गुह्याद् गुह्यतरं', रहस्यों का रहस्य, राज़ों का राज़, इल्मि-सीना, भी कहा, और प्रत्यक्षावगम, अक्षों से, स्थूल इन्द्रियों से, देख पड़ती हुई, भी

[1] Protection and Nurture; Prevention of disorder and Promotion of general welfare. इस विषय का, विस्तार से, 'राज-शास्त्र' की लेख-श्रेणी मे, जो 'काशी विद्यापीठ पत्रिका' मे प्रकाशित हुई है, लेखक ने प्रतिपादन किया है।

कहा । जैसा सूफ़ियों ने भी कहा है,

मग़्रिबी !, आं चि तू अज़् मी तलबी दर ख़लवत्,
मन् अयां बर सरि कूचः व कू मी बीनम् ।

'हे पच्छिम वाले !, जिस वस्तु को तुम एकांत मे ढूँढ़ते हो, उसे मै हर सड़क और गली मे देख रहा हूँ ।' इस का आशय, आशा है कि, आगे खुलेगा । पच्छिम वाले का सम्बोधन अच्छा है । एक पच्छिम वाले ने अपने हृदय के उद्गार मे कहा है, 'जिस ईश्वर को मै अपने बाहर सर्वत्र देख रहा हूँ, उसी को अपने भीतर भी देख लूँ--यह मेरी सब से उत्कृष्ट इच्छा है' ।[१] इस प्रकार से, पूर्व पच्छिम के भावों में सादृश्य होते हुए भी वैदृश्य, दक्षिण वाम का सा, बिम्ब प्रतिबिम्ब का सा, देख पड़ता है ।

एक बेर इस विद्या के सिद्धांत हृदय मे बैठ जायँ, तो फिर देख पड़ने लगता है कि वे चारो ओर समस्त संसार मे व्याप्त हैं । जब "शक्लि इन्साँ मे ख़ुदा है" यह मालूम हो जावे तब, ज़ाहिर है कि, ख़िलक़त के हर कूचः व कू मे वही ख़ुदा देख पड़ेगा जो ख़लवत, एकांत, मे तलाश किया जाता है । चैतन्य सर्वव्यापी है, यह निश्चय जब हो जाय, तब उस के नियम, परमाणु मे भी और सौर सम्प्रदायों मे भी, अणोः अणीयान् मे भी और महतो महीयान् मे भी, एक सा काम करते हुए, समदर्शी को देख पड़ेंगे ।

ब्रह्म शब्द का अर्थ

योग वासिष्ठ की कथा मे ब्रह्मा का नाम आया । पौराणिक रूपक

---

१ "My highest wish is to find within, the God whom I find everywhere without", Kepler, quoted by J. H. Stirling, on the title-page of his translation of Schwegler's *Handbook of the History of Philosophy.*

में यह नाम उस पदार्थ का है जिस को सांख्य में महत्तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिः इति स्मृतः,
महान् इति च योगेषु, विरिंचिः इति चऽपि अजः।
सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः,
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः।
वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना,
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः।
सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं,
सर्वतः श्रुतिमल् लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति।
(म० भा०, शांति; अ० ३०८)

मनो महान् मतिः ब्रह्मा पूः बुद्धिः ख्यातिः ईश्वरः,
प्रज्ञा चितिः स्मृत्तिः संविद् विपुरं चोच्यते बुधैः।
(वायु० पु०, पूर्वार्ध, अ० ४)

अव्यक्तः पावनोऽचिंत्यः सहस्रांशुः हिरण्मयः,
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विष्णुः शंभुः स्वयंभवः।
बुद्धिः प्रज्ञा उपलब्धिश्च संवित् ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः,
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।
(अनुगीता, अ० २६)

स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा धाता वेदनिधिर्विधिः।
(अमर-कोश)

ब्रह्म की, परमात्मा, परम पुरुष, की, प्रकृति का पहिला आविर्भाव ब्रह्मा। जैसे समुद्र में लहर।

अपारे ब्रह्मणि ब्रह्मा, स्वभाववशतः स्वयं,
जातः स्पंदमयो, नित्यम्, उर्मिः अंबुनिधौ इव।
(योग वासिष्ठ)

आत्मा का पहिला रूप बुद्धि, जैसे सूर्य का पहिला रूप ज्योति। इसी पदार्थ के विविध पक्षों, पहलुओं, ऐस्पेक्ट्स्[1] को, सूफ़ी इस्तिलाह मे, अहद का पहिला इज़्हार वाहिदीयत, अक़्लि-अव्वल, अक़्लि-कुल, रूहि-कुल, लौहि-महफ़ूज़, उम्मुल्-किताब, हक़ीक़ति मुहम्मदी, इत्यादि नाम से कहते हैं। ग्रीस देश के दार्शनिक, नूस, डीमियर्गास[2], आदि। ईसाई मिस्टिक और ग्नास्टिक[3] सम्प्रदाय के विद्वान्, होली गोस्ट, क्राइ-स्टास, ओवरसोल[4] आदि। पच्छिम के दार्शनिक, ऐनिमा मंडी, यूनिव-र्सल रीज़न, दी अनूकान्शस-विल-ऐंड-इमैजिनेशन, कास्मिक ऐडियेशन, मैस-माइंड, कलेक्टिव इंटेलिजेन्स, डिफ़्यूज़्ड इंटेलिजेन्स,[5] प्रभृति नामो से।

संस्कृत के कुछ नाम, इसी पदार्थ के, उद्धृत श्लोकों मे दिये हैं। इन के सिवा और भी बहुत हैं, सूक्ष्म गुणो, पक्षों, रूपों, लक्षणो के भेद से। अधिक प्रसिद्ध पौराणिक नाम, ब्रह्मा-विष्णु-शिव हैं, और दार्शनिक नाम महत् बुद्धि, विद्याऽविद्या रूपिणी माया, शक्ति, आदि। 'बृंहयति जगत् इति ब्रह्मा,' जगत् को जो 'बढ़ावै, फैलावै'। 'विसिनोति सर्वान् प्राणिनः, विशति वा सर्वेषु प्राणिषु, इति विष्णुः', जो सब के भीतर पैठ कर सब को एक दूसरे से बाँधे रहे। 'शेते सर्वभूतेषु इति शिवः,' सब मे सोआ हुआ है। 'वसति सर्वेषु, स्ववासनया वासयति सर्वमनांसि इति, वासुदेवः,' सब हृदयों मे बसा है, सब को अपनी वासना से वासित करता है। इसी से लोकमत, पब्लिक ओपिनियन, वर्ल्ड-ओपि-

---

१ Aspects.

२ Nous, Demiurgos.

३ Mystics, Gnostics.

४ Holy Ghost, Christos, Oversoul.

५ Anima Mundi, Universal Reason, The Unconscious, Unconscious-Will-and-Imagination, Cosmic Ideation, Mass Mind, Collective Intelligence, Diffused Intelligence.

नियन[1], मे इतना बल है, कि बड़े-बड़े युद्धप्रिय मानव-हिंसक देश-विजेता सेनाधिप भी, उस को शस्त्रास्त्र-संनद्ध सेनाओं से अधिक प्रबल मानते, और उस से डरते, रहे हैं। जब वासुदेव विश्वात्मा-ओवरसोल-ऐनिमामंडी-रूहिकुल की राय बदलती है तब बड़े-बड़े राष्ट्रों के रूप तत्काल बदल जाते हैं। सब शास्त्र, सब अनंत ज्ञान विज्ञान, इसी मे भरे पड़े हैं, इसी से निकलते हैं, और इसी मे फिर लीन हो जाते हैं। किसी मनुष्य का कोई नई बात पाना, नये शास्त्र का आरंभ और प्रवर्तन करना, नया आविष्कार, ईजाद, उपज्ञ, करना, मानो इसी समुद्र मे गोता लगा कर एक मोती ले आना है, उस छोटे अंश मे अपनी अक़्ल को, बुद्धि को, अक़्लि-कुल से, महा बुद्धि से, अनंत बुद्धि से, महत्तत्व महानात्मा से, मिला देना है।

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः।
अद्भुतस्त्वऽननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति। (भागवत)
विद्यते स च सर्वस्मिन्, सर्वं तस्मिंश्च विद्यते,
कृत्स्नं च विंदते ज्ञानं, तस्मात्संविन्महान् स्मृतः।
वर्त्तमानानि अतीतानि तथा च ऽनागतानि अपि,
स्मरते सर्वकार्याणि, तेन ऽसौ स्मृतिरुच्यते।
ज्ञानादीनि च रूपाणि क्रतु-कर्म-फलानि च,
चिनोति यस्माद् भोगार्थं तेन ऽसौ चितिरुच्यते।
(सर्वभूत-भवद्-भव्य-भाव-संचयनात्तथा)।
द्वंद्वानां विपुलीभावाद् विपुरः चोच्यते बुधैः। (वायु-पु०)

भूत, भवद्, भविष्य, सब ज्ञान, सब अनुभव, सब भाव, सब पदार्थ इसी मे हैं। सब का इस को सदा स्मरण रहता है, इस से इस का नाम स्मृति है; सब का संचय है, इस लिये चिति; इत्यादि। सूफ़ियों ने भी कहा है,

---

[1] Public Opinion, World Opinion.

जो इल्मो हिक्मत का वो है दाना
तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद;
हैं अपने सीने मे उस से ज़ायद्
जो बात बाएज़ किताब मे है।
लौहि-मह.फूज़स्त दर मानी दिलत;
हर चि मी ख्वाही शवद् .जू हासिलत्।
दरहक़ीक़त .खुद तु ई उम्मुल् किताब,
.खुद जे .खुद आयाति .खुदा रा बाज़ याब।
आवाज़-इ खल्क़ नक़्कार-इ .खुदा।

अपने दिल मे, समाज के हृदय मे, बुद्धि मे, सूत्रात्मा मे, सब कुछ भरा है। जिस विषय की तीव्र आकांक्षा समाज मे उपजती है, उस विषय का ज्ञान भी शीघ्र ही उपजता (उपज्ञात होता) है। ईजाद, उपज्ञा, को गहिरा स्मरण ही समझना चाहिये। न्याय-सूत्र मे कहा है, "स्मरणं तु आत्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्", परम-आत्मा ज्ञानमय है, उस का स्वभाव ही ज्ञातृत्व सर्वज्ञत्व है, इसी लिये जीव-आत्मा को स्मरण होता है।

तो पौराणिक रूपक भी ठीक है कि ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न कर के उन को ज्ञान दिया, और उन्हों ने राजाओं को सिखाया। आज भी यह रूपक प्रत्यक्ष चरितार्थ है। नयी 'सांयंटिफ़क डिस्कवरी',[१] वैज्ञानिक आविष्कार, विज्ञानाचार्य करते हैं; तदनुसार शासक वर्ग धर्म क़ानून बनाता है। इसी प्रकार से, पुराकाल मे, जब आत्मविद्या की समाज मे तीव्र आवश्यकता और इच्छा हुई तब वह प्रकटी, समाज के योग्यतम मनुष्यों की बुद्धि मे उस ने अवतार लिया, और उस का उपयोग, प्रयोग, मनुष्यों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों के नियमन, शोधन, प्रसादन के लिये, किया गया।

---

१ Scientific discovery.

ब्रह्म और धर्म । राजविद्या और राजधर्म

इतिहास-पुराणो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह विद्या, भारतवर्ष की उत्कृष्टावस्था मे, कभी भी केवल संन्यासोपयोगिनी ही नहीं रही, प्रत्युत सदा समग्र सांसारिक व्यवहार की शोधिनी भी समझी गई। धर्म-जिज्ञासा, ब्रह्म-जिज्ञासा, दोनो ही दर्शन की विषय हैं। प्रसिद्ध छः दर्शनो मे वैशेषिक आदिम और वेदांत अंतिम, समझा जाता है। वैशेषिक मे प्रायः बहिर्मुख दृष्टि के पदार्थों के विशेष विशेष धर्मों का विशेषतः, और मनुष्य के कर्त्तव्य कर्मविशेष रूपी धर्मों का सामान्यतः और आपाततः, विचार किया है। वेदांत मे प्रायः अंतर्मुख और फिर सर्वतोमुख दृष्टि से ब्रह्म का दर्शन किया गया है, जिसी के स्व-भाव से सब धर्म निकलते हैं, जिसी की प्रकृति पर सब धर्म प्रतिष्ठित हैं, जिस ब्रह्मतत्व का अभ्रांत ज्ञान सम्भाव्य है, जिस ब्रह्म के अनुभव करने वाली अवस्था का एक नाम इसी हेतु से, योग दर्शन मे, 'धर्ममेघ-समाधि' कहा है। 'धर्मान्, संसारचक्रनियमान्, विधीन् मेहति, वर्षति, प्रकटी-करोति, उत्पादयति च ज्ञापयति च, इति धर्ममेघः'। संसार-चक्र के नियम वा विधि रूपी धर्म[१] और उन का ज्ञान, जिस से उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्मावस्था का नाम धर्ममेघ और धर्ममेघसमाधि है।

ब्रह्म और धर्म, वेदांत और मीमांसा, ज्ञान और कर्म, वेद और लोक (इतिहास-पुराण), शास्त्र और व्यवहार, सिद्धांत और प्रयोग, राजविद्या और राजधर्म, नय और चार, सायंस और ऐप्लिकेशन, थियरी और प्रैक्टिस, मेटाफ़िज़िक्स और एथिक्स-डोमेस्टिक्स-पेडागोजिक्स-ईकोनामिक्स-सोसियोनामिक्स-पालिटिक्स,[२] इल्म और अमल, का पद पद पर

---

१ Law of Nature, Laws of World-Order.

२ Science and application; theory and practice; metaphysics and ethics—domestics—pedagogics—economics—socionomics—politics.

संबंध है। बिना एक के दूसरा सधता ही नहीं। मनु का आदेश है,

> ध्यानिकं सर्वमेव एतद् यद् 'एतद्'-अभिशब्दितम्;
> न हिअ नध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।
> सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च,
> सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविदर्हति।
> एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः,
> स विज्ञेयः परो धर्मो, न ऽज्ञानां उदितो ऽयुतैः।

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है,

> चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्, त्रैविद्यमेव वा,
> सा ब्रूते यं स धर्मः स्याद्, एको वा ऽध्यात्मवित्तमः।

वैयक्तिक और सामाजिक, वैयष्टिक, और सामाष्टिक, प्रात्येकिक और सामूहिक[१] मानव जीवन के किसी भी अंग का ठीक ठीक प्रबन्ध, ऐसा मनुष्य कैसे कर सकेगा, जिस को यह ज्ञान नहीं है कि मनुष्य क्या है, उस की आत्मा का स्वरूप क्या है, उस की प्रकृति, उस का स्वभाव, उस का चित्त, और चित्त की संस्क्रिया विक्रिया, क्या है, उस के शरीर की बनावट और धर्म और गुण दोष, आरोग्य सारोग्य, क्या है, उस के जीवन का तत्त्व क्या है, जीना मरना क्या है, जीवन के हेतु और उस के लक्षण क्या हैं—ऐसी बातों का जिस को ज्ञान है, जो अध्यात्मवित् है, उसी को धर्म के व्यवसान और धर्म के प्रवर्तन के प्रभावी और विशाल कार्य सौंपने चाहियें। एक भी मनुष्य, यदि सचमुच अध्यात्म-वित्तम है तो, जो निर्णय कर दे वह धर्म ठीक ही होगा। दस सहस्र भी मूर्ख मिल कर यदि कहैं कि यह धर्म है तो वह धर्म नहीं मानना चाहिये। भारतीय समाज का सब प्राचीन प्रबन्ध, इसी हेतु

---

१ Individual and Social, Single and Collective.

से अध्यात्मविद्या की नीवी पर, फ़िलासोफ़ी और साइकालोजी [१] की बुनियाद पर, बाँधा गया था।

इस देश के प्राचीन विचार मे धर्म और ब्रह्म का कैसा निकट संबंध था, कैसा इन के बीच मे प्राण-संबंध माना जाता था, इस का उदाहरण मनु के श्लोक मे देख पड़ता है, यथा,

जायंते दुर्विवाहेषु ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः। (३—४१)

अनमेल, बेजोड़, अनुचित, दुःशील, दुष्ट भाव से प्रेरित, दुर्विवाहों से, ब्रह्म और धर्म का, सज्ज्ञान और सदाचार का, द्रोह करने करने वाली सन्तान उत्पन्न होती है। यह एक गम्भीर बात अध्यात्म-विद्या की, सैको-फ़िजिक्स [२] की, है। जो अध्यात्मविद्या, राजविद्या, दुःख के मूल का, आध्यात्मिक मानस दुःख का, मूलोच्छेद करने का उपाय बताती है, वह उस मूल दुःख के सांसारिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, शाखा-पल्लव-रूप दुःखों को भी काटने, छाँटने, कम करने का उपाय, निश्चयेन, राजधर्म के द्वारा बताती है।

राजधर्म के, जिसी के दूसरे नाम राजशास्त्र, राजनीति, दंडनीति, नीतिशास्त्र, आदि हैं, ग्रन्थों मे, धर्म-परिकल्पक ब्राह्मण और धर्म-प्रवर्तक क्षत्रिय अर्थात् शासक के लिये, आन्वीक्षिकी विद्या के ज्ञान की आवश्यकता सब से पहिले रक्खी गई है।

मनु की, सब शासकों, राजाओं, अधिकारियों के लिये, आज्ञा है।

तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ;
बहवोऽविनयात् नष्टाः राजानः सपरिच्छदाः।
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां, दंडनीतिं च शाश्वतीम् ,
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां ; वार्तारम्भांश्च लोकतः।

---

१ Philosophy and psychology.

२ Psycho-physics ; higher eugenics.

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशं ;
जितेंद्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।
(७–३९, ४०, ४३, ४४)

जिस को शासन का, प्रजा के पालन का, कार्य करना है, (और याद रखने की बात है कि सभी गृहस्थ, सभी व्यवहारी, अपने गृह और व्यवहार के मंडल के शासक राजा अधिकारी होते हैं), उस को सुविनीतात्मा होना चाहिये, और नित्य-नित्य वृद्धों से, विद्वानों से, अधिकाधिक विद्या और विनय सीखते रहना चाहिये[१] । बहुतेरे राजा, अपने परिच्छद परिवार सहित, अविनय के, उद्दंडता, उच्छृंखलता, स्वच्छंदता के कारण नष्ट हो गये । इस लिये वेदों के, विविध शास्त्रों के, जानने वालों से, त्रयी विद्या को, वेदों, वेदांगों, मीमांसा, धर्मशास्त्र, और पुराणों को; तथा शाश्वत काल से, सदा, हित करने वाली दंडनीति को, तथा अन्वीक्षिकी को, सीखें[२] ; वार्त्ता-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र को, स्वयं साक्षात् लोक के व्यवहार को देख कर सीखे ; और अपनी इन्द्रियों को वश मे रखने का यत्न दिन रात करता रहै । जिस की इन्द्रियाँ वश में हैं, वही प्रजा को भी अपने वश में रख सकता है ; जो स्वयं सन्मार्ग पर चलता है, वही उनको सन्मार्ग पर चला सकता है ; जो अपना सच्चा कल्याण करना जानता है, वही उन का सच्चा कल्याण कर सकता है । जो आत्मज्ञानी नहीं है वह इन्द्रियसेवी, मिथ्या-स्वार्थी, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि से अंध हो कर, कूट नीति से,[३] धर्म के विरुद्ध दुर्नीति से, काम ले कर, पहिले प्रजा को पीड़ा देगा फिर आप स्वयं नष्ट हो जायगा ।

---

१ विशेषेण नयनं, leading, guiding, training, in special ways; discipline.

२ अंगानि, वेदाश्चत्वारो, मीमांसा, न्यायविस्तरः, धर्मशास्त्रपुराणानि, त्रयी इदं सर्वमुच्यते । (शुक्रनीति १—१५५)

३ Machiavellism, unprincipled and vicious policy.

शुक्र प्रभृति दूसरे नीति शास्त्रकारों ने भी यही अर्थ कहा है,

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दंडनीतिश्च शाश्वती,
विद्याश्चतस्रः एवैताः अभ्यसेन्नृपतिः सदा।
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदांताद्यं प्रतिष्ठितम्।
आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्याद् ईक्षणात्सुखदुःखयोः;
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति।

(शुक्रनीति, १-१५२)

राजा को, शासनाधिकारी को, जिस को मनुष्यों का पालन रक्षण करना है, इन्ही चार विद्याओं का अभ्यास करना चाहिये। आन्वीक्षिकी का अर्थ है सत्तर्क सदनुमान करने का शास्त्र, न्याय-शास्त्र, तथा वेदांत, आत्म-विद्या। यह नाम, आन्वीक्षिकी, इस विद्या का इस हेतु से पड़ा है कि इस से सुख और दुःख के स्वरूप और कारणों का अन्वीक्षण -परीक्षण किया जाता है, और इस ईक्षण का, दर्शन का, सुख दुःख के तत्त्व की पहिचान का, फल यह होता है कि हर्ष के औद्धत्य और शोक के विषाद का व्युदास निरास कर के, अधिकारी सज्जन, शांत स्वस्थ निष्पक्षपात चित्त से, अपना कर्त्तव्य कर सकता है और करता है।

कौटल्य ने अर्थशास्त्र मे कहा है,

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्चेति विद्याः। सांख्यं योगो लोकायतं च इत्यान्वीक्षिकी। बलाबले चैतासां (अन्य-विद्यानां) हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति, व्यसनेऽभ्यु-दये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञा-वाक्य-वैशारद्यं च करोति।

प्रदीपः सर्वविद्यानां, उपायः सर्वकर्मणाम्,
आश्रयः सर्वधर्माणां, शश्वदान्वीक्षिकी मता।

विद्या-विनय-हेतुरिन्द्रियजयः काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्ष-त्यागात् कार्यः। कृत्स्नं हि शास्त्रमिंद्रियजयः। तद्विरुद्धप्रवृत्तिः

चातुरंतोऽपि राजा सद्यो विनश्यति । (कौटल्यकृत अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० २; अ० ६) ।

राजा के सीखने की चार विद्याओं मे आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत सांख्य योग और लोकायत अर्थात् चार्वाकमत भी है । लोकायत मत यह है कि लोक ही, दृश्य ही, इन्द्रिय का विषय ही, मुख्य है, सब कुछ है । इस से आरंभ कर के जीव, क्रम से, इस के अत्यन्त विपरीत, विवर्त, तथ्य को प्राप्त करता है, कि द्रष्टा ही, ईक्षिता ही, चेतन, आत्मा 'मै' ही, मुख्य है, सब कुछ है, और दृश्य ऐन्द्रिय लोक सब इस के अधीन, इस के लिए, इसी का रचा हुआ, है । जब इस तथ्य को अनुभव कर के 'तथागत' हो जाता है, तब आन्वीक्षिकी विद्या परिनिष्पन्न होती है, और बुद्धि स्थिर होती है । इस विद्या से, अन्य सब अवांतर सुख-साधक दुःख-निवारक शास्त्रों विद्याओं का बलाबल, तारतम्य, जान पड़ता है; मनुष्य के लिये कौन अधिक उपयोगी है कौन कम, किस का स्थान कहाँ है, किस का प्रयोग कहाँ पर कब कैसे करना चाहिये, उन का परस्पर संबंध क्या है, इत्यादि । इन सब बातों का हेतु के सहित अन्वीक्षण प्रतिपादन कर के यह विद्या लोक का उपकार करती है । यह विद्या व्यसन मे, आपत्ति मे, क्षोभ और शोक उत्पन्न करने वाली अवस्था मे, तथा अभ्युदय मे, अति हर्ष और उद्धतता उत्पन्न करने वाली दशा मे, मनुष्य की बुद्धि को स्थिर रखती है; तथा प्रज्ञा को, और वाणी को भी, विशारद निर्मल उज्ज्वल बनाती है, जैसे शरद् ऋतु जल को । वाल्मीकि जी ने, आदिकाव्य रामायण मे, शरत्काल के वर्णन मे उपमा दी है, 'वेदांतिनामिव मनः प्रससाद चाम्भः'', शरद् ऋतु मे नदियों का जल ऐसा निर्मल प्रसन्न प्रसाद-मय हो गया जैसा वेदान्तियों का मन । ऐसे हेतुओं से यह विद्या सब विद्याओं का प्रदीप है, सब पर प्रकाश, रौशनी, डालने वाली है । इस के बिना उन का मर्म अँधेरे में छिपा रह जाता है । तथा, यह विद्या सब सत्कर्मों का

प्रधान उपाय है, साधक है, और सब सद्धर्मों का सदा मुख्य आश्रय है; बिना इस की सनातन परमात्मा रूपी नींवी के, जड़ मूल बुनियाद के, सद्धर्म का भवन बन ही नहीं सकता, खड़ा ही नहीं रह सकता। सब विद्या और सब विनय का हेतु इन्द्रियजय है। सो काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्ष आदि के त्याग से ही सध सकता है। इस त्याग का और आन्वीक्षिकी विद्या का अन्योऽन्याश्रय है। इन्द्रियजय ऐसा आवश्यक है कि इस को यदि समग्र शास्त्र का, विशेषतः समग्र राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का, सार कहैं तो भी ठीक है। इस के विरुद्ध आचरण करने वाला, इन्द्रियों के वश मे अपने को डाल देने वाला, राजा, चाहे चारो दिशा के समुद्रों तक की समस्त पृथिवी का भी मालिक, 'चतुरुदधि-मालामेखलायाः भुवो भर्ता', भी क्यों न हो, सद्यः विनष्ट हो जाता है; यथा नहुष, रावण, दुर्योधन आदि।

कौटलीय अर्थ-शास्त्र का उक्त श्लोक, वात्स्यायन के रचे न्याय-भाष्य मे भी, पहिले सूत्र के भाष्य मे मिलता है, केवल इतने भेद से कि चतुर्थ पाद यों पढ़ा है, 'विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।'

समग्र भगवद्गीता स्वयं आत्मविद्या का सार है, और परम व्यावहारिक भी है; 'तस्माद्युध्यस्व भारत; मामनुस्मर युध्य च; नष्टो मोह, स्मृतिर्लब्धा, करिष्ये वचनं तव;' यही उस के बीज और फल हैं—ऐसा तो प्रसिद्ध ही है। फिर भी विशेष रूप से उस में कहा है,

> अध्यात्मविद्या विद्यानां,वादः प्रवदतामहम्।
> सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहं, अर्जुन!
> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः,
> वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते।

'तत्वबुभूषया वादः,' तत्त्व जानने की सच्ची इच्छा से जो उत्तर-प्रत्युत्तर किया जाय, ऐसा श्रेष्ठ वाद 'मै' हूँ, जल्प वितंडा आदि नहीं हूँ। अर्थात् आत्मा की सत्ता, सत्यता, उसी उक्ति-प्रत्युक्ति मे है जो सत्य के

जानने की सच्ची कामना से भावित प्रेरित है। और ऐसे वाद के द्वारा अध्यात्मविद्या सिद्ध होती है, जो ही विद्या, सब विद्याओं में, 'मैं हूँ,' अर्थात् इसी विद्या मे मेरा, परमात्मा का, तात्विक स्वरूप देख पड़ता है। वह स्वरूप क्या है ? तो समस्त असंख्य सृष्टियों, संसारों, विश्वों, सौरादि सम्प्रदायों, का आदि मध्य और अन्त भी है; सब विश्व इसी मे जनमते, ठहरते, लीन होते हैं; सब चेतना के भीतर हैं। तथा इस अध्यात्मविद्या के तत्व को जानने वाला मनुष्य दुःख से उद्विग्न नहीं होता, राग द्वेष भय आदि को दूर कर के स्थितधीः स्थितप्रज्ञ रहता है। कौटल्य के शब्द गीता के इन्हीं शब्दों के अनुवाद हैं।

योग-वासिष्ठ शुद्ध वेदान्त का ग्रन्थ समझा जाता है। वेदांती मंडल मे उस के विषय मे यहाँ तक प्रसिद्ध है, कि अन्य सब वेदान्त के प्रचलित ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्र, भाष्य समेत, और ('वार्तिकांता ब्रह्मविद्या') सुरेश्वर-कृत बृहदारण्यक-वार्त्तिक सहित, सब साधनावस्था के ग्रन्थ हैं, और योग-वासिष्ठ सिद्धावस्था का ग्रंथ है। सो उस योग-वासिष्ठ में, नीचे लिखे हुए, तथा उन के समान, श्लोक स्थान स्थान पर मिलते हैं, जो दिखाते हैं कि वेदान्त शास्त्र केवल स्वप्न-दर्शियों का मानस लूता-तंतु-जाल नहीं है, प्रत्युत नितांत व्यावहारिक, व्यवहार का शोधक, शास्त्र है।

कर्कटी के उपाख्यान मे कहा है,

राजा चादौ विवेकेन योजनीयः सुमंत्रिणा;
तेनार्यतामुपायाति; यथा राजा तथा प्रजाः।
समस्तगुणजालानामध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ;
तद्विद् राजा भवेद् राजा, तद्विन् मंत्री च मंत्रवित्।
प्रभुत्वं समदर्शित्वं, तच्च स्याद् राजविद्यया;
तामेव यो न जानाति, नासौ मंत्री, न सोऽधिपः।

(प्र० ३, अ० ७८).

यदि राजा को स्वयं विवेक न हो तो मंत्री का, मंत्र, सलाह, देने वाले का, पहिला कर्तव्य यह है कि, राजा को विवेक सिखावै, तब राजा आर्य बनेगा; और जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है। सब गुणो के समूहों मे सब से उत्तम आत्म-ज्ञान है। उस का जानने वाला राजा, राजा; और उस का जाननेवाला मंत्री, मंत्री। प्रभुता का तत्त्व समदर्शिता। प्रभु को, शासक को, निष्पक्ष, समदर्शी, रागद्वेष से रहित होना चाहिये। जो समदर्शी है, उसी के प्रभुत्व को जनता हृदय से स्वीकार करती है, उसी का प्रभाव मानती है। वह समदर्शिता राजविद्या से, वेदांत से, वेद के, ज्ञान के, अन्त से, इन्तिहा से, परा काष्ठा से, ही मिलती है। जो ऐसी राजविद्या को नहीं जानता वह न सच्चा राजा है, न मंत्री।

ईशोपनिषत् के प्रायः प्रत्येक श्लोक मे ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, का समन्वय किया है। ईश उपनिषत् की विशेषता यह है कि यजुर्वेद के संहिता भाग का अन्तिम, चालीसवाँ, अध्याय भी है, और उपनिषत् भी है; एक और, मैत्रायणी उपनिषत्, को छोड़ के, जो कृष्णयजुः की मैत्रायणी शाखा की संहिता का एक अध्याय है, अन्य कोई उपनिषत् किसी वेद के संहिता भाग मे अन्तर्गत नहीं है।

इस प्रकार से सिद्ध होता है कि पश्चिम मे चाहे जो कुछ विचार इस विषय मे हो, कि फ़लसफ़ा निरा मन-बहलाव है, और फ़ुरसत वालों का बेकार बेसूद खेल है, पूर्व मे तो फ़िलासोफ़ी, थियोरेटिकल नहीं बल्कि बड़ी प्रैक्टिकल[१], भारत के उन्नति काल मे समझी गई है; और इसका मुख्य प्रयोजन मानस शांति, मानस दुःख की निवृत्ति हो कर, उसी का गौण, गुणभूत, और गुर्वर्थ प्रयोजन सांसारिक व्यवहार का संशोधन नियमन, और गृह-कार्य, समाज-कार्य, राज-कार्य, आदि का तज्जनित स्थिर बुद्धि से संचालन, और यथासम्भव व्यावहारिक दुःखों का निवर्त्तन और व्यावहारिक सुखों का वर्धन भी है।

---

१ Philosophy; theoretical; practical.

पश्चिम मे भी उक्त भाव, फ़िलासोफ़ी के अनादर का, कुछ ही काल तक, बीच मे, और विशेष मंडलियों मे ही, रहा है। पुराने समय मे ऐसा नहीं था, और अब फिर हवा बदल रही है। ग्रीस देश के प्लेटो नामक विद्वान् का मत पश्चिम देश के विद्वानो मे प्रसिद्ध है, यह कि शासक को फ़िलासोफ़र, दार्शनिक, भी होना चाहिये।[१]

इस मत की ओर आधुनिक विद्वान् भी झुक रहे हैं; इस का उदाहरण देखिये।

पश्चिम मे आत्मविद्या की ओर बढ़ता हुआ झुकाव

इंग्लिस्तान के एक प्रसिद्ध विज्ञान शास्त्री, जे० आर्थर टामसन, ने

१ E. G. Urwick, in the preface to his *The Message of Plato* (pub 1920) says he has used the present writer's *The Science of Social Organisation or the Laws of Manu* extensively in the earlier chapters. Plato himself says in *Republic*, p. 198 (English translation by Jowett, pub. 1888) :—"If in some foreign clime which is far away and beyond our ken, the practical Philosopher is, or has been, or shall be, compelled by a superior power to have the charge of the state, (there) this our constitution has been and is and will be."

प्लेटो के समय मे रोम, ग्रीस, मिस्र, अरब, इरान और भारत मे, रोजगार व्यापार के लिये, इतना परस्पर आना जाना था, कि प्रायः निश्चय समझना चाहिये कि प्लेटो को मनु के आध्यात्मिक वर्णाश्रम धर्म और राज्यप्रबन्ध की कुछ टूटी फूटी खबर मिली, और उसी के अनुसार, विकलित रूप से, शुद्ध और सकल नहीं, कुछ कल्पना अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ मे उस ने लिख दी। कुछ पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि प्लेटो, युवावस्था मे, भारत आया था।

जो लिखा है,[१] उस का आशय यह है। 'केमिस्ट्री, जिस को अधिभूत शास्त्र[२] कह सकते हैं, फ़िज़िक्स, जिस को अधिदेव शास्त्र[३] कह सकते हैं, और बायालोजी, साइकालोजी, और सोशियालोजी, तीन जीव-शास्त्र, जो

१ "In this chapter we shall begin with Chemistry and Physics, in the hardly separable sciences of Matter and Energy, and work upwards through Biology, the Science of Organism, to Psychology and Sociology, the Science of Man. The first quarter of the twentieth century has been marked by a fresh enthusiasm for what might be called the scientific study of Man, and since Man is essentially a social organism this study has had, as one of its corollaries, a recognition of the necessity for Sociology, the crowning science. Just as there can be no true art of Medicine without foundations in Physiology so there can be no true Politics, either national or international, until there are foundations in Sociology, securely laid and skilfully built on;" *These Eventful Years*, Vol. II, pp 423—446, ch. xvii, "What Science can do for Man," (pub 1923).

२ तत्त्वों, महाभूतों, 'एलिमेंट्स', का शास्त्र। साठ वर्ष पहिले तक यूरोप मे साठ सत्तर तत्त्व माने जाते थे। रूसी केमिस्ट वैज्ञानिक मेण्डेलेयेफ़ की उपज्ञाओं के बाद यह विश्वास दिन दिन दृढ़ होता जाता है कि सब तत्त्व क्रमशः एक ही मूल प्रकृति की परिणाम रूप विकृतियाँ हैं। भारतीय दार्शनिक दृष्टि से, इन विकृतियों मे, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, पाँच विकृतियाँ, अर्थात् पाँच महाभूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मुख्य हैं। क्यों पाँच ही ज्ञानेन्द्रिय, पाँच ही कर्मेन्द्रिय, पाँच ही तन्मात्र, पाँच ही महाभूत, इत्यादि हैं, इस विषय पर प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों में विचार नहीं मिलता।

३ शक्तियों, प्राणों, देवों, का शास्त्र। पश्चिम मे, इस शास्त्र मे अब तक अधिकतर 'सौंड' अर्थात् शब्द शक्ति, 'लैट' अर्थात् ज्योतिः

अध्यात्म शास्त्र के अंग कहे जा सकते हैं, इन्हीं को शास्त्रों मे प्रधान कहना चाहिये । इन मे भी सोशियालोजी, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र, शिरोमणि है । व्यक्ति के, व्यष्टि के, अध्यात्म का विवरण, अन्तः करण बहिःकरण का वर्णन, यदि साइकालोजी है, तो समाज की, मानवसमष्टि की, साइकालोजी ही सोशियालोजी है । यदि एक प्रात्येकिक, वैयष्टिक, प्रातिस्विक, वैयक्तिक, 'पर्सनल', 'इन्डिविड्युअल', अध्यात्म-शास्त्र है, तो दूसरा सामूहिक, सामष्टिक, सार्वस्विक, जातीयक, 'कलेक्टिव', 'सोशल', अध्यात्म-शास्त्र है । और बिना सच्ची समाज-शास्त्र रूपी नीवी के, सच्ची, सुफल, दृढ़ राजनीति की इमारत बन नहीं सकती । जैसे, बिना शरीर-स्थान के, अर्थात् शरीर के सब अवयवों के उत्तम ज्ञान के, सच्चा चिकित्सा-शास्त्र असंभाव्य है ।'

इन्हीं विद्वान् ने दूसरे ग्रंथ मे इस आकाश से लिखा है,[१]

शक्ति, 'हीट' उष्णता, ताप, अथवा अग्नि शक्ति, 'इलेक्ट्रिसिटी' अर्थात् विद्युत् शक्ति, 'मैगनेटिज़्म' अर्थात् आकर्षण शक्ति, का अन्वेषण किया गया है । अब 'एक्स-रे' आदि का आविष्कार होने लगा है ।

भारतीय ज्ञान इस विषय का सब लुप्त गुप्त हो रहा है । इङ्गित मात्र मिलते हैं, कि वेद मंत्रों की शक्ति उन के शब्द और स्वर (सौंड) मे बसती है, भूस्थानी देवता अग्नि (हीट), अँतरिक्षस्थानी विद्युत् (इलेक्ट्रिसिटी), द्युस्थानी सौर ज्योतिः (लैट) हैं; जैसे पाँच मुख्य इन्द्रियों के विषय-भूत तत्त्व और उन के गुण हैं, वैसे ही एक एक तत्त्व के साथ एक एक विशेष शक्ति का प्रकार (अभिमानी देवता, प्राण) होना चाहिये, और इन के अवांतर भेद बहुत हैं, यथा उन्चास भेद मरुत् (वायु) के, उन्चास अग्नि के; इत्यादि ।

१ "The five great fundamental sciences are (1) Sociology (2) Psychology (3) Biology—of the animate order, (4) Physics, and (5) Chemistry—of the physical

'यद्यपि उक्त पाँच मुख्य शास्त्रों मे सोशियालोजी, समाज शास्त्र, को प्रधान कहा, तथापि इन पाँचों के ऊपर मेटाफ़िज़िक अर्थात् ब्रह्म-विद्या, आत्म-विद्या, का स्थान है, क्योंकि इन पाँचों का समन्वय करना, ज्ञान समूह मे, अर्थात् समग्र ज्ञान-पुरुष के काय-व्यूह मे, अंगत्वेन इन का यथा-स्थान समावेश करना,[१] उन के तारतम्य, बलाबल, और उचित प्रयोग, का निर्णय करना, इन के अन्तर्गत वस्तुओं के वर्णनो की समीक्षा कर के, उन वर्णनों के परस्पर विरोधों को दूर करना और उन की त्रुटियों की पूर्ति करना—यह काम ब्रह्म-विद्या ही कर सकती है।'

'सायंस, विज्ञान, तो "हाउ", "कथम्", अर्थात् कैसे—इतना ही बतलाता है, वस्तु-स्थिति का वर्णन मात्र कर देता है। उस का अर्थ लगाना, अभिप्राय बताना, "क्यों", "ह्वाइ", का निर्णय करना, यह मेटाफ़िज़िक, प्रज्ञान, का काम है। अर्थ का, अभिप्राय का, प्रयोजन का, "किमर्थ", "कस्मात्", क्यों, किस लिये, किस के लिये—इन प्रश्नो का आधार तो चेतन "लाइफ़"[२] है। और सायंस-विज्ञान चेतन का किंकर है, चेतन सायंस-विज्ञान का किंकर नहीं।'

यूरोप के बड़े यशस्वी, जगद्विख्यात, विज्ञान और प्रज्ञान के

---

order. The aim of science is *description of* facts ; the aim of Philosophy, their *interpretation*. There is much need for Metaphysics to function as a sublime Logic, testing the completeness and consistency of scientific description. *Why* things happen, is no proper question for Science; its sole business is *how* they happen. *Why* is the business of Metaphysics. Science is for Life, not Life for Science", *Introduction to Science*, (H. U. L. Series), pp. 47, 106, 165-7, 251.

१ यथा—छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते, इत्यादि।

२ How; Why; Life; Science; Metaphysic.

आचार्य हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय ने भी इसी आशय के वाक्य इन से पहिले कहे थे। ये सज्जन, ज्ञान के संग्रह की अनन्य भक्ति के कारण, उस के लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, तथा विविध प्रकार के अन्य त्याग और तपस्या, के हेतु से, सच्चे ऋषि-कल्प हुए। इन्हीं ने लिखा है,

'अध्यात्म-शास्त्र का अधिकार अन्य सब शास्त्रों से ऊँचा है। यह तो एक स्वलक्षण, विलक्षण, शास्त्र है, अद्वितीय है। इस के समान, इस का सजातीय, कोई दूसरा शास्त्र नहीं। यह दोहरा शास्त्र है। इस का संबंध ज्ञाता से भी, और ज्ञेय से भी है, अचेतन शरीर से भी और चेतन शरीरी से भी, विषय से भी, विषयी से भी। अन्य शास्त्रों का संबंध केवल विषयों से है, वे एकहरे शास्त्र हैं। यदि हम से पूछा जाय कि मानस पदार्थों का अनुवाद शारीर शब्दों मे करना अच्छा है, या शारीर का मानस मे, तो हम को दूसरा ही विकल्प, अर्थात् शारीर पदार्थों का मानस पदार्थों मे अनुवाद करना ही, अधिक उचित जान पड़ेगा।'[१]

श्री टामसन के वाक्य मे, शास्त्रों का राशीकरण पाँच मुख्य शास्त्रों मे और छठें मेटाफ़िज़िक मे, कहा गया; इस के आरम्भक प्रायः स्पेन्सर महोदय ही हैं। इन्हों ने मेटाफ़िज़िक, तथा बायालोजी, साइकालोजी, और सोसियालोजी पर बड़े बड़े और सर्वमान्य अति प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं[२]। और इन की इच्छा केमिस्ट्री, फ़िज़िक्स, ऐस्ट्रोनोमी (खगोल

---

१ "The claims of Psychology are not smaller but greater than those of any other Science. It is a double science which, as a whole, is quite *sui generis*. Were we compelled to choose between the alternatives of translating (1) mental into physical, or (2) physical into mental, phenomena, the latter alternative would seem the more acceptable of the two;" *H. Spencer, Principles of Psychology*, I, 141.

२ *First Principles*; *Principles of Biology, 2 vols.*; *Principles of Psychology, 2 vols*; *Principles of Sociology, 3*

शास्त्र), और जीयालोजी[१] (भूगोल-भूगर्भ-शास्त्र) पर भी ग्रन्थ लिख कर चेतनाचेतन जगत् का सम्पूर्ण चित्र खीचने की थी। पर यह इच्छा पूरी न हो सकी। यदि भारतीय दार्शनिक और पौराणिक शब्दों मे कहना हो तो यों कहेंगे, कि केमिस्ट्री और फ़िज़िक्स मे, 'अबुद्धिपूर्वः सर्गोऽयम्'[२], क्रमशः पंच महाभूतों और उन की शक्तियों, गुणो, का तथा अवांतर भेदों का, आविर्भाव दिखाया जाता है; फिर ऐस्ट्रोनोमी मे महा विराट् का, ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, से पूर्ण समस्त जगत् खगोल का वर्णन होता है; फिर जियालोजी मे पृथ्वी-गोल रूपी मध्य विराट् का; तथा सोशियालोजी मे 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि मानव-समाजात्मक विराट् का, विविध-वर्ग-वर्णात्मक विराट्[३] का, वर्णन होता है; और ब्रह्म-विद्या इन सब की संग्राहक व्यवस्थापक है। 'ब्रह्मविद्या सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा' (उप०)।

गणित और प्रज्ञान

'मैथेमैटिक्स',[४] गणित, का सच्चा रहस्य तब खुलेगा जब वह ब्रह्म-विद्या

---

vols.; इन के सिवा *Principles of Ethics, 2 vols.*, लिखा है, जिस को अंशतः *First Principles* अर्थात् Metaphysic का और अंशतः Psychology तथा Sociology का, अंग समझा जा सकता है।

१ Chemistry; Physics; Astronomy; Geology.

२ अर्थात् Unconscious Inorganic Evolution.

३ अर्थात् Organic Evolution, of organisms or individualities of various scales—sidereal systems. solar systems, single heavenly orbs, (stars and planets etc.) vital organisms dwelling on these orbs (gods, angels, men, animals, vegetables, minerals etc.), microscopic organisms, living in and forming the cells and tissues of these vital organisms etc., *ad infinitum.*

४ Mathematics.

के गुप्त लुप्त अंश के प्रकाश मे जाँची और जानी जायगी। यथा, रेखागणित (उक़्लैदिस) के पहिले साध्य का चित्र है—परस्पर गुथे हुए दो वृत्त, और उन के बीच मे एक समबाहु त्रिभुज। ऐसा चित्र आदि मे ही क्यों दिया? क्योंकि, श्रीयंत्र आदि के ऐसा, यह यन्त्र बहुत गभीर अर्थ का द्योतक है। इस मे आत्मविद्या का, वेदांत का, सार दिखा दिया है। दो 'वृत्त', आद्यन्तहीन, अनादि और अनन्त, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़, द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और अनात्मा हैं; अभेद्य सम्बन्ध से परस्पर बद्ध भी हैं, अलग भी हैं; इन के बीच, इस सम्बन्ध से, चित्त-देह-मय, तीन तुल्य बल वाले गुणो से बना, त्रिगुणात्मक जीव उत्पन्न होता है; इत्यादि।

भगवद्गीता का श्लोक है,

> यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति,
> तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

जगत् की, दृश्य पदार्थों की, विषयों की, असंख्य अनेकता को जब एकस्थ, एक मे, द्रष्टा मे, विषयी मे, स्थित, प्रतिष्ठित, देख ले, और उस एक से इस अनेक के विस्तार के प्रकार को भी जब जान ले, तब जीव का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है; तब जीव, ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न, प्रज्ञान और विज्ञान दोनो से पूर्ण, होता है, तथा स्वयं ब्रह्म पदार्थ, ब्रह्ममय, हो जाता है। इस सम्पूर्ण ज्ञान का पहिला अर्थ तो प्रज्ञान, मेटाफ़िज़िक, फ़िलासोफ़ी, है; दूसरा अंश, विज्ञान, सायंस है। पहिला शांति शास्त्र, मोक्ष शास्त्र, है; दूसरा शक्ति शास्त्र, योग शास्त्र, है। इस शक्ति शास्त्र का मर्म, गणित शास्त्र जान पड़ता है। योग शास्त्र, शक्ति शास्त्र, का अति अल्पांश रूप, व्यावहारिक प्रक्रिया शास्त्र, विज्ञान, प्रचलित है; उस मे संख्या, अनुपात, मात्रा[१] (जो सब गणित का अंग है) अत्यन्त

१ Numbers, proportions, degrees and quantities.

आवश्यक है। यदि रसायन-कीमिया मे, एंजिनियरिंग-कर्मांत मे, मेडि-सिन-चिकित्सा मे, प्रयोजनीय द्रव्यों की संख्या, मात्रा, अनुपात, पर ध्यान न रक्खा जाय तो कार्य बिगड़ जाय। इस लिये गणित को, एक रीति से, प्रज्ञान और विज्ञान को, जीव और देह को, परस्पर बाँधने की रशना, रस्सी, समझना चाहिये। पर इस 'सायंस आफ़ नम्बर्स'[1], यथा-तथ 'सांख्य', (संख्या, सम्यक् ख्यान), के रहस्य का ज्ञान अभी लौकिक मानव जगत् को नहीं मिला है। 'ब्रह्मा' के 'वेद' मे गूढ़ है। हो सकता है कि उस वेद के तात्त्विक ज्ञाता, 'वेद-द्रष्टा', 'मंत्र-द्रष्टा', और 'मंत्र-कृत्' ऋषियों को, तपः-सिद्धों को, हो; और साम्प्रत मानव जातियों की काम क्रोध लोभादि से अंध प्रकृति को देखते हुए, वे उन रहस्यों को इन की बुद्धि मे आने देना उचित नही समझते। जितना जान गये हैं उसी से प्रबल जातियों के प्रबल वर्ग, दुर्बलों की कोटियों का विनाशन और यमयातन कर रहे हैं। इस लिये ऐसी तीव्र उग्र शक्ति के देने वाले ज्ञान का तब तक प्रचार न होना ही अच्छा है जब तक मनुष्य मनुष्य नहीं हैं; राग द्वेष के विषय मे पशुओं से भी अधिक पतित हो रहे हैं[2]। अस्तु। प्रसंगवशात्, शास्त्रों के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे गणित शास्त्र की और उस के स्थान की चर्चा आ गई।

अध्यात्म विद्या की शाखा-प्रशाखा

प्रस्तुत विषय यह है कि पश्चिम मे भी अध्यात्म विद्या का आदर होने लगा है। अर्थात् यों तो इस विषय पर ग्रंथ यूरोप मे भी बहुतेरे, प्रत्येक शताब्दी मे, लिखे जाते ही रहे हैं, और इन का अध्ययन अध्या-पन भी होता ही रहा है, पर अब विशेष कर के उन वैज्ञानिक मंडलियों मे भी जिन मे इस का तिरस्कार ही चला था, कि यह अनुपयोगी जल्प विवाद मात्र का भंडार है, इस की व्यावहारिक उपयोगिता मे

१ Science of numbers.

२ "Where ignorance is bliss, tis folly to be wise".

विश्वास, और इस की शाखा-प्रशाखाओं का अन्वेषण, उन का अध्ययन और मानस विकारों की चिकित्सा मे, तथा व्यापारों मे (जिन मे इस के प्रयोग की संभावना भी नहीं की जाती थी), इस के प्रयोग का पक्षपात दिन दिन बढ़ रहा है।

इस का एक सीधा प्रमाण यह है, कि इधर तीस चालीस वर्ष के भीतर, साइकालोजी आफ् सेक्स (स्त्री-पुं-भेद, काम, मैथुन्य, की अध्यात्म विद्या), साइकालोजी आफ् रिलिजन (उपासना की), साइकालोजी आफ् आर्ट या ईस्थेटिक्स (ललित कला की), साइका-लोजी आफ् इंडस्ट्री (व्यापार की), साइकालोजी इन पालिटिक्स (शासन नीति की), साइकालोजी आफ् एविडेन्स (साक्षिता की), एक्सपेरिमेंटल साइकालोजी (अंतःकरण बहिष्करण के संबंध की परीक्षा के लिये 'योग्या' अर्थात् आज़माइश की), साइकालोजी आफ् एड्यूकेशन (शिक्षा की), साइकालोजी आफ् टाइम (काल, समय, की), साइकालोजी आफ् रीज़निङ् (तर्क, अनुमान, की), साइकालोजी आफ् लाफ़्टर (हास की), साइकालोजी आफ़ इमोशन (क्षोभ, संरम्भ, राग-द्वेष की), साइकालोजी आफ़ इन्सैनिटी (उन्माद की), साइकालोजी आफ़ कैरेक्टर (स्वभाव, प्रकृति, की), सोशल साइकालोजी (समाज की), फ़िलासोफ़ी आफ् म्युज़िक (संगीत की), साइकालोजी आफ् कलर (रंग की), साइकालोजी आफ लैंग्वेज (भाषा की), चाइल्ड-साइकालोजी (बालकों की), ऐनिमल साइकालोजी (पशुओं की), साइकालोजी आफ़ कन्वर्शन (हृदय-विवर्त्त, भाव-परिवर्त्त, की), साइकालोजी आफ़ दी सोशल इन्सेक्ट्स (संघजीवी कीट, यथा पिपीलिका, मधुमक्षिका, आदि की), साइकोलोजी आफ़ पाथोलोजी (मानस रोगों के चिकित्सा की), साइकालोजी आफ़ रिवोल्यूसन (राष्ट्र-विप्लव की), साइकालोजी आफ् दी क्रौड (जन-संकुल की), साइकालोजी आफ् लीडरशिप (नेतृत्व की), साइको-ऐनालिसिस (मानस रोग निदान), साइको-फ़िज़िक्स

(चित्त-देह संबंध), साइकिऐट्री (विकृत चित्त की वृत्तियाँ)[१], इत्यादि नामों की सैकड़ों अच्छी अच्छी ज्ञानवर्धक, विचारोद्बोधक, तथा चिन्ता-जनक, भ्रमकारक, और भयावह भी, पुस्तकें छपी हैं।

इन नामो से ही विदित हो जाता है कि मानव जीवन के सभी अंगों पर साइकालोजी का प्रभाव पश्चिम मे माना जाने लगा है। अंग्रेज़ी कवि की बहुत प्रसिद्ध पंक्ति है,

मानव के अध्ययन को उचित विषय है आप।[२]

'नो दाइ सेल्फ़', अपने को जानो; यह ग्रीस देश के 'सप्तर्षियों'[३] मे से, जिन का काल ईसा से छः सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, एक, काइलोन, का प्रवाद था। और हाल मे 'नो दाइ सेल्फ' नाम से एक ग्रंथ इटली देश के एक विद्वान् ने लिखा है, जिसका अनुवाद अंग्रेजी 'लाइब्रेरी आफ़ फ़िलासोफ़ी' नाम की ग्रंथमाला मे छपा है।

आत्म-विद्या और चित्त-विद्या।

इस स्थान पर यह कह देना चाहिये कि पश्चिम मे अब कुछ दिनो

---

१ Psychology of Sex; Psychology of Religion; P. of Art or Æsthetics; P. of Industry; P. in Politics; P. of Evidence; Experimental Psychology; P. of Education; P. of Time; P. of Reasoning; P. of Laughter; P. of Emotion; P. of Insanity; P. of Character; Social Psychology; Philosophy of Music; P. of Colour; P. of Language; Child-Psychology; Animal Psychology; Psychology of Conversion; P. of the Social Insects; Psycho-pathology; Psychology of Revolution; P, of the Crowd; P. of Leadership; Psycho-analysis; Psycho-Physics Psychiatry etc.

२ "The proper study of mankind is Man."

३ "Know thy-Self"; The Seven Sages of Greece.

से मेटफ़िज़िक को साइकालोजी से अलग करने की चाल चल पड़ी है, यह रविश एक दृष्टि से ठीक भी है। 'अणुरपि विशेषः अध्यवसायकरः', सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों का विवेक करने से ज्ञान का विस्तार, और निश्चय भी, बढ़ता है। विशेष और व्यक्त, सामान्य और अव्यक्त, प्रायः पर्यायवत् हैं। जितनी अधिक विशेषता, उतनी अधिक व्यक्ति, 'इंडिविड्युऐलिटी, पर्टिक्युलैरिटी, सिंग्युलैरिटी, स्पेशालिटी'[१]। जितनी अधिक समानता, उतनी अधिक अव्यक्ति, 'युनिवर्सैलिटी, जेनेरालिटी'[२]। पर, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्', इस का भी ध्यान रखना चाहिये। इतना विवेक करने का यत्न न करना चाहिये, कि विविक्तों में अनुस्यूत, अविवेकी, सब पदार्थों के अभेद्य सम्बन्ध का हेतु, एकता का सूत्र ही टूट जाय। टूट सकता ही नहीं। एकता और अनेकता, सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति, पृथक् नहीं किये जा सकते; इन का समवाय-सम्बन्ध है।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि, भारत !,
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना[३] ?

(भगवद्गीता)

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्,
ह्रासहेतुः विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु।
सामान्यमेकत्वकरं, विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्;
तुल्यार्थता तु सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः।

(चरक, अ० १)

सब भूतों, सब पदार्थों, का मध्य मात्र व्यक्त है, ज़ाहिर है; आदि

---

१ Individuality, Particularity, Singularity, Speciality.

२ Universality, Generality.

३ "Who knows ? From the Great Deep to the Great Deep he goes!", Tennyson. The Unmanifest, Indefinite, Unconscious, is on both sides of the Definite, Conscious, Manifest.

अन्त अव्यक्त हैं, बातिन हैं। सामान्य पर अधिक ध्यान देने से सब भावों की वृद्धि होती है; विशेष से ह्रास ; सामान्य से एकता, विशेष से पार्थक्य। जिन्स पर, तजनीस पर, ज़ोर देने से हम-जिन्सियत ज़ोर पकड़ती है, इत्तिहाद, इत्तिफ़ाक़, इत्तिसाल, यगानगी, दिल मे पैवस्त होती है ; शख़्स पर, तशख़ीस पर, ग़ौर करने से शख़्सियत बढ़ती है, ख़ुसूसियत, ग़ैरियत, बेगानगी, इम्तियाज़, इन्फ़िराक़, की तरफ़ दिल रुजू होता है। मै फ़ुलाँ शख़्स हूँ—यक मूठी हाड़ माँस से वस्ल हुआ, बाक़ी सब आदमियों से फ़स्ल हुआ; मै फ़ुलाँ क़ौम या मज़हब का हूँ—उस क़ौम या मज़हब वाले सब आदमियों मे मेल हुआ, बाक़ी सब क़ौमो मज़हबों से तनाव; मै इन्सान हूँ—सब इन्सानो से वहदत हो गई मगर ग़ैर-इन्सानो से ग़ैरियत रही; मै चेतन हूँ—सब चेतन जीव मेरे ही, मै ही, हो गये।

जगत् मे इन दोनों भावों की प्रवृत्ति सदा होती रहती है, इन का भी अच्छेद्य अभेद्य द्वंद्व है। मेटाफ़िज़िक, ब्रह्मविद्या, का तो बड़ा काम ही यह है कि इस सर्वव्यापी, सर्वसंग्रही, सर्वसंबंधकारी सूत्र को दृढ़ करे, सिद्ध करे, चित्त मे बैठा दे, कि

सर्वं सर्वेण सम्बद्धं, नैव भेदोऽस्ति कुत्रचित्।

'मेंटल और फ़िज़िकल फ़ेनामेना' का,[1] बौद्ध और भौतिक विकारों का, चित्त-वृत्तियों और शरीरावस्थाओं का, परस्परानुवाद करना, इस के सर्व-संग्रह के कार्यों मे एक कार्य है।

यथैव भेदोऽस्ति न कर्मदेहयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोः;
यथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोः;
यथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोः;
यथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोस्तथैव भेदोऽस्ति न ब्रह्मकर्मणोः।

(योग वासिष्ठ)

---

१ Mental and physical phenomena.

कर्म और देह मे भेद नहीं, देह और चित्त मे भेद नहीं, चित्त और जीव मे भेद नहीं, जीव और ब्रह्म मे भेद नहीं, ब्रह्म और कर्ममय संसरण-समष्टि मे भेद नहीं। समुद्र और वीची तरङ्ग लहरी बुद्‌बुद स्पंद मे भेद नहीं। ब्रह्म-सूत्र पर जो भाष्य शंकराचार्य ने रचा उस का नाम 'शारीरक भाष्य' रक्खा है। 'शरीरे भवः, शरीरेण व्यज्यते, इति शारीरः, शरीरवान् ब्रह्म'। 'अणोरणीयान्, महतो महीयान्', छोटे से छोटे, बड़े से बड़े, अनंत असंख्य जंगम्यमान जगत् पदार्थों का रूप धरे, अमूर्त्त होते हुए भी मूर्त्त ब्रह्म परमात्मा के विषय मे जो भाषण किया जाय वह शारीरक भाष्य। क्यों कि अमूर्त्त ब्रह्म का व्याख्यान तो मौन से ही होता है।

गुरोस्तु मौन व्याख्यानं, शिष्यास्तु उच्छिन्नसंशयाः।

निष्कर्ष यह कि मेटाफ़िज़िक और साइकालोजी मे विवेक करते हुए भी उन के घनिष्ठ संबंध को सदा याद रखना चाहिये। स्यात् अच्छा हो यदि यह संकेत स्थिर कर लिया जाय कि ब्रह्मविद्या का अंग्रेज़ी पर्याय मेटाफ़िज़िक, और अध्यात्मविद्या का साइकालोजी है; तथा आत्मविद्या शब्द दोनो का संग्राहक माना जाय। ग्रीक भाषा मे 'मेटा' का अर्थ 'परे' हैं, और 'फ़िज़िका' का द्रव्य, 'मात्रा, स्थूलेंद्रियों का समस्त विषय'; जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे है, अर्थात् परम-आत्मा, ब्रह्म, उस की विद्या ब्रह्म-विद्या, 'मेटाफ़िज़िक'। 'साइकी' का अर्थ 'चित्त, मनस्, जीव', और 'लोगास' का अर्थ 'शब्द, व्याख्यान, शास्त्र'; जीव का, चित्त का, अंतःकरण का शास्त्र अध्यात्मविद्या, 'साइकालोजी'। गीता मे कहा है, 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'; इस का अर्थ एक यह भी हो सकता है कि आत्मा का जो त्रिगुणात्मक स्वभाव है, जिसी को प्रकृति, जीव, चित्त, अंतःकरण आदि नामो से, सूक्ष्म सूक्ष्म भेदों से, पुकारते हैं, वही अध्यात्म है; उस की विद्या अध्यात्मविद्या है। समष्टि-अवस्था का नाम ब्रह्म, व्यष्टि-अवस्था का नाम ब्रह्मा, एक ब्रह्म-अंड का

अधिकारी। अव्यक्त आकार का नाम चिति, चित्, चेतन, चैतन्य, व्यक्त रूप का नाम चित्त। सार्वस्विक, 'यूनिवर्सल', दशा का नाम परमात्मा; प्रातिस्विक, 'इन्डिविड्युअल', दशा का नाम जीवात्मा। आत्मा शब्द परम का भी, चरम का भी, दोनो का संग्राहक।

आत्मविद्या के अवांतर विभाग

ऐसी सूक्ष्म विवेक की दृष्टि से अब फ़िलासोफी मे, कई पृथक्-पृथक् अंग माने जाने लगे हैं। (१) 'मेटाफ़िज़िक अथवा फ़िलासोफ़ी प्रापर, (२) साइकालोजी, (३) लाजिक, (४) एथिक्स, (५) ईस्थेटिक्स प्रभृति। कुछ दशाब्दी पूर्व, 'हिस्टरी आफ़ फ़िलासोफ़ी' भी इन्हीं के साथ एक और अंग समझा जाता था, और इस विषय के ग्रन्थों मे अन्य सब अंगों के विकास और विकासकों का इतिवृत्त लिखा जाता था। पर अब अलग-अलग 'हिस्टरी आफ़ एथिक्स', 'हिस्टरी आफ़ लाजिक', 'हिस्टरी आफ़ ईस्थेटिक्स', और 'हिस्टरी आफ़ साइकालोजी' पर ग्रन्थ लिखे और छापे जाने लगे हैं। गीता मे कहा है, 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे', अर्थात् मेरी, 'मै' की, मुझ परमात्मा की, विभूतियों का, विशेषों का, विस्तर ('डिटेल्स') का, अन्त नहीं है; कहाँ तक खोजोगे; मुख्य-मुख्य सामान्यों से, अनुगमो, निगमो, नियमो, लक्षणो से, सब विशेषों विस्तरों, का ग्रहण कर के सन्तोष करो। यही अर्थ मनु ने भी दूसरे प्रसंग मे कहा है, "विस्तरं तु न कारयेत्"।

स्थूल रीति से कह सकते हैं कि सब से अधिक व्यापक अनुगमो के, जगद्व्यापी नियमो के, संग्रह को, शास्त्र को, 'मेटाफिज़िक या फ़िलासोफ़ी प्रापर', 'दि सायंस आफ़ बीइङ्, ऑर रियालिटी, ऑर ट्रूथ', कहते हैं। अंतःकरण की, चित्त की, बनावट और वृत्तियों के शास्त्र को 'साइकालोजी, दी सायंस आफ़ माइण्ड'। अभ्रांत सत्य तर्क और अनुमान के प्रकार के शास्त्र को 'लाजिक, दी सायंस आफ़ रीज़-निङ्'। सद् आचार के शास्त्र को 'एथिक्स, या मारल्स, दी सायंस आफ़

कांडक्ट'। उत्तम ललित कलाओं और उत्कृष्ट ऐंद्रिय सुखों के शास्त्र को 'ईस्थेटिक्स, दी आर्यस आफ़ फ़ाइन आर्ट ऐंड रिफाइण्ड सेन्सुअस प्लेझर'[१]। इन सब का कैसा घनिष्ठ संबंध है, यह उन के लक्षणो के सूचक नामो से ही विदित हो जाता है। इतना और ध्यान कर लिया जाय तो भारतीय दर्शनो का, विशेष कर षड्दर्शनो का, और यूरोपीय दर्शनो का, समन्वय देख पड़ने लगेगा—यथा अन्तःकरण और बहिष्करण का अविच्छेद्य सम्बन्ध है; अतः 'साइकालोजी और फ़िज़ियालोजी', चित्त शास्त्र और शरीर शास्त्र, नितरां अलग नहीं किये जा सकते, केवल अपेक्षया, वैशेष्यात्, अलग किये जाते हैं। तथा 'फ़िज़ियालोजी' का 'बायालोजी' (जन्तु शास्त्र) से, उस का 'केमिस्ट्री' (रसायन अथवा महाभूत शास्त्र) से, उस का 'फ़िज़िक्स' (अधिदेव शास्त्र) से, अटूट संबंध है। इस लिये सभी शास्त्रों के विषय सभी शास्त्रों मे, न्यूनाधिक, उपनिपतित हैं, और सभी का सभी से संबंध है। जैसा सुश्रुत मे कहा ही है।

अन्यशास्त्रविषयोपपन्नानां चार्थानामिह उपनिपतितानाम् अर्थवशात् तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं; कस्मात्, न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम्।

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्;
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः।

(सूत्रस्थान, अ० ५)

किसी भी शास्त्र मे, जब दूसरे शास्त्रों के विशेष विषय, प्रसंगवश आ जाते हैं, क्योंकि सब का सम्बन्ध सामान्यतः सब से है, तब उन-

---

१ Metaphysic or Philosophy proper, the Science of Being or Reality, or Truth; Psychology. the Science of Mind; Logic, the Science of Reasoning or Thinking; Ethics, or Morals, the Science of Conduct; Æsthetics, the Science of Fine Art and Refined Sensuous Pleasure.

उन शास्त्रों के विशेषज्ञों से उन-उन विषयों को जान लेना चाहिये। एक ही ग्रन्थ मे सब शास्त्रों के विषय विस्तार से नहीं बन्द किये जा सकते हैं, और विना बहुश्रुत हुए कोई भी शास्त्र ठीक ठीक नही जाना जाता। यहाँ तक कि 'एकमेव शास्त्रं जानानः न किंचिदपि शास्त्रं जानाति', एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता। अंगरेज़ी मे भी कहावत है कि सुशिक्षितता, शिष्टता, कल्चर, का अर्थ यह है कि किसी एक विषय का सब कुछ, तथा सब अन्य विषयों का कुछ-कुछ जानें[1]। दर्शन शास्त्र का प्रधान गुण यह है कि इस मे सभी शास्त्रों के मूल अनुगमो, सिद्धांतों, का शिक्षण और परीक्षण देख पड़ता है[2]। जैसा ऊपर कहा है, एक कोटि पर चित्त अन्तःकरण बहिष्करण आदि, दूसरी कोटि पर महाभूत और उन के गुण; एक ओर 'साइकालोजी-फ़िसियालोजी', दूसरी ओर 'केमिस्ट्री-फ़िज़िक्स'; दोनो का संग्रह करने वाली 'मेटाफ़िज़िक'। वही योग वासिष्ठ की बात, जीव और कर्म दोनो का संग्रह ब्रह्म परमात्मा मे।

यदि सामूहिक रुप से सब को दर्शन शास्त्र कहें तो ग्रंथों के विशेष विषयों की दृष्टि से, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, परा विद्या, का पर्याय अंगरेज़ी भाषा मे 'मेटाफ़िज़िक' हो सकता है। तथा अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, अन्तःकरण शास्त्र का 'साइकालोजी'; तर्क शास्त्र अथवा न्याय का 'लाजिक'; आचार शास्त्र वा धर्म मीमांसा का 'एथिक'; कला शास्त्र का 'ईस्थेटिक।[3]

---

१ To know every thing of some one thing and some thing of every other thing is culture.

२ इसी से 'फ़िलासोफ़ी आफ़ ला' (धर्म-कानून का फ़लसफ़ा), 'फ़िलासोफ़ी आफ़ आर्ट' (ललित कला का), 'फ़िलासोफ़ी आफ़ हिस्ट्री' (इतिहास का), इत्यादि नाम से भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

३ अब हिंदी साहित्य मे 'मनोविज्ञान' नाम 'साइकालोजी' के लिये लिखा जाने लगा है। बुरा नहीं है, शब्दतः अर्थतः ठीक भी है, पर

वेद-पुरुष के अंगोपांग

कुछ दशाब्दियों तक यूरोप मे विशेष विशेष शास्त्रों के विकासकों मे वैयक्तिक बुद्धिमत्ता के अभिमान से, अहंयुता से, तथा देशीय जातीय अभिमान से यह भाव कुछ कुछ था, कि मेरा शास्त्र सत्य और उत्तम तथा अन्य शास्त्र वृथा और मिथ्या[1]। संग्रह पर आग्रह नहीं, विग्रह पर बहुत; समन्वय का भाव नहीं, विपर्यय का बहुत; सम्मेलन, आश्लेषण, संयोजन, मंडन, रंजन की इच्छा नहीं, दृष्टि नहीं, विभेदन, विश्लेषण, बियोजन, खंडन, भंजन की बहुत; इत्तिहाद, इत्तिसाल, इत्तिबाक़, की ख़्वाहिश नहीं, नीयत नहीं, इन्फ़िराक़, इन्फ़िसाल, इम्तियाज़ की बहुत। पर अब ज्ञान के विस्तार के साथ साथ इस का प्रतिपक्षी भाव भी फैलता जाता है, कि 'दो सायंसेज़ आर मेनी, सायंस इज़ वन्'[2], विशेष विशेष शास्त्र चाहे अनेक हों पर शास्त्र-सामान्य एक ही है, अर्थात् सब शास्त्र

'शास्त्र' या 'विद्या' शब्द से अन्त होनेवाला नाम भारतीय परिपाटी और संस्कृत भाषा की शैली के अधिक अनुकूल होता है। ऊपर इस शास्त्र के लिये अध्यात्मविद्या नाम लिखा गया है और आत्मविद्या वा ब्रह्मविद्या 'मेटाफिज़िक' के अर्थ मे। प्रायः प्रचलित संस्कृत ग्रंथों मे अध्यात्मविद्या और आत्मविद्या मे विवेक नहीं किया जाता, दोनो का अर्थ ब्रह्मविद्या समझा जाता है, क्योंकि दोनों के विषय मिले हैं।

१ Scientific Chauvinism, यह एक आंग्ल वैज्ञानिक का ही शब्द है। जैसा भारत मे, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती आदि, नैय्यायिक, मीमांसक, वेदान्ती, पांचरात्र आदि, मे देख पड़ता है।

२ Though sciences are many, Science is one. 'समन्वय' नाम के ग्रंथ मे विविध विषयों पर विभिन्न मतों के विरोध का परिहार करने का यत्न मै ने किया है।

एक ही महाशास्त्र के, वेद के, अङ्गोपांग शाखा-प्रशाखा हैं। पूर्वाध्याय मे सांख्य मत के संबंध मे जैसा कहा, 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्'। प्रत्यक्ष है, जब प्रकृति, नेचर, एक है, तो उस का वर्णक शास्त्र भी एक ही होगा। संसार के एक एक विशेष अंश, अंग, पहलू पार्श्व, अवस्था, को अलग अलग ले कर, उन का वर्णन अलग अलग ग्रंथों मे कर देने से, प्रकृति मे, और उस के शास्त्र मे, आभ्यंतर आत्यंतिक भेद तो उत्पन्न नहीं हो जायगा; केवल 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' यही ब्रह्म-सूत्र पुनरपि चरितार्थ और उदाहृत होगा। किसी विशेष अंश पर विशेष दृष्टि होने से विशेष नाम पड़ जाता है। जैसे, जिस वस्तु से लिख रहा हूँ कई द्रव्यों से बनी है, पर नाम उस का लेखनी पड़ा है। क्योंकि उस के मुख्य प्रयोजन और कार्य, 'लिखने', पर ही दृष्टि है। अन्यथा, सब शास्त्र एक ही शास्त्र के अङ्ग हैं।[१]

भारत की तो पुरानी प्रथा है, 'एक एव पुरा वेदः' और सब विद्या उसी के उपवेद और अङ्गोपांग हैं। इस को दिखाने के लिए समग्र ज्ञान शरीर का रूपक भी बाँध दिया है।

> छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते,
> मुखं व्याकरणं प्रोक्तं, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते,
> ज्योतिषां अयनं चक्षुः, शिक्षा घ्राणं तथोच्यते।

इस मे कुछ और पाद जोड़ दिये जायँ तो चित्र स्यात् पूरा हो जाय, यथा,

> आयुर्वेदोऽस्य नाभिस्तु, गांधर्वं कंठ ईयते,
> धनुर्वेदस्तु बाहुः स्याद्, अर्थशास्त्रं तथोदरम्,
> शिल्पमूरुः, तथा मध्यं कामशास्त्रं तु कथ्यते,
> आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातवः,

१ इस विषय पर, 'पुरुषार्थ' नाम के ग्रंथ के प्रथम अध्याय मे विस्तार से विचार करने का यत्न मै ने किया है।

तथाऽधिदैविकान्यस्य प्राण-स्पंदनहेतवः,
इद् राजधर्मः सर्वेषां धारकं प्रेरकं तथा,
अध्यात्मशास्त्रं मूर्धा चाप्यखिलानां नियामकम्।

जिस रीति से फ़िलासोफ़ी के भीतर पांच शास्त्रों का विवेक पाश्चात्य विचार मे किया है, ठीक उस रीति से भारतीय विचार मे नहीं किया है। पौरस्त्य दर्शन शास्त्र मे सब प्रायः एक साथ बँधे मिलते हैं। तौ भी प्राधान्यतः 'केमिस्ट्री' और 'फ़िज़िक्स' के दार्शनिक अंश की विशेष रूप से चर्चा वैशेषिक सूत्रों मे; 'लाजिक' की न्याय सूत्रों मे; 'साइकालोजी' की सांख्य और योग सूत्रों मे; 'एथिक्स' की पूर्व (धर्म) मीमांसा मे; 'मेटाफ़िज़िक' की उत्तर (ब्रह्म) मीमांसा मे, की है। 'ईस्थेटिक' का विषय साहित्यशास्त्र और कामशास्त्र मे रख दिया गया है। 'मेटा-फ़िज़िक' को पहले पश्चिम मे 'आंटालोजी' भी कहा करते थे, पर अब इस शब्द का व्यवहार कम हो गया है। जैसा पहिले कहा, 'मेटा' शब्द का अर्थ ग्रीक भाषा मे पीछे, परे, का है और 'फ़िज़िका', प्रकृति, दृश्य। जो दृश्य प्रकृति से अतीत है, परे है, उस के प्रतिपादक शास्त्र का नाम 'मेटाफ़िज़िक'। ब्रह्मविद्या का यह पर्याय ठीक ही है। पश्चिम मे सायंस अर्थात् शास्त्र पदार्थ के प्रायः दो लक्षण ग्रथित हैं; एक तो, 'सायंस इज़ आर्गैनाइज़्ड् सिस्टेमाटाइज़्ड् नालेज'[१], ज्ञान के खंडों का, खंड ज्ञानो का, परस्पर संग्रथित, कार्य-कारण की परम्परा के सूत्र से सम्बद्ध, व्यूह—यह शास्त्र है; दूसरा, 'सायंस इज़ दी 'सीइङ् आफ़् सिमिलारिटी इन् डाइवर्सिटी'[२], विविध पदार्थों मे,

---

१ Science is organised, systematised, knowledge, 'ग्रथितः, ग्रन्थः', कारण और कार्य के सम्बन्ध रूपी, हेतु और फल के सम्बन्ध रूपी, सूत्र से विचारों का ग्रन्थन, तथा लिखित पत्रों का सूत्र से ग्रन्थन, जिस मे किया जाय, वह ग्रन्थ।

२ Science is the seeing of Similarity in Diversity. साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात्। वैशेषिक सूत्र, १-१-४.

वैदृश्य के साथ सादृश्य, वैधर्म्य के साथ साधर्म्य, व्यक्ति के साथ जाति, विशेष के साथ सामान्य, को देखना—यह वैज्ञानिक शास्त्र है। यह कथा, यदि आधिभौतिक शास्त्रों की है, जो परिमित, सादि, सान्त, काल-देश-निमित्तावच्छिन्न, नश्वर पदार्थों की चर्चा करते हैं, 'दी सायंसेज़ आफ़ दी फ़ाइनाइट'[1] हैं, तो आध्यात्मिक प्राज्ञानिक शास्त्र का, जो अनादि अनंत अपरिमित देश-काला-ऽवस्थाऽतीत नित्य पदार्थ का प्रतिपादन करता है, लक्षण यों करना उचित होगा कि, वह 'कम्प्लीट्ली यूनिफ़ाइड् नालेज' और 'सीइङ् आफ् यूनिटी इन् मल्टिप्लिसिटी'[2] है, अर्थात् समस्त ज्ञानो का एक सूत्र से संग्रथन, एक व्यूह मे व्यूहन, सब अनेकों मे एकता का दर्शन, है। इसी अर्थ को भगवद्गीता का पूर्वोद्धृत श्लोक प्रकट करता है, अर्थात् भूतों के गणनातीत पृथक्त्व को एकस्थ, और उसी एक से संख्यातीत पृथग् भूतों का विस्तार, जब जीव पहिचानता है तब ब्रह्म-ज्ञान सम्पन्न हो जाता है।

ऐसे विचारों की ज्यों-ज्यों यूरोप मे वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों फ़िलासोफ़ी और सायंस मे जो संबंध का सर्वथा विच्छेद होने लग गया था, वह क्रमशः मिटता जाता है, और इन का परस्पर संबंध अधिकाधिक माना जाने लगा है। ढाई तीन सौ वर्ष पहिले, न्यूटन, लामार्क, आदि विद्वानो ने, अपने गणित, ज्योतिष, जन्तु शास्त्र आदि के ग्रन्थों को 'नेचुरल फ़िलासोफ़ी' 'ज़ुओलाजिकल फ़िलासोफ़ी'[3] के नाम से पुकारा, और चालीस पचास वर्ष पहिले तक 'नैचुरल फ़िलासोफ़ी' नाम का एक ग्रंथ, फ़रांसीसी विद्वान् डेशानल का, उन विषयों पर जिन के लिये अब 'फ़िज़िक्स' शब्द कहा जाता है, विद्यालयों मे पढ़ाया, जाता था। अब ऐसे शास्त्रों के लिये 'सायंस' शब्द प्रयोग किया जाता है जिस शब्द का

१ The Sciences of the Finite.

२ Completely unified knowledge; the seeing of Unity in Multiplicity.

३ Natural philosophy; Zoological philosophy.

प्रत्यक्ष रूप तथा मूल, लैटिन 'सायंस', 'साइरी', संस्कृत शास्, शंस्, से मिलता है। और साथ ही साथ 'फ़िलासोफ़ी' का लक्षण, उस की परिभाषा, ऐसे शब्दों मे की जाने लगी है, यथा, शास्त्रों का शास्त्र, सर्व-संग्राहक शास्त्र, सर्वव्यापक शास्त्र, सर्व-समन्वय, सर्वशास्त्र-सार, व्यापकतम शास्त्र, और, विशेष कर, मानव जीवन संबंधी प्रश्नो का शास्त्र इत्यादि।[१]

मुख्य और गौण प्रयोजनो का संबंध

ऐसे विचारों से इस प्रश्न का उत्तर हो जाता है कि दर्शन के उप-प्रयोजन क्या हैं, और उन का प्रधान प्रयोजन से संबंध क्या है।

दुःख का समूल नाश कैसे हो, परमानंद कैसे मिले, इस की खोज मे दुःख और सुख के स्वरूप का, और उन के कारण का, पता लगाना पड़ता है। आत्म-वशता ही सुख और परवशता ही दुःख, यह जाना। परवशता का हेतु क्या है? द्रष्टा का, आत्मा का, दृश्य से, प्रकृति से, देह से, वासना-कृत अज्ञान-कृत संयोग। यह संयोग कैसे मिटे? द्रष्टा और दृश्य का ठीक ठीक तात्त्विक स्वरूप जानने से। दृश्य के अन्वीक्षण मे अनित्य पदार्थ सम्बन्धी सब शास्त्र, जिन का सामूहिक सामान्य नाम अपरा विद्या है, आ गये। इन सब की जड़ गहिरी जा कर परा विद्या मे ही मिलती है। कोई भी शास्त्र लीजिये। रेखा गणित का प्रारंभ इस परिभाषा से होता है कि बिंदु वह पदार्थ है जिस का स्थान तो है किंतु परिमाण नहीं। ऐसा पदार्थ कभी किसी ने चर्मचक्षु से तो देखा नहीं।

---

१ The Science of Sciences; the Sum of all Sciences; Universal Science; Synthesis of all Sciences; Quintessence of all Sciences; of the widest problems in all fields, and of those which affect Mankind most closely : Alexander Herzberg, *The Psychology of Philosaphers*, pp. 9, 10, 11, 12, 13, (pub. 1929).

इस का तत्त्व क्या है, इस का पता रेखा गणित से नहीं लगेगा, किन्तु आन्वीक्षिकी से; जीव, अहं, मै, ही ऐसा पदार्थ है जिस का स्थान तो है, जहाँ ही 'मै हूँ' वहाँ ही है, लेकिन इस 'मै' का परिमाण नहीं ही नापा जा सकता। अंक गणित का आरंभ 'एक' संख्या से है; कभी किसी ने शुद्ध 'एक' को देखा नहीं। यह मकान जिस के भीतर बैठ कर लिख रहा हूँ, एक तो है, पर साथ ही अनेक भी है, लाखो ईंट, सैकड़ों पत्थर, बीसियों कपाट खिरकी, बीसियों लोहे की धरनें, आदि मिल कर बना है। तो इस को एक कहना ठीक है या अनेक ? इस का तत्त्व, कि संख्या क्या पदार्थ है, अंक गणिक नहीं बताता, दर्शन शास्त्र बताता है ; अहं, मै, ही तो सदा एक है, अ-द्वैत है, ला-सानी है; अनहं, एतत्, यह ही अनेक है। शक्ति गणित, 'डाइनामिक्स'[१], का मुख्य पदार्थ शक्ति है, पर शक्ति क्या है, क्यों है, कैसे है, इस का हाल वह शास्त्र स्वयं कुछ नहीं बताता, आत्मविद्या बताती है कि 'इच्छा' ही 'शक्ति' है। रसायन शास्त्र 'केमेस्ट्री'[२], के मूल पदार्थ परमाणु, अणु, द्व्यणुक, त्रसरेणु, आदि हैं, पर अणु क्या है, कैसे है, इस का हाल ब्रह्मविद्या से ही पूछना पड़ता है। जंतु शास्त्र, शरीर शास्त्र, 'बायालोजी, फिसिआलोजी'[३] मे प्राण पदार्थ क्या है, क्यों इतने जीव जन्तुओं के भेद होते हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर परा विद्या मे ही है। सृष्टि मे आरोह-अवारोह, विकास-संकोच, मानव जाति के इतिहास मे जातियों का उदय-अस्त, मनुष्य जीवन में जन्म-वृद्धि-ह्रास-मरण, क्यों होते हैं, इस का उत्तर अध्यात्मविद्या से ही मिलता है। नीति शास्त्र, धर्म शास्त्र मे, पुण्य पाप का वर्णन है, पर क्यों पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख, यह ब्रह्मविद्या ही कहती है। चित्तशास्त्र मे यह वर्णन तो किया जाता है कि चित्त की वृत्तियाँ ऐसी ऐसी होती हैं, पर क्यों ज्ञान-इच्छा-क्रिया होती हैं, क्यों राग-द्वेष होते हैं, क्यों सुख-दुख होते हैं, इस का उत्तर आत्म-विद्या से ही मिलता है। अनुमान का रूप और

१ Dynamics. २ Chemistry. ३ Biology, physiology.

प्रकार तो न्याय बताता है, पर व्याप्तिग्रह क्यों होता है, इस के रहस्य का पता वेदांत से ही चलता है। काव्य साहित्य मे रस पदार्थ, अलंकार पदार्थ, आनन्द पदार्थ का तत्त्व क्या है, यह आत्म विद्या ही बतलाती है।

ज्योतिष मे, बासूटो मनुष्य के और वैदिक ऋषि के प्रश्न का उत्तर, कि किसने इन तारों को आकाश मे चपकाया, प्रज्ञान से ही मिलता है, विज्ञान से नहीं। बासूटो मनुष्य का अनुभव हम लोग देख चुके हैं; अपने मन मे उठते हुऐ प्रश्नो का उत्तर न दे सकने के कारण वह विषाद मे पड़ गया; उस को अपनी निर्बलता का अनुभव होने लगा। अंधकार मे भय होता है, न जाने क्या जोखिम छिपी हो। जिसी अंश का ज्ञान नहीं, उसी अंश मे विवशता, परतंत्रता, भय। बिना सम्पूर्ण के ज्ञान के किसी एक अंश का भी ठीक ज्ञान नहीं, और बिना सब अंशों के ज्ञान के सम्पूर्ण का ज्ञान नहीं; ऐसा अन्योऽन्याश्रय परा विद्या और अपरा विद्या का,'दी सायंस आफ़ दी इनफिनिट' और दी 'सायंसेज़ आफ़ दी फ़ाइनाइट'[१] का, है। जैसे अनन्त मे सभी सान्त अन्तर्गत है, वैसे ही परा विद्या मे सभी अपरा विद्या अंतर्भूत है। 'कारणं कारणानां' का प्रतिपादक शास्त्र भी 'शास्त्रं शास्त्राणां', 'अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्', है। इस एक के जानने से सब कुछ, मूलतः, तत्त्वतः, जाना जाता है, जैसा उपनिषद् के ऋषि ने कहा। साथ ही इस के यह भी है, कि जब अन्य सब कुछ, सामान्यतः, जान ले, तभी इस एक के जानने का अधिकारी भी, 'ज्ञातुं इच्छुः' भी और 'ज्ञातुं शक्तः' भी होता है। यह अन्योऽन्याश्रय है। इस ग्रन्थ के आदि मे उपनिषत् की कथा कही है, कि समग्र अपरा विद्या जान कर तब नारद ने सनत्कुमार से परा विद्या सीखा। एक से अनेक जाना जाता है और अनेक से एक। कस्रत दर वहदत और वहदत दर कस्रत, दोनो का तअर्रुफ़ हो तब मारिफ़त, इर्फ़ान, हक़, मुकम्मल हो, ब्रह्म सम्पन्न हो। अतः, गीता मे, अर्जुन को केवल यह समझा देने के लिये कि 'युध्यस्व', कृष्ण को, 'तस्मात्' सिद्ध करने को,

---

१ The Science of the Infinite, the Sciences of the Finite.

सभी शास्त्रों की बातें संक्षेप मे कहना पड़ा, "सर्वशास्त्रमयी गीता"। तुम्हारा कर्त्तव्य धर्म यह है; क्योंकि मानव समाज मे तुम्हारा स्थान और दूसरों के साथ आदेय-प्रदेय संबंध, परस्पर कर्त्तव्य सम्बन्ध, ऐसा है; क्योंकि साम्प्रत मानव समाज, पुरुष की प्रकृति अर्थात् स्वभाव-प्रभव गुणो त्रिगुणो, के अनुसार कर्म का विभाग करने से, चातुर्वर्ण्यात्मक और चातुराश्रम्यात्मक है, और तुम अमुक वर्ण और आश्रम मे हो; क्योंकि यह मानव समाज, सृष्टि के क्रम मे, पुराण इतिहास मे बर्णित व्यवस्था से, ऐसी ऐसी मन्वन्तर और वंशानुचरित की भूमि, कक्षा, काष्ठा, ('स्टेज आफ़ इवोल्यूशन')[१] पर पहुँचा है; क्योंकि सृष्टि का स्वरूप ऐसा ऐसा संचर-प्रतिसंचर, प्रसव-प्रतिप्रसव, के आकार-प्रकार का है; क्योंकि परम आत्मा, परम पुरुष, की प्रकृति का रूप ही ऐसा है। बिना जड़ मूल तक, आख़िरी तह तक, पहुँचे, बिना 'गोइङ्‌ टु दी रूट आफ़ दी मैटर[२]' बिना 'कारणं कारणानां' के जाने, कुछ भी स्थिर रूप से जाना नहीं जाता, निश्चित नहीं होता। किसी एक भी जुज़्व का मक़सद जानने के लिये कुल का मतलब जानना लाज़िम है; ऐसे ही कुल का मतलब समझने के लिये हर एक जुज़्व का मक़सद जानना ज़रूरी है।[३]

निष्कर्ष यह है कि दर्शन शास्त्र, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मो का भी उपाय, दुष्कर्मो का अपाय, और नैष्कर्म्य अर्थात् अफलप्रेप्सु कर्म का साधक, और इसी कारण से सब सद्धर्मों का आश्रय,

---

१ Stage of evolution. २ Going to the root of the matter. ३ इस पृष्ठ पर सूचित विषयों का विस्तार अंग्रेजी भाषा मे लिखे मेरे ग्रंथों मे किया है; विशेष कर, The Science of Peace, The Science of tbe Emotions, The Science of Social Organisation मे; संक्षेप से, हिन्दी भाषा मे लिखे 'समन्वय' मे तथा अंग्रेजी मे The Science of the Self मे।

और अंततः समूल दुःख से मोक्ष देने वाली है; क्योंकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को, बताती है, और आत्मा का, जीवात्मा का, परमात्मा का, तथा दोनो की एकता का, तौहीद का, दर्शन कराती है ।

प्रदीपः सर्वविद्यानाम्, उपायः सर्वकर्मणां,
आश्रयः सर्वधर्माणां, शश्वद् आन्वीक्षिकी मता ।
ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्त्ता, भुवनस्य गोप्ता,
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्जेष्ठपुत्राय प्राह ।
द्वे विद्ये वेदितव्य, परा चैवऽपरा च । तत्रऽपरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छंदो, ज्योतिषमिति । अथ परा यया तद्अक्षरमधिगम्यते । (यस्मिन्) विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । (मुंडक-उपनिषत्)

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेद उभयं स ह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतम् अश्नुते । (ईश)
यथा भूतपृथग्भावमेकस्थम् अनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां, परंतप !,
एष तु उद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया,
प्राधान्यतः, कुरुश्रेष्ठ !; नास्त्यंतो विस्तरस्य मे । (गीता)

आत्मा और अनात्मा और उन के (निषेधात्मक, 'न इति', 'न इति') सम्बन्ध के सम्यग्दर्शन से, सम्यक् ज्ञान से, ही, चारो पुरुषार्थ उचित रीति से सम्पन्न हो सकते हैं । धर्म-अर्थ-काम, तीन पुरुषार्थ सांसारिक प्रवृत्ति मार्ग के; मोक्ष, परम पुरुषार्थ, संसारातीत निवृत्ति मार्ग का । ऋषिऋण-पितृऋण-देवऋण, तीन ऋणो को, क्रमशः तीन आश्रमो में, ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानस्थ्य में, अध्ययन-अपत्यपालन-दान-यजन के द्वारा चुका कर, और साथ-साथ धर्म-अर्थ-काम को साध कर,

चौथे आश्रम, संन्यास, मे, मोक्ष को सिद्ध करै। अन्यथा, बिना ऋण चुकाये, मोक्ष की इच्छा करने से, अधिक बंधन मे पड़ता है; ऊपर उठने के स्थान मे नीचे गिरता है। चौथे आश्रम मे आत्मा की सर्व-व्यापकता ठीक ठीक पहिचानी जाती है। ऐसे सम्यग्दर्शन से सब स्वार्थी वासना और कर्म क्षीण हो जाते हैं, और मनुष्य, आत्मा को सब मे, और सब को आत्मा मे, पहिचान कर, सच्चे स्वाराज्य को पाता है।

ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्;
अनपाकृत्य तान्येव, मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः।
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयाम् अकृतात्मभिः,
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिम् अस्य अंतरात्मनः।
विप्रयोगं प्रियैश्चैव, संयोगं च तथा ऽप्रियैः,
चिंतयेच्च गतिं सूक्ष्माम् आत्मनः सर्वदेहिषु।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते;
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।
सर्वभूतेषु चऽात्मानं, सर्वभूतानि चऽात्मनि;
समं पश्यन् आत्मयाजी स्वाराज्यम् अधिगच्छति। (मनु)

तीसरा अध्याय

दर्शन की सामाजिक विश्वजनीनता

सांसारिक-दुःख-बाधन और सुख-साधन

(कम्युनिस्ट) साम्यवाद और (साइको-आनालिटिक) कामीयतावाद का, अध्यात्मवाद से परिमार्जन

यह पहिले कहा जा चुका है कि वेदांत शास्त्र, ख़ाली और बेकार समय का खेल नहीं है; केवल विरक्त संन्यासी, त्यागी, तारिकुद्दुनियाँ, गोशा-नशीन, फ़क़ीर ही के काम की चीज़ नहीं है; केवल ब्रह्मानंद का, लज़्ज़तुल् इलाहिया का, ही साधक नहीं है; बल्कि दुनियावी मामिलात मे भी निहायत ज़रूरी मदद देता है; दुनिया और आक़बत, इहलोक और परलोक, दोनो के बनाने का उपाय बतलाता है; इन्सान की मानस और शारीर (रूहानी और जिस्मानी) ज़िन्दगी की सब तकलीफ़ों को दूर करने, सब मुनासिब आरामों को हासिल करने, सब मामलों को हल करने, सब प्रश्नों का उत्तर देने, का रास्ता दिखाता है ।

इस मज़मून (विषय) पर तफ़सील (विस्तार) से लिखने का मौक़ा (अवसर) यहाँ नहीं है । थोड़े में सिर्फ़ इशारा (सूचना) कर देना काफ़ी (पर्याप्त) होगा ।

पुरुष अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा की प्रकृति, (इन्सान, यानी रूह, और ख़ुदा, रूहुल्रूह, की फ़ितरत), मे तीन गुण (सिफ़ात) हैं—सत्त्व, रजस् , तमस् (इल्म, वुजूद, और शुहूद) । इन्हीं के रूपांतर नामांतर (दूसरी शक्ल और नाम) ज्ञान-क्रिया-इच्छा (इल्म-फ़ेल-ख़्वाहिश)

हैं। इन तीन से तीन फ़ितरतें (प्रकृतियाँ) आदमियों मे देख पड़ती हैं और एक चौथी फ़ितरत वह जिस मे तीन मे से कोई एक फ़ितरत ख़ास तौर से नुमायाँ (विकसित, व्यक्त) नहीं हुई है। इन चार इन्सानी क़िस्मों, तबीयतों, की बिना (नीवी, बुनियाद) पर चार गुणो के चार पेशों की व्यवस्था (तन्ज़ीम) भारतवर्ष मे की गई। जैसा गीता मे कहा है,

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।

इन चार वर्णों के नाम, संस्कृत मे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते हैं। ब्रह्म, वेद, ज्ञान, का धारण करने वाला, ज्ञानप्रधान जीव, ब्राह्मण; क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण, रक्षा, करने वाला, क्रिया-प्रधान जीव, क्षत्रिय; विशति भूमौ, विशः च धारयति, भूमि की खेती करने कराने वाला और धन का रखने वाला, इच्छाप्रधान जीव, वैश्य; आशु द्रवित, बड़ों की आज्ञा से, दौड़ कर तुरत काम कर देने वाला, अव्यक्तबुद्धि जीव शूद्र। स्यात् अच्छा हो कि नये नामों का अधिक प्रयोग किया जाय, यथा, ज्ञानी, शूर, दानी, सहायक; ज्ञाता, त्राता, दाता, सहेता; शिक्षक, रक्षक, पोषक, सेवक; शास्त्री, शस्त्री, धनी, श्रमी; या ऐसे ही कोई और अर्थपूर्ण (मानीदार) नाम, प्रत्येक मनुष्य की विशेष प्रकृति के द्योतक (ज़ाहिर करने वाले[1])। अरबी फ़ारसी मे, आलिम, आमिल, ताजिर, मज़दूर, या हकीम, हाकिम, मालदार, मिहनत-कश, वग़ैरह। नये नामो की इस लिये ज़रूरत है कि, पुराने नाम निहायत बामानी (अर्थ-गर्भ) होते हुए भी, अब बेमानी (अर्थ-शून्य), बल्कि बदमानी (अनर्थ-पूर्ण) हो रहे हैं। चारो तरफ़ जीर्णोद्धार और नवी-करण (मरम्मत व तजद्दुद) की ज़रूरत है।

---

१ 'मानव-धर्म-सारः' नाम की, संस्कृत श्लोकों मे लिखी, मेरी पुस्तक मे इस विषय पर विस्तार से लिखा गया है।

ऐसे ही, मनुष्य की आयु (उमर) के चार विभाग (हिस्से) निसर्गतः (.कुद्रतन्) होते हैं। पहिले मे, अपनी योग्यता (लियाक़त) के अनुसार (मुताबिक़) ज्ञान और सदाचार (इल्म और तहज़ीब) सीखना चाहिए। तन और मन को बलवान् (मज़बूत) बनाना चाहिये। दूसरे मे, गृहस्थी (ख़ाना-दारी) और रोज़गार (जीविका-कर्म) करना चाहिए। तीसरे मे, रोज़गार से कनारा-कशी और बिला मुआविज़ा, बेग़रज़ (निष्काम, बिना फलाकांक्षा), ख़िदमते ख़ल्क़ (लोकसेवा) करना चाहिए; अन्तकाल तक हिर्सी, लोभी बना रहना नहीं चाहिए। चौथे मे, जब जिस्म और दिमाग़ दोनो बहुत थकें, तब सर्वथा (बिल्कुल) संन्यासी फ़क़ीर हो कर परमात्मा के ध्यान मे, सब का भला मनाने मे, और केवल शारीर कर्म मे (ऐन ज़ुरूरी जिस्मानी हाजात के रफ़ा मे) सारा समय बिताना चाहिए, जब तक शरीर के बन्धन (असीरी) से मोक्ष (नजात) न पावें। इस व्यवस्था (नज़्म) को चतुराश्रम-व्यवस्था कहते हैं।

इन चार वर्णों और चार आश्रमो मे, सब मनुष्यों के सब कर्म-धर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हुक़ूक़-फ़रायज़, काम-दाम, मिहनत-आराम, अध्यात्म विद्या, (इल्मि रूह) के सिद्धांतों (उसूल) के अनुसार (मुताबिक़) प्राचीन समय मे भारत (हिन्दुस्थान) मे बाँट दिये गये थे। और ऐसा कर देने से वह सब प्रश्न (सवाल, मसले) शिक्षा, रक्षा, भिक्षा, (तालीम, तहफ्फ़ुज़, तआम) के सम्बन्ध (तअल्लुक़) मे, उत्तीर्ण (हल) हो जाते थे, जो आज सारे मानव संसार (इन्सानी दुनियाँ) को व्याकुल और उद्विग्न कर रहे हैं; और सिर्फ़ इस वजह (हेतु) से हैरान व परीशान कर रहे हैं कि अध्यात्म विद्या के उन सिद्धान्तों को विद्वानो और शासकों ने, हकीमो और हाकिमो ने, शास्त्रियों और शस्त्रियों ने, आलिमो और आमिलों ने, भुला दिया है, और उन से काम नहीं लेते, बल्कि दुनियावी हिर्स व तमा के .ख़ुद .ग़ुलाम हो कर उन उसूल के ख़िलाफ़ काम करते हैं, और अवाम

(साधारण जनता) को भारी ईज़ा और नुक़सान (पीड़ा और हानि) पहुँचा रहे हैं, और उनको अपना ग़ुलाम बना रहे हैं ।

आजकाल पश्चिम (मग़्रिब) मे दो विचारधाराओं (ख़याल के दरियाओं) का प्रवाह (बहाव) बहुत बलवान् (ज़ोरदार) हो रहा रहा है, इस लिए उन की चर्चा (ज़िक्र) यहाँ कर देना, और उन की कमी-बेशी, गुण-दोष, ऐब-व-हुनर, नुक़्स-व-ख़ूबी, की जाँच, सरसरी तौर पर (आपाततः), वेदांत की दृष्टि (निगाह) से कर देना, मुनासिब (उचित) जान पड़ता है । एक ख़याल का सिलसिला, मार्क्स और उन के अनुयायियों का है, जिस को सोशलिज़्म-कम्युनिज़्म, समाजवाद-साम्यवाद कहते हैं, और जिस मे अवांतर मतभेद बहुत है; दूसरी विचारधारा, फ़्राइड और उनके पैरवों की है, जिस को सैको-अनालिसिस कहते हैं, जिस मे भी ज़िम्नी इख़्तिलाफ़ात बहुत हैं । इन दोनो की ओर जनता की प्रवृत्ति (रुझान) इस लिये है, कि मार्क्स आदि के विचार यह आशा दिलाते हैं कि, यदि इस प्रकार से समाज का प्रबन्ध (बन्दोबस्त) किया जाय तो सब आदमियों को आवश्यक अन्न वस्त्र और परिग्रह (ज़रूरी खाना कपड़ा व माल-मता) तथा गार्हस्थ्य जीवन और रोज़गारी काम मिल सकता है; और फ़्राइड वग़ैरह के ख़याल यह उम्मीद दिलाते हैं कि अगर ये तरीक़े बर्ते जायँ, तो दाम्पत्य-सम्बन्धी, मैथुन्य-विषयक, कामीय (शहवत या इश्क़ के मुतअल्लिक़) इच्छा के व्याघात (ख़्वाहिशों की शिकस्त) से जो दुःख और रोग पैदा होते हैं वह पैदा न हों, या दूर हो जायँ, या कम से कम हल्के हो जायँ । 'साइको-अनालिसिस' शब्द का, व्युत्पत्ति से अर्थ, यौगिक अर्थ, धात्वर्थ (मसदरी मानी) तो 'चित्त-वृत्ति-विवेचन' (इम्तियाज़ि-हरकाति-क़ल्ब) है । पर इस के उपज्ञाता (मूजिद) फ़्राइड ने जो रूप इस को दिया है, जैसा ऊपर कहा, उस के विचार (लिहाज़) से, 'कामीयवाद' शब्द भी इस के लिये, हिन्दुस्तानी भाषा मे अनुचित (ग़ैर मौज़ूँ) न होगा । अब 'मनो-विज्ञान' शब्द, सब

प्रकार की 'साइकालोजी', 'साइको-अनालिसिस' के लिये कहलाने लगा है; शब्द अच्छा ही है, पर प्राचीन शब्द,'अध्यात्मविद्या', अधिक अर्थ-गर्भ और उत्तम है; 'चित्त-शास्त्र' 'अंतःकरण शास्त्र' भी, स्यात् भारतीय विचार-परंपरा के अधिक निकट हैं।

स्पष्ट (ज़ाहिर) है कि आदमी की तीन एषणा, वासना, तृष्णा (हिर्स, तमअ) मुख्य (ख़ास, अहम) हैं, लोकैषणा वा आहारेच्छा, वित्तैषणा वा धनेच्छा, दार-सुतैषणा वा रतीच्छा, (ज़मीन की ख़्वाहिश, जिस से ग़िज़ा हासिल होती है, ज़र की, ज़न की)। इन्सानी ज़िन्दगी की जितनी कठिनाइयाँ (मुश्किलें) हैं, वह सब इन्हीं तीन के सम्बन्ध मे पैदा होती हैं। गूहन, गोपन, छिपाव, रहस्य (पोशीदगी, एख़फा, राज़दारी, 'सीक्रीटिव्नेस्') इन्हीं के सम्बन्ध मे होता है। इन को सहल (सहज, सरल) करने का उपाय जो बतावे, उस की ओर ख़्वाहम-ख़्वाह लोग झुकैंगे।

लेकिन इन दोनो दलों (तबक़ों) ने, ऊपर कही इन्सान की चार फ़ित्रतों और क़िस्मों को नही जाना माना है; अपने अपने 'स्कीम', 'सिस्टेम', नज़्म, व्यवस्था से उन का लिहाज़ नहीं किया है; न ज़िन्दगी के चार हिस्सों से ही काम लिया है; इस का नतीजा यह हुआ कि दोनो मे से हर एक के अन्दर बहुत विवाद, तनाज़ा, खड़ा हो गया है; और दोनो के दो मूजिदों ने, उपज्ञाताओं ने, यानी मार्क्स और फ़्रायड ने, जो उम्मीदें बाँधी थीं वह पूरी नहीं हो रही हैं। प्रत्युत (बर अक्स) इस के, भारत मे हज़ारों वर्ष से चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रम्य की व्यवस्था चली आ रही है, क्योंकि इनके आध्यात्मिक सिद्धांतों की नीवी पर अब भी कुछ न कुछ ध्यान बना है, यद्यपि (अगरचि) वह ध्यान बहुत अस्त व्यस्त (मुन्तशिर) हो गया है और इस हेतु (वजह) से भारी दोष, दुर्दशा, परवशता (नुक़्स, फ़ज़ीहत, ग़ुलामी) यहाँ उत्पन्न हो गई हैं। यदि उन सिद्धांतों पर उचित रूप से ध्यान दिया जाय, और सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतियों के भेद (तफ़रीक़, तमीज़) के

अनुसार, तीन प्रकार के आहार (ग़िज़ा) का (जो गीता मे कहे हैं), चार तरह की जीविकाओं (मआशों) का (जो मनुस्मृति मे कही हैं), तथा आठ मे से अच्छे दो वा तीन प्रकार के विवाहों (निकाहों, इज़्दिवाजों) का (जो भी मनुस्मृति मे कहे हैं), प्रबन्ध किया जाय, और विशेष दशाओं (ख़ास सूरतों) मे, कामशास्त्र मे और आयुर्वेद मे (जो भी वेद के अंग हैं) कहे हुए उपायों से काम लिया जाय, तो अन्न वस्त्र सम्बन्धी, परिग्रह सम्बन्धी, तथा कामवासना सम्बन्धी, सभी क्लेशों (दिक़्क़तों) की चिकित्सा (इलाज) ठीक ठीक, जहाँ तक मनुष्य का वश (इन्सान का क़ाबू) चल सकता है, हो जाय ।[1]

फ़्राइड आदि का शुरू मे कहना था कि, नाड़ी सम्प्रदाय (नर्वस सिस्टेम) के बहुतेरे विकार (न्यूरोसिस) किसी न किसी प्रकार के काम-सन्ताप से उत्पन्न होते हैं; रोगी उस कारण (सबब) को अपनी संज्ञा (होश, 'कान्शसनेस') से दबा, हटा, भुला देता है, क्योंकि उन की स्मृति (याद) पीड़ाजनक (तकलीफ़-दिह) होती है; बीमारी के कारण को कुछ दूसरा ही समझने मानने लगता है, पर यदि चिकित्सक (तबीब) मैत्री भाव से, बरस दो बरस तक उस से रोज़ाना बात करता रहे, पारस्परिक श्रद्धा और स्नेह (बाहमी एतबार व मुहब्बत)[2] उत्पन्न (पैदा) करे, और

---

१ इन विषयों पर, संस्कृत 'मानव-धर्म-सारः' मे, तथा कई अंग्रेजी ग्रंथों मे, विस्तार से लिखने का प्रयत्न मै ने किया है ।

२ इस सम्बन्ध मे 'साइको आनालिसिस' के शास्त्रियों ने transference, संक्रमण, और perfect candour, पूर्ण प्रख्यापन, (सब बात, खुल के, बिना छिपाये कह देना) perfect trust, पूर्ण विश्वास, शब्दों का प्रयोग किया है ।

"In the course of analytical treatment....the patient unconsciously transmits, to the analyst-physican, the

विविध रीतियों (ख़ास तरीक़ों) से (जिस 'टेक्नीक' को फ्राइड ने ईजाद किया है) उस भूली दबी स्मृति को फिर से उद्बुद्ध करै, जगावै

---

emotions he has felt in times past for this or that person. The analyst becomes in turn the father, the sister, the lover, the nurse; and on him is projected the patient's corresponding mood of rebellion, irritation, unsatisfied desire, jealousy, child-like dependence and the like. This is the transference, to the analyst, of unsatisfied emotion left over from some earlier experience; and present-day methods of analysis are largely concerned with analysing and making conscious the transference itself"; Coster, *Yoga and Western Psychology*, p. 60; see also Freud, *An Autobiographical Study*, p. 75, and *Introductory Lectures on Psycho-analysis*, pp. 360, 374.

चित्त-वृत्ति विवेचक, मनोविश्लेषक, (गवेषक, परीक्षक) चिकित्सा के दौरान (प्रवाह) मे, रोगी, अपने उन भावों (संवेगों, आवेगों, संरभों, क्षोभों) का, जो उस के चित्त मे, किसी अन्य पुरुष वा स्त्री के सम्बन्ध मे उठे रहे हों (और अब दबा दिये गये हैं), चिकित्सक की ओर संक्रमण प्रवाहण कर देता है; और अबुद्धि-पूर्वक करता है; अर्थात् उस को यह ज्ञान, यह बोध, यह समझ, नहीं होती, कि मै ऐसा कर रहा हूँ। चिकित्सक ही को वह पिता, या बहिन, या वल्लभ, या धाय, के रूप मे पारी पारी से देखता है, और उस के ही ऊपर, विद्रोह, वा चिड़चिड़ाहट, अतृप्त कामना, ईर्ष्या, बालकवत् पराधीनता व दीनता, आदि के भाव निकालता है। पूर्वानुभूत, किन्तु अतृप्त, वासनाओं, आवेशों, का, अपने उचित स्वाभाविक विषयों से हट कर, दूसरे पर, अर्थात् चिकित्सक पर प्रवाहण, यह है। और, आज काल, 'चित्त-चिकित्सकों' की प्रक्रिया का मुख्य अंश यही है कि इन सभी वासनाओं को उभारैं, जगावैं, बाहर लावैं, और तब रोगी को समझा कर उस से स्मरण करावैं, कि किस

असम्प्रज्ञातावस्था (बेहोशी, ला-मालूम, की हालत) से सम्प्रज्ञातावस्था (होश, मालूम की हालत) मे लावै, और उस छिपी कामवासना

अवसर पर किस के सम्बन्ध मे, उस के चित्त मे वह भाव उदित हुआ था, और उस की तृप्ति नहीं हुई, इसी से उस ने अपना अस्ली रूप छिपा कर रोग का रूप धारण कर लिया। ऐसा ज्ञान, अपनी चित्त-वृत्ति का आत्मज्ञान, हो जाते ही, होश आ जाते ही, रोग दूर हो जाता है।

गुरु-शिष्य भाव मे ये सब भाव अन्तर्गत हैं। इस भाव के गुण भी और दोष भी जानकारों को मालूम हैं।

> प्रायशो गुरवो, लोके, शिष्य-वित्तऽपहारकाः ;
> विरलाः गुरुवः ते ये शिष्य-सन्ताप-हारकाः।

लोक मे गुरु प्रायः शिष्य के वित्त का, धन का, अपहरण करने वाले होते हैं ; शिष्य के चित्त का ताप, दुःख, हरण करने वाले बहुत थोड़े ही होते हैं। फ़ारसी मे भी कहा है,

> चूँ बसा इब्लीस् आदम-रूय अस्त,
> पस् ब हर दस्ते न बायद् दाद दस्त।

बहुतेरे राक्षस (शैतान, इबलीस) मनुष्य का रूप धारण किये रहते हैं; अतः बिना जाँचे, सब के हाथ मे (विश्वस्त रूप से) अपना हाथ नहीं रख देना चाहिये।

तथा, त्वमेव माता च, पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च, सखा त्वमेव,
त्वमेव विद्या, द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव !

ऐसा भाव, बिना सोचे समझे, बिना बहुत परीक्षा के, किसी की ओर, त्वरा से, बाँध लेना नहीं चाहिये।

प्रायः अब इसी हेतु से, 'साइको-आनालिसिस' के सभी अवांतर भेदों के विश्वासी और प्रकारों के अभ्यासी, समझने और कहने लग गये हैं कि psycho-analytic treatment at its best is a process of *re-education*, मानस-चिकित्सा का उत्तम रूप 'पुनः संस्कार' है, जिस

(शहवत) की पूर्ति, शब्दों के द्वारा वर्णन कर देने से ही, करा दे, तो वह रोग मिट जाता है। लेकिन अब 'न्यूरोसिस' की इस प्रकार की चिकित्सा (इलाज) करने वालों को अनुभव (तज्रबा) अधिकाधिक (ज़्यादा ज़्यादा) होता जाता है कि ऐसी चिकित्सा में कई बड़े अपरिहार्य दोष (लाइलाज ख़राबियाँ) हैं; अपनी या दूसरे की, उत्पथ कामवासना (नाजायज़ शहवत) और उस की वजह से अपने को पहुँचायी हुई तकलीफ़, सद्मा, शर्म, समाज के भय से, या किसी दूसरे हेतु से, जो दबाई और भुलाई गई थी, वह वासना जब चिकित्सा की सहायता (मदद) से निर्भय (बेख़ौफ़) हो कर जागी, तब मनुष्य को, स्त्री वा पुरुष को, उच्छृङ्खल बना कर, समाज के विरोधी कुत्सित मार्गों (जमाअत के मुख़ालिफ मातूब राहों) में ले जाती है, यद्यपि वह विशेष 'न्युरोसिस' रोग दूर हो जाता है; और यदि उन कुत्सित मार्गों से, समाज के भय से, या अन्य हेतु से, मनुष्य न जा सका, और वासना को उन मार्गों से तृप्त न कर सका, न उस के भीतर ख़ुद इतना आत्मबल (रूहानी क़ूवत) और धर्म-भाव (अक़्ले सलीम, नेक-नीयत) उत्पन्न हुआ, कि वह आप ही उस दुर्वासना को चित्त से बुद्धिपूर्वक दूर कर दे; तो अन्य घोर विकार उत्पन्न होते हैं—इत्यादि।

फ्राइड आदि की गवेषणा (तफ़्तीश) और लेखों से, निश्चयेन (यक़ीनन्), बहुत सी ऐसी बातों की मालूमात (ज्ञान) साम्प्रत

से रोगी का चित्त मानो नया हो जाता है, 'प्रणवी-भवति', उस की दृष्टि नई हो जाती है, और इस लिये सारी दुनिया उस के लिये नई हो जाती है। इस प्रकार का द्वितीय जन्म, जीर्ण शीर्ण का परा काष्ठा का प्रणवी-करण, विषादी का प्रसादी-करण, मर्त्य का अमर-करण, अ-स्व-स्थ पर-स्थ का स्व-स्थ करण, परवश का आत्मवश-करण जीवात्मा का परमात्मा-करण, सच्चे दयालु सद्गुरु के द्वारा सच्चे श्रद्धालु सच्छिष्य के चित्त के 'पुनः संस्करण' से ही होता है। तभी 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा', यह बात सत्य होती है।

काल (इस ज़माने) मे पुनर्नव (ताज़ा) हुई, और जनता (अवाम) मे बढ़ीं और फैलीं, जिन पर पहिले बहुत कुछ पर्दा डाला रहता था, और जो मालूमात थोड़े से अनुभवियों (तज्रबाकारों), शास्त्रियों (आलिमो), और वैद्यों, मुआलिजों, को, दर-पर्दा (गोपनीय भाव से) रहस्य (राज़) के तौर पर, पुश्त दर पुश्त, प्रायः (अक्सर) विदित (मालूम) हुआ करती थीं, और वह भी असम्बद्ध रूप (बे सिलसिला, ला-नज़्म, शक्क) से। इस प्रकार के ज्ञान के पूर्वापर-सम्बद्ध (मुसल्सल) शास्त्र के रूप मे प्रसार होने से, निश्चयेन कुछ लाभ (फ़ायदा) है। पर शास्त्र सम्पूर्ण नहीं, सर्वांग शुद्ध सर्वांग-सम्पन्न (सहीह व मुकम्मल) नहीं, शास्त्राभास (नक़ली इल्म) की ही अवस्था (हालत) मे है; अतः उस से अगर कुछ लाभ है तो हानि (नुक़सान) का भी भय (ख़ौफ़) है।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति।

× × ×

नीम हकीम, ख़तरइ जान।

फ़्राइड आदि के विचारों मे जो कुछ तथ्य (सचाई) का अंश (जुज़्व) है, वह अध्यात्म विद्या और योग शास्त्र के भूले हुए कुछ अंशों का पुनरुज्जीवन है; उस से कई सांकेतिक शब्दों, सूत्रों, वाक्यों, और श्लोकों का अर्थ उजागर (रौशन) होता है, उस पर प्रकाश पड़ता है; बल्कि यह भी कह सकते हैं कि इन मे नये नये अर्थ देख पड़ने लगते हैं; इस लिये उस का विवेक-पूर्वक स्वागत उचित है। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उस का तात्त्विक और पूर्ण रूप सब आत्मविद्या से ही मिल सकता है। काम-वासना के विप्रलम्भ से दस दशा जो उत्पन्न होती हैं, जिन मे सम्प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, और मरण[1] तक शामिल हैं, उन की चर्चा साहित्य शास्त्र मे (जो भी समग्र वेद का अंग है) की है। भर्तृहरि ने भी कहा है,

---

१ Absent-minded and aberrant talk; lunacy, hysteria,

ते कामेन निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृताः, मुण्डिताः,
केचित् पंचशिखीकृताश्च, जटिलाः, कापालिकाश्चापरे।

कामदेव की निर्दय मार से घायल (ज़ख़्मी), बेचारे, तरह तरह के फ़क़ीरी पन्थों मे शामिल हो कर, कोई तो नग्न (बरहना) फिरते हैं, कोई सिर मुड़ाये रहते हैं, कोई पाँच शिखा रख लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं, कोई कपाल लिये फिरते हैं; यह सब निशान कामदेव की मार के ही है ।

स्वयं वेद का वाक्य है—'काममयः एवायं पुरुषः' । फ्राइड आदि ने जो सामग्री बड़े परिश्रम से एकत्र की है, उन से, ऐसी प्राचीन उक्तियों के कई अंशों की अच्छी व्याख्या होती है । पर सब अंशों का, और गंभीर तत्त्व का, उन को पता नहीं है । स्त्री-पुरुष का भेद ही क्यों है, इस का अन्वेषण उन्हों ने नहीं किया । काम (इश्क़, शहवत) का तत्त्व क्या है; काम का रूप एक ही है, या कई, और कौन मुख्य रूप हैं, और क्यों; इस का निर्णय उन्हों ने नहीं किया । किसी रोगी पुरुष वा स्त्री के चित्त मे लुप्त स्मृति के जगाने का फल अच्छा, किसी में बुरा, क्यों होता है; एक ही प्रकार के काम के व्याघात से, भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार के रोग क्यों होते हैं; भिन्न प्रकृतियाँ क्यों हैं, और कै हैं; इन बातों का नहीं निश्चय किया । विस्मृति से विशेष प्रकार के रोग क्यों होते हैं, स्मृति से क्यों अच्छे हो जाते हैं, इस का तत्त्व नहीं पहिचाना । यह सब तत्त्व आत्मविद्या से विदित होता है[१] ।

---

delusions, hallucinations, illusions; physical diseases of various sorts; swoon, syncope, paralysis; death. 'पुरुषार्थ' नाम के मेरे हिन्दी ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' नामक चतुर्थ अध्याय मे इन सब विषयों पर बहुत विस्तार से विचार किया है ।

१ इन बातों पर प्राचीन आत्मविद्या के विचार मै ने, अपने लिखे

मूल विस्मृति (फ़रामोशी) यह है कि आत्मा अपने को भूल जाय, परमात्मा अपने को शरीर मे बद्ध जीवात्मा समझने लगे; यह भूल ही, यह अविद्या, अज्ञान, ही, काम, वासना, तृष्णा, अस्मिता, का बीज है। उस अस्मिता (.खुदी) के तीन क्रम (दर्जे) हैं; अहं स्याम् (लोकैषणा, 'मैं बना रहूँ),' अहं बहु स्याम् (वित्तैषणा, 'मैं बहुत बड़ा होऊँ'), अहं बहुधा स्याम् (दार-सुतैषणा, 'मै बहुतों पर प्रभाववान्, बहुरूपी, होऊँ, अपने ऐसे बहुतों को पैदा करूँ, और वे मेरी भक्ति करें और आज्ञा माने')। दार-सुतैषणा, मैथुन्य काम, यह काम की घोरतम अवस्था, परा काष्ठा है।

सर्वेषां (सांसारिकाणां) आनंदानां उपस्थ एवैकायनम्'।

(बृहद् उपनिषद्)

जैसे आँख सब दृश्य रूपों का केन्द्र है, वैसे ही प्रजनन इन्द्रिय सब सांसारिक आनन्दों का एकायन केन्द्र है। फ्राइड ने इस तथ्य का आभास 'प्लेज़र-प्रिंसिपल'[१] के नाम से पाया और दिखाया है पर,

यश्च अकामहतः एषः एव परमः आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैव आनंदस्यऽन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवंति। (बृहद् उपनिषद्)

इस 'अद्वैत' अहन्ता के, इस 'ला-तश्रीक,' 'ला-सानी,' .खुदा के, इस 'मा-सिवा अल्लाह' की, 'मेरे सिवा और कोई कुछ कहीं है ही नहीं, ला इन्तिहा .खुदी के परम आनन्द को, जिस की छाया मात्र सब द्वैत-

---

अन्य कई ग्रन्थों मे दिखाने का यत्न किया है। मार्क्स आदि की विचार-धारा की विशेष समीक्षा परीक्षा Ancient vs. Modern Scientific Socialism नामक ग्रन्थ मे की है। तथा फ्राइड आदि की, Ancient Psycho-synthesis vs Modern Psycho-analysis नाम की पुस्तक मे।

भाव की अस्मिता के आनन्द हैं, उन्हों ने स्वप्न मे भी, दूर से भी, नहीं देखा; इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। जिस वस्तु को फ्राइड ने 'रियालिटी प्रिन्सिपल'[1] का अति कृत्रिम (मस्नूई) और भ्रमावह (ग़लत) नाम दिया है, जिस से अर्थ प्रकट (मुनकशिफ़) होने के बदले छिप जाता है, उस के अस्ल को, तत्व को, उपनिषदों मे 'भय' नाम से दिखाया कहा है। संसार द्वंद्वमय है, 'कुल्ले शयीन् ज़ौजैन् व ज़िद्दैन्', सब वस्तु परस्पर विरुद्ध जोड़ा-जोड़ा हैं; आनंद का विरोधी भय है; दोनो ही तुल्य रूप से 'रीयल', वास्तविक, हैं, या दोनो ही 'अन्रीयल', मिथ्या, हैं।

तस्य भयाद्वायुर्वाति, तस्य भयात् सूर्यस्तपति,

एक तरफ़; दूसरी तरफ़,

आनंदाद् ह्येव जातानि जीवंति,आनन्दे प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

उसी के खौफ़ से हवा चलती रहती है, और सूरज तपता रहता है, और उसी के 'सुरूरे जावेदानी', 'शादमानी', 'मस्ती', आनन्द से सब आलम, सब रूहें, सब जानै, पैदा होती हैं, और उसी मे जा सोती हैं। दोनो की, ख़ौफ़ और मसर्रत की, भय और आनंद की, दवामी तहरीक (सतत प्रेरणा) से संसार चक्र (चर्ख़ि गर्दू) घूम रहा है।

इस चक्कर के दुःख से आदमी छुटकारा चाहै तो उस को इस के सुख को भी छोड़ देने पर कमर बाँधना होगा और यह याद करना पड़ेगा कि 'मै तो हाड़ मांस नहीं', 'मै आत्मविश्वास हीं'।

विशेष प्रकार के नाड़ी रोग, न्यूरोसिस, ख़ास क़िस्म की याद जगाने से दूर हो जाते हैं, यह ठीक है; लेकिन अक्सर नहीं भी होते, क्योंकि स्वादु (ख़ुश ज़ायक़ा) भोज्य पदार्थों (खाने क़ाबिल चीज़ों)

---

1 Pleasure-Principle; Reality-Principle; Freud, *Introductory Lectures on Psycho-Analysis*, P 299 (pub. 1933).

की याद करने से ही भूख नहीं मिटती; 'मन मोदक नहि भूख बुताई', बल्कि कभी तो और ज़ोर पकड़ती है; और बीमारी के फिर से उभरने का डर भी सर्वथा (कुल्लन्) नहीं मिटता । इस लिये जो मनुष्य 'स्मृतिलाभ' (याद की बाज़-याबी) के गुणो (नफ़ों) को ठीक-ठीक जानना और अनुभव करना चाहै, दुःख के जड़ मूल का ऐकान्तिक आत्यंतिक (क़तई व दवामी) नाश (दफ़ा, इलाज) चाहै, उस को आत्मविद्या की ही शरण लेना (इल्मि-रूह, इलाहीयात, तसव्वुफ़, पर ही तवक्कुल करना) पड़ेगा, और नीचे लिखे श्लोकों पर ध्यान देना होगा, जिन के ही अर्थ के व्याख्यान का प्रयत्न इस ग्रंथ मे यहाँ तक किया गया है ।

नष्टो मोहः; स्मृतिर्लब्धा[1], त्वत्प्रसादान्मया, ऽच्युत !,
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ।
(गीता)

भिद्यते हृदयग्रंथिः[2], छिद्यंते सर्वसंशयाः[3],
क्षीयंते च ऽस्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ।
(मुंडकोपनिषत्)

यदा सर्वे प्रभिद्यंते हृदयस्येह ग्रंथयः[2],
यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामाः[4] येऽस्य हृदि श्रिताः,
अथ मर्त्यो ऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ।
(कठोपनिषत्)

वासनाक्षय-विज्ञान-मनोनाशैः, महामते !,
विभेद्यंते, चिराभ्यस्तैः, हृदयग्रंथयो[2] दृढाः ।
(मुक्तिकोपनिषत्)

ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषु उपजायते,
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधो ऽभिजायते ।

---

१ Recovery of memory.　२ Complexes.　३ Doubts.
४ Subconscious desires.

क्रोधाद् भवति संमोहः[५], संमोहात् स्मृतिविभ्रमः[६]।
स्मृतिभ्रंशाद् [७]बुद्धिनाशो[७], बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयान् इन्द्रियैश्चरन्,
आत्मवश्यैः, विधेयात्मा, प्रसादं[८] अधिगच्छति।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते[९]।

(गीता)

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः[९],
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतो, ऽस्मृत[१०]कंठमणिः।
असुतृपयोगिनां उभयतोऽभि भयं, भगवन्!,
अनपगतान्तकाद्, अनधिरूढपदाद् भवतः।

(भागवत)

उद्धरेदात्मना ऽात्मानं न ऽात्मानं अवसादयेत्[११];
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुः, आत्मैव रिपुः आत्मनः।
आढ्योऽभिजनवान् अस्मि, कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया[१२],
ईश्वरोऽहं[१३] अहं भोगी—इत्यज्ञानविमोहिताः,
आत्मसंभाविताः[१०], स्तब्धाः, धनमानमदान्विताः,
प्रसक्ताः कामभोगेषु, पतंति नरकेऽशुचौ।

(गीता)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,

---

५ Delusions, hallucinations, illusion.

६ Confusion of memory. ७ Loss of understanding. ८ Placidity, lucidity. ९ Steady understanding. १० Forgotten, repressed, subconscious memory. ११ आत्मावसाद-ग्रंथिः, Inferiority complex. १२ आत्मसम्भावन-ग्रंथिः, Superiority complex. १३ Megalo-mania.

स्मृतिलम्भे[1] सर्वग्रंथीनां[2] विप्रमोक्षः[14]। तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत् कुमारः। ॐ।

थोड़े मे इन श्लोकों का आशय यह है। आत्मा की स्मृति ज्यों ज्यों उज्ज्वल होती है, त्यों त्यों मोह नष्ट होता है; सब सन्देह दूर हो जाते हैं; हृदय मे चिरकाल से गँठी, अस्मिता, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या आदि की गाँठें कट जाती हैं; मर्त्य मनुष्य अमर हो जाता है, अर्थात् निश्चय से जान जाता है कि मै अमर हूँ, क्योंकि वस्तुतः अमर तो सदा से है, नई अमरता उस को नहीं मिलती, भूली हुई अमरता का केवल पुनः स्मरण हो जाता है। विशिष्ट उत्तम ज्ञान और वासना का क्षय, और भेदभावात्मक मन का नाश—यह तीन साथ साथ चलते हैं, यही हृदय की गाँठों का कटना, उलझनो का सुलझाव, है। विषयों का ध्यान करने से उन मे आसक्ति, उस से काम, उस से क्रोध, उस से स्मृति का भ्रंश, उस से बुद्धिनाश, उस से आत्मनाश होता है; बुद्धि स्थिर होती है, दुःख मिटते हैं। यतियों का परम कर्त्तव्य है कि कामवासना की जटाओं को, हृदय की गाँठों को, आत्म-विद्या के अभ्यास से काट; आत्मा की स्मृति का, आत्मा के ज्ञान का, लाभ करें; सब प्रकार के भयों से, अन्ततः भय के, भय से भी, स्वयं मुक्त हों और दूसरों को मुक्त करावैं। आत्मा का अवसाद भी, आत्मा की अहंकारात्मक संभावना भी, दोनो ही पतन के हेतु हैं; दोनो से बचना चाहिये। आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि, उस से स्मृति का लाभ, उस से सब हृदय की सब ग्रंथियों का मोक्षण होता है। तब राग-द्वेष से मुक्त जीव को भगवान् सनत्कुमार, जो परमात्मा की विभूति ही हैं, सब हृदयों मे स्थित हैं, तमस् के परे आत्म-ज्योति का दर्शन कराते हैं॥ ॐ॥

---

१४ Solving, re-solving, dissolving, of complexes: loosening, untying, of heart-knots; 'setting free of the soul'.

चौथा अध्याय

'दर्शन'-शब्द; 'दर्शन'-वस्तु; 'दर्शन'-प्रयोग

ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्,
तत् त्वं, पूषन्!, अपावृणु, सत्यधर्माय 'दृष्टये' ॐ
(ईशोपनिषत्)

'सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँका है। हे पूषन्!, सब जगत् का पोषण करने वाले परमात्मन्!, अन्तरात्मन्!, उस ढकने को हटाइये, कि सत्य अर्थात् ब्रह्म का, परमात्मा का, आप का, और सनातन ब्रह्म परमात्मा पर प्रतिष्ठित धर्म का, कर्त्तव्य का, आत्मज्ञानानुकूल, आत्मविद्यासम्मत, कर्त्तव्य धर्म का, दर्शन हम को हो!'

'दर्शन'-शब्द

'दर्शन' शब्द का प्रयोग, प्रस्तुत अर्थ मे, यथा 'षड्दर्शन', 'सर्व-दर्शन-संग्रह', कब से आरंभ हुआ, इस का निश्चय करना कठिन है। ईशोपनिषत् का जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया है, उस मे 'दृष्टये' शब्द आया है। प्रसिद्ध है कि ईशोपनिषत्, शुक्ल-यजुर्वेद संहिता का अंतिम, अर्थात् चालीसवाँ, अध्याय है। स्यात् 'दृश्' शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग यही पहिला हो।

'दर्शन' की शक्ति का लाभ करने के 'रहस्य' योगमार्गीय उपाय

इस औपनिषदी ऋचा का अर्थ 'रहस्य' है—ऐसा अभ्यासी विरक्तों से सुनने मे आया है। 'मुंडक' उपनिषत् मे कहा है कि, "शिरोव्रतं

विधिवद्यैस्तु चीर्णं'' जिन्हों ने 'शिरोव्रत' का विधि से अभ्यास किया है वे ही सत्य-दर्शन, आत्म-दर्शन, ब्रह्म-दर्शन, तथा सनातन आत्मा पर प्रतिष्ठित सत्य सनातन धर्म का दर्शन, करने की शक्ति पाते हैं। 'शिरोव्रत' का वर्णन देवी भागवत के ग्यारहवें स्कंध मे किया है। यम-नियमादि से शरीर और चित्त को पवित्र कर के, एक प्रकार के विशेष ध्यान द्वारा सिर के, मस्तिष्क के, भीतर वर्त्तमान 'चक्रों', 'पद्मों', 'पीठों', 'कन्दों' ('लतायफ़ि सित्ता') का उज्जीवन, उत्तेजन, संचालन करने का अभ्यास करना—यह 'शिरोव्रत' जान पड़ता है। अंग्रेज़ी मे इन 'कंदों' ('ग्लैंड्ज़', 'प्लेक्सलेज़', 'गांग्लिया' 'लोब्ज़') को 'पिटुइटरी बाडी' 'पाइनीयल ग्लैंड', आदि के नाम से कहते हैं[१]। 'पाइनीयल ग्लैंड' मे कुछ पीले अणु रहते हैं; स्यात् इस लिये 'हिरण्मय' कहा है; इस को संस्कृत मे 'देवाक्ष' 'दिव्यचक्षु' 'तृतीय नेत्र' आदि भी कहते हैं[२]। अपवित्र अशुद्ध मन और देह से अभ्यास करने से घोर आधि-व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं। वेदों के अन्य मन्त्र ऐसे 'रहस्यों' का इशारा करते हैं। यथा,

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्; तस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः;
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति? ये इद्विदुस्तत्ते इमे समासते।

शंकराचार्य ने इस का अर्थ श्वेताश्वरोपनिषत् के भाष्य मे इतना ही किया है कि आकाश-सदृश अक्षर परम ब्रह्म मे सब देव आश्रित हो कर अधिष्ठित हैं; उस परमात्मा को जो नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, वे ये कृतार्थ हो कर बैठे हैं।' पर अभ्यासियों से सुनने मे आया है कि 'व्योम' शब्द का अर्थ, ऐसे प्रसंगों

---

१ Glands, plexuses, ganglia; pituitary body, pineal gland.

२ H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine*, (Adyar edn.) Vol 5, pp. 480, et seq. मे इन चक्रों के विषय मे, पाठकों को, यदि वे खोज करें, तो कुछ इशारे मिल सकते हैं।

मे, प्रायः शिरःकपालांतर्गत आकाश होता है; तथा 'ऋचः' 'देवाः', आदि का अर्थ मस्तिष्क और पृष्ठवंश मे स्थित विविध ज्ञान-कर्मेन्द्रियादि से सम्बन्ध रखने वाली विविध नाड़ियों और नाड़िग्रंथियों, चक्रों, का होता है। इन के पोषण और उपोद्वलन से सूक्ष्म पदार्थों के 'दर्शन', दिव्य भावों के 'ज्ञान', की शक्ति बढ़ती है।

'दर्शन'-वस्तु

आत्म-'दर्शन', आत्म-'ज्ञान', ही भगवद्गीता के 'गुह्य', 'गुह्याद् गुह्य-तर', 'गुह्यतम', 'परम गुह्य', 'सर्वगुह्यतम', 'शास्त्र' का, वेद वेदांत का, मुख्य इष्ट और अभिप्रेत है।

मां विधत्ते, ऽभिधत्ते मां, विकल्प्य ऽपोह्यते त्वहम्,
एतावान् सर्ववेदार्थः ; शब्दः, आस्थाय मां, भिदाम्
मायामात्रं अनूद्य, ऽन्ते प्रतिषिध्य, प्रसीदति। (भागवत)

'मां' अर्थात् आत्मा, परमात्मा, को ही, तरह-तरह से कहना; 'अहम्'-पदार्थ, 'आत्मा'-पदार्थ, 'परमात्मा'-पदार्थ, के विषय मे, विविध प्रकार के (विकल्पों, क़यासों) को उठा कर उन का अपोहन, खंडन, निरसन, प्रतिषेधन, (इनक़िता) करना; 'मां' परमात्मा को ही, सब शब्दों से, तर्कों से, आस्थित, प्रतिष्ठित करना, और सब भेदों को 'मायामात्र', धोखा, (जाल, फ़ित्ना), ही सिद्ध करना; यही समग्र वेद का, समस्त विद्या का, अर्थ है, उद्देश्य है, एकमात्र अभीष्ट लक्ष्य है।

'दर्शन'—शब्द का व्यवहार अन्य ग्रन्थों और अर्थों मे

आदिम उपनिषत्, 'ईश', मे प्रयुक्त होने के बाद, अन्य उपनिषदों मे बहुतायत से 'दृश्' धातु से बने शब्दों का, 'आत्म-दर्शन' के अर्थ मे, प्रयोग हुआ है। यथा,

आत्मा वा ऽरे 'द्रष्टव्यः' श्रोतव्यो, मंतव्यो, निदिध्यासि-तव्यः ; नऽन्यद् आत्मनोऽपश्यत् ; आत्मन्येवात्मानं पश्यति ;

सर्वमात्मानं पश्यति ; आत्मनि खलु अरे 'दृष्टे' श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ; आत्मनो वाऽरे 'दर्शनेन' सर्वं विदितम् (बृ०); ब्रह्म ततं 'अपश्यत्' (ऐ०); यत्र नान्यत् 'पश्यति' स भूमा; तमसः पारं 'दर्शयति' (छां०) 'अभेददर्शनं' ज्ञानं (स्कंद०); यदा ऽत्मना ऽत्मानं 'पश्यति' ; ब्रह्म तमसः पारं 'अपश्यत्' ; स्वे महिम्नि तिष्ठमानं 'पश्यति' (मैत्री०); तस्मिन् 'दृष्टे' परावरे ; ततस्तु तं 'पश्यति' निष्कलं ध्यायमानः ; तं 'पश्यंति' यतयः क्षीणदोषाः (कठ०); 'दृश्यते' त्वग्र्यया बुद्ध्या; विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः 'पश्यति' स 'पश्यति' (गीता०); आत्मानं 'पश्यावः' (छा०) । इति प्रभृति ।

प्रसिद्ध छः 'दर्शनो' मे, पतंजलि के रचे योगसूत्रों पर, व्यास नामक विद्वान् के बनाये भाष्य मे, सांख्य के प्रवक्ता अति प्राचीन पंचशिखाचार्य के एक सूत्र का उद्धरण किया है, 'एकमेव दर्शनम् , ख्यातिरेव दर्शनम्' । इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकारों से पुराने टीकाकारों ने किया है ; स्यात् यों करना भी अनुचित न हो कि 'पुरुष और प्रकृति की विवेक ख्याति, प्रकृति-पुरुष-ऽन्यता-ख्याति, आत्मा और अनात्मा, अहम् और इदम् (वा एतत्), की परस्पर अन्यता विभिन्नता की ख्याति अर्थात् ज्ञान—यही एकमात्र सच्चा अन्तिम दर्शन है ।'

प्रचलित 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ मे भी, जो यद्यपि मूल 'वृद्धमनु' नहीं कहा जा सकता तो भी बहुत प्राचीन है, 'दर्शन' शब्द आत्मज्ञान के ही अर्थ मे मिलता है । यथा,

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिंद्रियाणां च संयमः ,
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ।
सर्वेषामपि चैतेषात्मज्ञानं परं स्मृतम् ,
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते ह्यमृतं ततः ।

'सम्यग्दर्शन'सम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ;
'दर्शनेन' विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।

सब धर्मों, कर्मों, विद्याओं से बढ़ कर आत्मज्ञान 'सम्यग्दर्शन' है; उस से अमरता, दुःखों से मुक्ति, मिलती है । याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी इसी अर्थ का अनुवाद किया है ।

इज्या-ऽाचार-दम-ऽहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेन 'ऽात्मदर्शनम्' ।

योग कर के आत्मा का 'दर्शन' करना, अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना)—यही परम धर्म है ।

बुद्धदेव के कहे हुए आर्य मार्ग के आठ 'सम्यक्' अंगों मे 'सम्यग्-दृष्टि' सब से पहिले है । जैन सम्प्रदाय के 'तत्त्वाधिगम-सूत्र' का पहिला सूत्र 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः' है । इस को उमास्वाती (वा स्वामी) ने ईसा मसीह की दूसरी शती मे रचा ।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, ही मुख्य दर्शन है । मानव जाति के वर्त्तमान युग मे, ज्ञानेन्द्रियों मे सब से अधिक बलवान् और उपयोगी 'अक्षि', 'चक्षु', 'नेत्र', 'नयन' हो रहा है । 'देख' लेना ही ज्ञान का सब से अधिक विशद विस्पष्ट प्रकार माना जाता है ; 'जो सुनते थे सो देख लिया', 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः', ऐसे सच्चे विद्वान् जो सुनी बात को प्रति-अक्ष, आँख के सामने, कर दिखावें । सूफ़ी लोग भी फ़ारसी भाषा मे, आत्म-दर्शन को 'दीदार' कहते हैं । अंग्रेज़ी 'मिस्टिक' लोग भी उस को 'व्हिझ़न आफ़ गाड' कहते हैं[१] । आँख ही मनुष्य को रास्ता दिखाती है, उस को ले चलती है, 'नेता' 'नायक' का काम करती है, इस लिए 'नेत्र' 'नयन' कहलाती है ।

---

१ Vision of God.

'वाद', 'मत', 'बुद्धि', 'दृष्टि' 'राय'

विचार की शैली, विचार का प्रकार, मत, 'वाद', के अर्थ मे गीता मे 'दृष्टि' शब्द मिलता है।

> असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरं ;
> अपरस्परसंभूतं, किमन्यत्, कामहैतुकम्।
> एतां 'दृष्टिं' अवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः
> प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।

बुद्धि थोड़ी ; राग-द्वेष (ख़श्म-शह्वत) बहुत ; दृष्टि, राय, यह है कि दुनिया अचानक परस्पर काम-वासना से पैदा हो गई हैं, इस का बनाने वाला सम्हालने वाला कोई ईश्वर पदार्थ नहीं; ऐसी दृष्टि वाले लोग, अपने उग्र, निर्दय, घोर, क्रूर कर्मों से, जगत् का विनाश करने मे, धार्मिक मर्यादा का भंग करने मे ही, प्रवृत्त होते रहते हैं।

न्याय-सूत्र के वात्स्यायन भाष्य मे भी 'प्रावादुकानां दृष्टयः', मिलता है। किन्हीं प्रतियों मे 'प्रावादुकानां प्रवादाः', ऐसा भी पाठ है। आशय दोनो शब्दों का वही है। स्पष्ट अर्थ मे थोड़ा अंतर कह सकते हैं। 'दृष्टि', 'दर्शन' का अर्थ है देखना, निगाह, राय, मत। 'वाद' 'प्रवाद' का अर्थ है कहना, राय का ज़ाहिर करना। 'उन की राय यह है' 'उनका कहना यह है'। 'दर्शन' स्व-गत, अपने लिये ; 'वाद' 'प्रवाद', पर-गत उस दर्शन का विख्यापन, प्रवचन, दूसरे के लिये।

'जगह बदली, निगाह बदली'

'प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेदः', यह कहावत प्रसिद्ध है। शिवमहिम-स्तुति का श्लोक है,

> प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

प्रस्थान बदला, दृष्टि बदली। जगह बदली, निगाह बदली। हालत बदली, राय बदली। अंग्रेज़ी में भी यही कहावत है।

'ऐज़ दि स्टैंडप्वाइंट, सच् दि व्यू; ओपिनियन् चेञ्जेज़ विथ् दि सिचुएशन।'[१]

महाभारत मे (सौप्तिक पर्व मे) श्लोक है।

अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्ध्या भवति मोहितः,
मध्येऽन्यया, जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिं।
तस्यैव तु मनुष्यस्य सा-सा बुद्धिस्तदा-तदा,
कालयोगे विपर्यासं प्राप्यऽन्योन्यं विपद्यति।

जवानी मे बुद्धि, मति, एक होती है ; मध्यवयस् मे दूसरी; बुढ़ापे मे तीसरी। पिछली बुद्धि पहिली बुद्धि को दबा देती है। इस प्रकार से राय या मत के अर्थ मे, 'बुद्धि' शब्द का भी प्रयोग होता है।

'दर्शन' शब्द का रूढ़ अर्थ

तो भी, अब रूढ़ि ऐसी हो रही है कि इस देश मे संस्कृत जानने वालों की मंडली मे 'दर्शन' शब्द से, मुख्यतया छः दर्शन, और, साधारणतः, प्रायः सोलह दर्शन कहे जाते हैं, जिन का वर्णन माधवाचार्य के सर्व-दर्शन-संग्रह नामक ग्रंथ मे किया है। चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुजीय, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश-पाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर-शैव), रसेश्वर (आवधूतिक सिद्धपारद-रस), औलूक्य (काणाद वैशेषिक), अक्षपाद (गौतमीय न्याय),जैमिनीय (पूर्व मीमांसा),पाणिनीय (वैयाकारण), सांख्य (कापिल), पातंजल (योग) शांकर (अद्वैत वेदांत)। मधुसूदन सरस्वती ने, महिम-स्तुति की टीका मे, प्रस्थानभेद नामक

---

१ As the standpoint or viewpoint, point of view, angle of vision, such the view; opinion changes with situation. 'प्रस्थान' का अर्थात् 'चलना' भी है; जैसे रास्ते से चले, वैसे दृश्य देख पड़ते हैं; पर लक्ष्य, पहुँचने का अंतिम स्थान, सब मार्गों का यही एक ही है। अंग्रेजी मे 'प्रस्थान-भेद' को 'Different starting-points' 'Various points of departure' कहते हैं।

प्रकरण मे, छः आस्तिक, और छः नास्तिक दर्शन गिनाये हैं; अर्थात् (१) न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीरक (ब्रह्म) मीमांसा, सांख्य, योग; (२) सौगत (बौद्ध) दर्शन के चार भेद, माध्यमिक,योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक; और चार्वाक और दिगम्बर (जैन) ।[१]

'वाद', 'इज़्म'

'वाद' शब्द मे सैकड़ों प्रकार अंतर्गत है । किसी भी शब्द के साथ 'वाद' शब्द लगा देने से एक प्रकार का 'वाद', एक विशेष मत, संकेतित हो जाता है; जैसे आजकाल अंग्रेज़ी मे 'इज्म' शब्द जोड़ देने से । एक एक दर्शन मे बहुत बहुत वादों के भेद अन्तर्गत हो रहे हैं; अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, भेदवाद, अभेदवाद, आरंभवाद, परिणामवाद, विकारवाद, विवर्तवाद, अध्यासवाद, आभासवाद, मायावाद, शून्यवाद, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, क्षणिक-विज्ञानवाद, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, उच्छेदवाद, अनुच्छेदवाद, प्रभृति । अंग्रेज़ी मे इन के समान मोनिज़्म, ड्युएलिज़्म, थीज़्म, पैन्थीज़्म, ट्रान्सफार्मेशनिज़्म, रीयलिज़्म, आइडियालिज़्म, एवोल्यूशनिज़्म,एब्सोल्यूटिज़्म आदि हैं । बुद्धदेव के 'ब्रह्मजाल सूत्र' मे बासठ वाद गिनाये हैं । सैकड़ों गिनाये जा सकते हैं । 'मुंडे मुंडे

---

१ अब हिन्दी मे तीन ग्रन्थ बहुत अच्छे बन गये हैं, (१) राहुल सांकृत्यायन विरचित 'दर्शन का दिग्दर्शन', जिसमे पाश्चात्य दर्शनों का भी संक्षेप से इतिहास दिया है; (२) देशराज कृत 'भारतीय दर्शन का इतिहास' (३) बलदेव उपाध्याय रचित 'भारतीय दर्शन' । इन मे माधवाचार्य के 'सर्व-दर्शन संग्रह' तथा हरिभद्र के 'षड्दर्शन समुच्चय' से अधिक सामग्री है । ठीक ही है, माधव और हरिभद्र के समय मे छापाखाना नहीं था, न इतने छपे ग्रन्थ उपलभ्य थे, जिन मे से बहुतेरे तो लुप्त हो रहे थे, अब मिले और छापे गये हैं ।

मतिर्भिन्ना'। आजकाल नये नये वाद बनते जाते हैं, यथा—व्यक्तिवाद, समाजवाद, जातिवाद, व्यष्टिवाद, समष्टिवाद, वर्गवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, श्रमवाद, लोकतंत्रवाद प्रभृति। अंग्रेज़ी मे इन के मूल शब्द, जिन के ये अनुवाद हैं, इण्डियिड्यु लिज़्म, सोशलिज़्म फ़ैशिज़्म, नैशनलिज़्म, कलेक्टिविज़्म, कम्यूनिज़्म, इम्पीरियलिज़्म, कैपिटलिज़्म, प्रालिटेरियनिज़्म, डेमोक्रैटिज़्म हैं। प्रत्येक वाद के मूल मे एक 'दर्शन' 'फिलासोफ़ी' 'मत' 'बुद्धि' 'राय' 'दृष्टि' लगी है। संस्कृत के प्रसिद्ध दर्शन ग्रंथों मे, यथा वेदांत-विषयक बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर शंकर के शारीरक-भाष्य, रामानुज के श्री-भाष्य, वाचस्पति मिश्र की भामती, श्रीहर्ष के खंडनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य की चित्सुखी, मधूसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि और संक्षेपशारीरक-टीका, अप्पय्य दीक्षित के सिद्धान्तलेश, मे; एवं, न्याय-विषयक गौतम के न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य, उस पर उद्द्योतकर का वार्त्तिक, उस पर वाच-स्पति की टीका; तथा नव्यन्याय-विषयक गणेश कृत तत्त्वचिंतामणि, उस पर मथुरानाथी, गादाधारी, जागदीशी आदि टीका मे; एवं मीमांसा-विषयक जैमिनिकृत पूर्व-मीमांसा-सूत्रों पर शाबर भाष्य, उस पर कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक और तंत्रवार्त्तिक और टुप् टीका; पीछे खंड-देव की भाट्टदीपिका; आदि सैकड़ों ग्रंथों मे प्रतिपद पूर्व पक्षों और उत्तर पक्षों की भरमार है। प्रत्येक 'पक्ष' को 'वाद' 'दृष्टि' कह सकते हैं।

'वाद' 'विवाद' 'सम्वाद'

वादों के साथ 'विवाद' भी बढ़ते जाते हैं। अनंत कलह और संघर्ष मचा हुआ है। वाग्युद्ध के कोलाहल से कान बधिर और बुद्धियाँ व्याकुल हो रही हैं। किसी विचार मे स्थिरता, बद्धमूलता, नही देख पड़ती। कलियुग का अर्थ प्रत्यक्ष हो रहा है। 'सम्वाद', समन्वय, संमर्श, सामरस्य, एकवाक्यता, का यत्न, और उस की आशा, दिन

दिन कम होती जाती है। विरोध-परिहार के स्थान मे विरोध-संचार-प्रचार ही अधिक हो रहा है; मनुष्य-मात्र के जीवन के सभी अंगों, अंशों, पहलुओं मे। स्यात् अंतरात्मा, सूत्रात्मा, जगदात्मा को, यह सबक़, यह शिक्षा, मानव लोक को नये सिर से सिखाने की ज़रूरत जान पड़ती है, कि—

विपदः संतु नः शश्वत् तत्र तत्र, जगद्गुरो !,
भवतो 'दर्शनं' यत् स्याद् अपुनर्भव-'दर्शनम्'। (भागवत)

'सिर पर विपत्ति पड़े बिना, परमात्मा के दर्शन की इच्छा नहीं होती, और दर्शन नहीं होता; इस लिये, हे भगवन् !, हे जगद्गुरो !, हम पर विपत्तियाँ डालिये, कि हम आप की खोज करैं, आप को पावैं, देखैं, और तब पुनर्जन्म को न देखैं।'

वादों का समन्वय, और विवादों के स्थान मे सम्वाद तभी हो सकता है, जब 'राग-द्वेष', और उन का मूल, 'अस्मिता', अहंकार, 'अहमहमिका', 'हमहमा', 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया', 'हम् चु मन् दीगरे नीस्त', भेद-बुद्धि, स्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष, के जगद्व्याप्त भाव मे कमी हो, और आत्मदर्शन की ओर मनुष्य झुकें।[1]

सद् किताबो सद् वरक़् दर् नार् कुन्;
जानो दिल् रा जानिबे दिलदार् कुन्। (मौलाना रूमी)

'सैकड़ों पन्नो की इन मोटी मोटी सैकड़ों किताबों को, जिन मे केवल कठहुज्जत भरी है, आग मे डालो; और अपने दिल, अपनी जान,

---

१ अध्यात्म-विद्या द्वारा, सब वादों, विवादों, मतों, दृष्टियों का विरोध-परिहार, सब का समन्वय, कैसे होता है—यह मै ने "समन्वय" नामक अपने हिन्दी ग्रन्थ मे दिखाने का यत्न किया है। तथा, विशेष कर सर्व-धर्म-समन्वय, सब धर्म-सम्बन्धी मतों, सम्प्रदायों, की एकता दिखाने का यत्न अंग्रेज़ी The Essential Unity of All Religions मे।

को, दिलदार, परमात्मा, सर्वव्यापी अंतरात्मा, की ओर झुकाओ; तभी शांति, स्नेह, प्रेम, तबीयत मे मिठास, ज़िंदगी मे कोमलता, पाओगे ।'

शास्त्राणि अभ्यस्य मेधावी, ज्ञानविज्ञानतत्परः,
पलालमिव धान्यार्थी, त्यजेत् ग्रंथान् अशेषतः । (पंचदशी)

'धान्य (धान) ले लो, पयाल को छोड़ दो; मुख्य अर्थ को, ज्ञान-विज्ञान के सार को, ले लो, पोथियों और कठहुज्जतों को दूर करो ।'

लेकिन, 'पढ़े पंडित नहीं होता, पड़े (सिर पर मुसीबत पड़ने से) पंडित होता है', दुनिया ठीक ठीक, अपरोक्ष, समझ मे आती है । इस समय, ईसा की बीसवीं शताब्दी के परार्द्ध, विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध, मे, पृथ्वीतल के सभी देशों मे, सभी मानव जातियों की, जो परस्पर घोर कलि और कलह की अवस्था हो रही है, उस से यही अनुमान होता है कि सन् १९१४-१८ ई० और १९३९-४५ के विश्व-युद्ध से मानव जाति के दुष्ट मानस भावों का विरेचन पर्याप्त नहीं हुआ; पुनरपि घोर 'महाभारत' और 'यादव-संहार' होगा; और तभी पुनः अध्यात्म-शास्त्र के तत्वों तथ्यों की ओर मनुष्य झुकेंगे, और उन के अनुसार छिन्न-भिन्न, शीर्ण-जीर्ण, दीन-हीन-क्षीण मानव समाज के पुनर्निर्माण का यत्न, वर्णाश्रम-धर्म की विधि से, करेंगे; जैसा, महाभारत युद्ध के पीछे, भीष्म से उपदेश ले कर, युधिष्ठिर ने किया ।[१]

तत्वबुभुत्सया वादः, विजिगीषया जल्पः,
चिखण्डयिषया वितंडा । (न्याय-भाष्य)
अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदतामहम् । (गीता)

---

१. १९४५ मे यूरोप मे और १९४६ मे एशिया मे नाम मात्र को युद्ध समाप्त हुआ; असल मे, बिना अस्त्र शस्त्र के प्रयोग के, खाना-कपड़ा ईंधन आदि आवश्यकीय वस्तुओं के अभाव से, जन-संहार जारी ही है । एवं चीन, कोरिया, फ़िलिस्तीन, इन्डोनीशिया मे, रक्तपात हो ही रहा है ।

गीता मे कहा है कि 'सब विद्याओं मे श्रेष्ठ अध्यात्म-विद्या है'। न्यायशास्त्र मे प्रसिद्ध है कि, तत्व के निर्णय के लिये जो बात, परस्पर आलाप, तर्क-प्रति-तर्क, बहस, की जाय, वह 'वाद' कहलाता है; जो केवल वाग्युद्ध मे अपने पक्ष का जय, और दूसरे का पराजय, करने की इच्छा से हो, वह 'जल्प'; और जिस मे अपने मत का प्रतिपादन न हो, केवल दूसरे का खंडन, वह 'वितंडा'।' इस लिये वार्तालाप के प्रकारों मे उत्तम प्रकार 'वाद' है। यहाँ 'वाद' शब्द का अर्थ शंका-समाधान-ऽात्मक, उत्तर-प्रत्युत्तरऽात्मक, 'बहस' है, 'मत' नहीं। अहमहमिका (हमहमा, ख़ुदी, ख़ुदनुमाई) का ज़ोर जब तक है, 'मेरी ही राय सहीह, दूसरों की राय ग़लत', 'क़बूल करो कि तुम हारे, मै जीता,' तब तक जल्प, वितंडा, कलह, हुज्जत, फ़साद, जंग और जिद्दाल, का ही दौर रहेगा, विवाद मे ही रस मिलेगा, वाद और सम्वाद की ओर लोग मन न देंगे। तथा अधिभूत-विद्याओं की, 'नफ़सानियत' की, क़दर बहुत होगी, और अध्यात्म-विद्या का, 'रूहानियत' का, आदर कम होगा।

इसी कठ-हुज्जत से घबरा कर महिमस्तुतिकार बेचारा कहता है—

ध्रुवं कश्चित् सर्वं, सकलं अपरस्तु अध्रुवमिदं,
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये,

और भारत मे, जहाँ अब तक यूरोप के ऐसा रक्तपात नहीं हुआ था, यद्यपि आवश्यकीयों के अभाव से और महामारियों से वैसे ही बहुसंख्यक मनुष्य मरे जैसे यूरोप मे युद्ध से, वहाँ १५ अगस्त, १९४७ से रुद्र-काली का घोर तांड़व आरम्भ हुआ। उस तिथि को भारत के दो टुकड़े, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, किये जाने की घोषणा के बाद दारुण हुआ, और लाखों स्त्री, पुरुष, बच्चे, हिन्दू पहिले और पीछे मुसलमान भी, मारे गये। अब (सन् १९५३ ई० मे) प्रत्यक्ष युद्ध तो प्रायः तीन चार वर्ष से रुका है; पर भारत मे निवारणात्मक, आत्मरक्षणात्मक, और पाकिस्तान मे आक्रमणात्मक, युद्ध की सज्जता है और बढ़ रही है।

समस्ते ऽप्येतस्मिन्, पुरमथन !, तैर्विस्मित इव,
स्तुवन् जिह्रेमि त्वां, न खलु ननु धृष्टा मुखरता।

'कोई कहता है कि यह सब सत्य है, ध्रुव है, कोई कहता है कि यह सब असत्य है, अध्रुव है, कोई कुछ, कोई कुछ; अनंत प्रकार की अस्त-व्यस्त बातों का कोलाहल मचा हुआ है। हे परमात्मन् !, तीनो पुर के मथने वाले !, (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) तीनो शरीरों का, तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनो अवस्थाओं का, अनुभव करने और उन से परे रहने वाले!, उन का निषेध और नाश करने वाले!, इस सब कोलाहल के बीच मे चकित और त्रस्त हो कर मुझे आप की स्तुति मे भी मुह से शब्द निकालते लज्जा होती है, और कुछ भी कहना धृष्टता, ढिठाई, जान पड़ती है।'

परन्तु, मनुष्य की प्रकृति ही 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश', से बनी है। जैसे क्रिया-प्रधान, शूर, साहसी जीवों को भुजा से, या 'अस्त्र-शस्त्रों' से, युद्ध करने मे 'रण-रस' मिलता है, वैसे ज्ञान-प्रधान वावदूक, विद्वान्, शास्त्री जीवों को 'शास्त्रों' से, 'शास्त्रार्थ' विचार के बहाने जिह्वा से, मल्लयुद्ध करने मे 'अहंकार' का वीर-रस मिलता है। यूरोप देश मे भी 'ओडियम् थियोलाजिकम्' प्रसिद्ध है[1]। मध्यकालीन भारत की कहानियों मे माधव-रचित 'शंकरदिग्विजय' मे कहा है कि जब शंकराचार्य अपना शारीरक-भाष्य ले कर काशी आये, तब ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता बादरायण व्यास, एक वृद्ध पण्डित का वेश बना कर उन से किसी गली मे मिले; और वेदान्त-विषयक प्रसंग छेड़ा। फिर क्या था,

दिनाष्टकं वाक्कलहो जजृम्भे।

आठ दिन रात, गंगा के तट पर, खड़े खड़े ही हुज्जत जारी रही।

शंकर का, मंडन मिश्र और उन की पत्नी परम विदुषी श्री शारदा

---

1 Odium theologicum.

देवी से, जो शास्त्रार्थ हुआ, उस की भी कहानी उसी ग्रन्थ मे कही है। आठ दिन तक तो ब्रह्मा के अवतार मंडन मिश्र से वाग्युद्ध हुआ। जब वे हार गये, तब सत्रह दिन तक सरस्वती की अवतार शारदा देवी से बहस हुई।

अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोः, अतिजल्पतोः सममनल्पधियोः, मति-चातुरी-रचित-शब्दझरी-श्रुति-विस्मयीकृत-विचक्षणयोः । न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम, नैयमिककालमृते, मतिवैभवाद् अविरतं वदतोर्दिवसाश्च सप्तदश चात्यगमन्।

'शब्दों की ऐसी झरी लगी, जैसे वर्षा मे आकाश से जल की धाराओं की; सुनने वालों के कान उन की ध्वनि से, और मन अचरज से, भर गये; नियम के कृत्यों के समय को छोड़ कर, हुज्जत बन्द ही न होती थी, न दिन मे, न रात ही मे; सत्रह दिन बीत गये।' कवि ने यह स्पष्ट कर के नहीं लिखा कि खाने के लिये कथा रुकती थी या नहीं; क्योंकि यह तो 'नियम' का 'कृत्य' नहीं है; शौच, स्नान, संध्यावंदन, आदि तो नियत हैं, अपरिहार्य हैं; पर उपवास तो किये जा सकते हैं! अस्तु। कथा से यह तो सिद्ध हुआ कि मंडन मिश्र का कहना ही क्या है, वेदान्त-प्रतिपादक शंकराचार्य भी वाग्युद्ध के कम शौक़ीन न थे। नव्य न्याय और नव्य व्याकरण वालों ने इस कठहुज्जत के कौशल से, निश्चयेन प्राचीनो को परास्त कर दिया है; जो साध्य है उस को भूल गये हैं; साधन मे ही मग्न हो रहे हैं; इन के कारण, साधन भी 'साधन' नहीं रहा, सर्वथा 'बाधन' हो गया। आजकाल, 'पंडित' लोग, 'वेदांत-केसरी', 'तर्क-पंचानन', 'सर्वविद्यार्णव', 'वाङ्मयसार्वभौम', 'सर्वतंत्र-स्वतंत्र', 'प्रतिवादि-भयंकर', आदि पदवियों से अपने को विभूषित करते हैं, आग्रह से, हर्ष से, रस से। ऋषियों ने ऐसी पदवियाँ अपने को नहीं दीं। कहाँ आत्मदर्शन का परम सौम्य भाव, कहाँ हिंस्र पशु केसरी,

पंचानन, अर्थात् सिंह, का भाव। भारतीय जीवन के सभी अंगो मे ऐसी ही विपरीत, विपर्यस्त, बुद्धि का राज्य देख पड़ता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते, तमसाऽऽवृता,
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिस्सा, पार्थ !, तामसी। (गीता)

'धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, जो माने, और सभी बातों को उलटा कर के समझे, वह बुद्धि तामसी है।'

भारतवर्ष मे बहुतेरे दर्शन होते हुए भी, अंततो गत्वा, सिद्धांत यही है, कि आत्मदर्शन, अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, वेद का, ज्ञान का, अंत है, इंतिहा, ख़ातमा, परा काष्ठा है। इस मे सब विद्या, सब ज्ञान, अंतर्भूत हैं। इस मे सब 'वादों' का 'सम्वाद' हो सकता है, और हो जाता है; क्योंकि परमात्मा की प्रकृति ही 'द्वन्द्वमयी', 'विरोधमयी', 'विरुद्धपदार्थमयी', 'सर्वविरूद्धधर्माणामाश्रयः', अथ च 'द्वन्द्व-पदार्थ-निषेधमयी' है।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। (उ०)
यदाभूतपृथग्भावं एकस्थमनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तथा। (गीता)
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा; गुह्यतमं ज्ञानं विज्ञानसहितं; पाप्मानं
ज्ञानविज्ञाननाशनम्। (गी०)
एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
भिद्यते हृदयग्रन्थिः, छिद्यंते सर्वसंशयाः,
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे। (उ०)

'ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीवी, नींव है। जब जीवात्मा संसार के असंख्य नाना पदार्थों को, एक परमात्मा मे स्थित, प्रतिष्ठित; और उस एक से इन सब का विस्तार देख लेता है; तब उस का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, सम्पन्न, परिपूर्ण, हो जाता है; और वह स्वयम् ब्रह्ममय

हो जाता है। सब विस्तार को एक मूल मे बँधे देखना—यह फ़िला-सोफ़ी' है, ज्ञान, प्रज्ञान, है; एक मूल से सब के विस्तार को देखना, विशेष के साथ जानना, यह 'सायंस' है, विज्ञान है।[1] उस एक के जानने से सब वस्तु जानी जाती है। उसी आत्मा का दर्शन करना चाहिए। उस का दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ कट जाती है, संशय दूर हो जाते हैं, कर्म क्षीण हो जाते हैं'।

'दर्शन' का प्रयोग। व्यवहार मे

यह सिद्धांत हो कर भी, पुनः इस संशय मे पड़ गया, कि आत्मदर्शन का प्रयोजन, उस का फल, क्या है; केवल आत्मदर्शी जीवात्मा की प्रातिस्विक, प्रात्येकिक, 'इंडिविड्यूअलिस्ट',[2] शख़्सी, इन्फ़िरादी, शांति और व्यवहार-त्याग, प्रयत्न-त्याग, कर्मत्याग, संबंधत्याग; अथवा सार्वजनिक, सार्वस्विक, सार्विक, 'कलेक्टिविस्ट' 'सोशलिस्ट',[3] इज्माई, मुश्तरका, विश्वजनीन, सर्वजनीन, सुख समृद्धि के लिये, आत्मदर्शी का निरंतर प्रयत्न और व्यवहार-संशोधन। बुद्धदेव के बाद इसी मतभेद से हीनयान और महायान सम्प्रदायों के भेद बौद्धों मे हो गये। तथा शंकराचार्य के बाद, हीनयान के समान आशय का, अर्थात् लोक-सेवा रूप व्यवहार के त्याग के भाव का, ज़ोर, 'दश-नामी' सन्यासियों वेदांतियों मे अधिक हुआ; और रामानुजाचार्य ने महायान के सदृश लोक-सेवा लोक-सहायता के भाव को जगाया।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, का प्रयोग स्वार्थ ही है, अथवा परार्थ भी है, यह इस समय भारतवर्ष मे बहुत विचारने की बात है। भागवत मे, तथा अन्य पुराणो मे, इस का निर्णय विस्पष्ट किया है, और आर्य-सिद्धान्त यही जान पड़ता है, कि आत्म-ज्ञान लोक-व्यवहार के

---

१ Philosophy; science.

२ Individualist.

३ Collectivist; socialist

शोधन के लिये परमोपयोगी है, और इस शोधन के लिये उस का सतत उपयोग होना ही चाहिये।

गुण और दोष तो द्वन्द्वमय संसार मे सदा एक दूसरे से बँधे हैं।

सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। (गीता)
नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्, नात्यंतं दोषवत्तथा (म० भा०)

'सब कामों के साथ कुछ न कुछ दोष लगे हैं, जैसे आग के साथ धूआँ। न कोई वस्तु नितांत गुणमय है, न नितांत दोषमय' यह भाव ठीक है कि

यतो यतो निवर्त्तते, ततस्ततो विमुच्यते।

'जिधर जिधर से जीव हटता है, जिस का जिस का त्याग करता है, उस उस से मुक्त होता है।' कैसे कहें कि ठीक नहीं है?

'सन्यास' का दुष्प्रयोग

पर इस मे दोष यह देख पड़ता है कि सच्चे विरक्त, संसार से सचमुच छुटकारा पाने की इच्छा करने वाले, सांसारिक वस्तुओं और व्यवहारों का निश्छल निष्कपट भाव से 'सन्यास' करने वाले, छोड़ देने वाले, बहुत कम देख पड़ते हैं। वैराग्य के बहाने शारीर स्वार्थ के साधने वाले, मिथ्याचारी, 'सन्यासी' का नाम और वेश धारण किये, गृहस्थों के समान सब प्रकार के धन सम्पत्ति सम्बन्धी व्यवहार करते हुए, मनुष्य देश मे बहुत बढ़ गये हैं। मनुष्य गणना से, प्रायः तीस, पैंतीस, स्यात् पचास, लाख तक आदमी, इस अभागे देश मे, बैरागी, उदासी, सन्यासी, तकियादार, मुतवल्ली, फ़क़ीर, औलिया, पंथी, 'साधू', संत महंत, का नाम और वेश बनाये हुये, काषाय और 'दल्क़', अलफ़ी और ख़िर्क़ा, कंथा और गूदड़ी, की आड़ मे, (जैसे यूरोप देश मे 'मंक' 'नन्' 'एबट' 'एबेस' 'फ़ादर-सुपीरियर' आदि),[1] मठधारी,

[1] Monk, nun, abbott, abbess, father superior.

मंडलीश, सज्जादा-नशीन, स्वामी, गोस्वामी, पीठेश्वर, बने हुए, जवाहिर और गहने पहिनते, घोड़ा, गाड़ी, हाथी, और अब मोटरों पर सवार होते, राजाई और नवाबी ठाठ से रहते, ऐश और आराम के दिन बिताते हैं। कभी कभी तो घोर पाप और जुर्म कर डालते हैं; और गृहस्थों के अन्य असह्य बोझों के ऊपर, राज-कर के अति भार आदि के ऊपर, अपना बोझ और अधिक लाद रहे हैं। तुलसीदास जी लिख गये हैं, "तपसी धनवन्त, दरिद्र गृही, कलि कौतुक बात न जात कही।"

मंदिरों का दुरुपयोग

दूसरी ओर यह देख पड़ता है कि लोक-सेवा, लोक-सहायता, ईश्वर-भक्ति और परस्पर-भक्ति, सत्संग, इतिहास-पुराण-कथा, सदुपदेश, सर्वजनीन प्रेम के प्रचार के लिये, बड़े बड़े मंदिर, बड़ी बड़ी संस्था, बड़ी बड़ी मस्जिद, दरगाह, ख़ानक़ाह, बनाई जाती हैं, और वे भी, थोड़े ही दिनो मे, अपने सर्व-सत्ताक ('पब्लिक प्रापर्टी') के रूप को छोड़ कर एक-सत्ताक ('प्राइवेट प्रापर्टी, इंडिविड्युअल' या 'पर्सनल प्रापर्टी')[१] का रूप धारण कर लेती हैं। एक दल, एक गुट, एक चक्रक, एक पेटक, एक कुल, एक व्यक्ति, की निजी जायदाद हो जाती हैं। कुछ साम्प्रदायिक संस्था तो ऐसी हैं, जिन मे से एक एक मे, हज़ार हज़ार, दो दो हज़ार, रुपया तक, प्रतिदिन, 'भोगराग' मे ही ख़र्च हो जाता है। थोड़े से आदमियों को, स्यात् कुछ हज़ारों को, सुस्वाद भोजन का सुविधा होता है,। पर करोरों ग़रीबों का बोझ घटने के बदले बहुत बढ़ता है। यदि इन संस्थाओं की लाखों रुपये सालाना की आमदनियाँ सच्चे आत्मदर्शन, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी विद्या के अनुसार, जनता की, उचित वेद-वेदांग-इतिहास-पुराण-ज्ञान-विज्ञान के विविध शास्त्रों की, शिक्षा तथा चिकित्सा, और विविध ललित कलाओं और

१ Public property, private property, individual or personal property.

उपयोगी शिल्पों की उन्नति आदि के कार्य मे लगाई जायँ, तो आज भारतवर्ष का रूप ही दूसरा हो जाय। कई मन्दिर ऐसे हैं, विशेष कर दक्षिण मे, जिन मे से एक एक की आमदनी दस दस, बीस बीस, तीस तीस, लाख रुपये साल तक की है। बिहार और उड़ीसा की महंती गद्दियों की संकलित, मजमूई, आमदनी, प्रायः एक करोर रुपया सालाना कही जाती है। कोई प्रांत, कोई सूबा, नहीं, जिस मे हिंदू धर्मत्र देवत्र संस्थाओं और मुसलमानी वक़्फ़ों की आमदनी, पचासों लाख रुपयों की मीज़ान को न पहुँचती हो। यदि इस सब 'लक्ष्मी' का, उत्तम, शुद्ध, ब्रह्ममय और धर्ममय आत्मदर्शन के अनुसार, सत्प्रयोग, सदुपयोग, किया जाय, और इन सब संस्थाओं के 'साधु', सच्चे 'साधु' (साध्नोति शुभान् कामान् सर्वेषाम् इति साधुः) और विद्वान् शिक्षक, सच्चे आलिम और पीर, हो जायँ, तो सब 'युनिवर्सिटियों', 'स्कूल कालेजों'[१] पाठशालाओं, मद्रसों, का काम उत्तम रीति से इन्ही से निबहै; और इहलोक-परलोक-साधक, दुनिया और आक़बत दोनो को बनाने वाली, अभ्युदय-निःश्रेयस-कारक, ज्ञान-वर्धक, रक्षा-वर्धक, स्वास्थ्य-वर्धक, कृषि-गोरक्ष-वार्ता-वाणिज्य-शिल्प-पोषक, उद्योग-व्यवसाय-व्यापार-व्यवहार-शोधक और प्रोत्साहक, शिक्षा का प्रसार सारे देश मे हो।

आत्मज्ञानी ही व्यवहार कार्य अच्छा कर सकता है

सांख्य का रूपक है; पुरुष के आँख है, पैर नहीं; प्रकृति के पैर हैं, आँख नहीं; एक लँगड़ा है, दूसरी अन्धी; दोनो के साथ होने से, दोनो का काम चलता है। ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, शास्त्र और व्यवहार, नय और चार, नीति और प्रयोग, 'थियरी' और 'प्राक्टिस',

---

१ Universities, schools, colleges.

'सायंस' और 'ऐप्लिकेशन',[1] इल्म और अमल, का यही परस्पर सम्बन्ध है। इसी लिये मनु की आज्ञा है;

सैनापत्यं च, राज्यं च, दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविद् अर्हति। (मनु)

'सेनापति का कार्य, राजा का कार्य, दंडनेता, न्यायपति, प्राड्विवाक, 'जज', 'मजिस्ट्रेट'[2] का काम, अथ किम् सर्वलोक के अधिपति का, सम्राट्, चक्रवर्ती, सार्वभौम का कार्य, उस को सौंपना चाहिये, जो वेद के शास्त्र को, वेद के अन्त मे, वेदांत मे, अर्थात् उपनिषदों मे, कहे हुए, वेद के अंतिम रहस्य को जानता है।'

'प्रयोग' ही 'प्रयोजन'

'प्रयोजन' और 'प्रयोग' शब्द एक ही 'युज्' धातु से बने हैं। सत्ज्ञान का 'प्रयोजन', उस के संग्रह और प्रचार करने, सीखने सिखाने, का प्रेरक हेतु यही है कि उस का सत् 'प्रयोग' किया जाय; उस के अनुसार चारो पुरुषार्थ साधे जायँ।

पुराणो से निश्चयेन जान पड़ता है कि आर्यभाव, आत्मविद्या के विषय मे, यही था कि जब तक शरीर नितांत थक कर जवाब न दे दे तब तक वानप्रस्थावस्था मे भी, जीवन्-मुक्त का भी, कर्त्तव्य था कि लोक-संग्रह, लोक-व्यवहार, लोक-मर्यादा, के शोधन रक्षण मे यथाशक्ति, यथासम्भव, यथाऽवश्यक, सहायता करता रहे।

व्यास जी के विषय मे कहा है—

प्रायशो मुनयो लोके स्वार्थैकांतोद्यमा हि ते,
द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः।

---

१ Theory, practice, seience, application.

२ Judge, magistrate.

प्रह्लाद का वचन है—

> प्रायेण, देव !, मुनयः स्वविमुक्तिकामाः
> स्वार्थं चरंति विजने, न परार्थनिष्ठाः ;
> नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षे एकः,
> नान्यं त्वद् अस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये । (भागवत)

'ऋषि मुनि लोग प्रायः 'स्वार्थ' से अपनी ही मुक्ति के लिये, एकांत मे, निर्जन, विजन, मे रह कर, ऐकांतिक यत्न करते हैं; किन्तु भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यास, निरन्तर सर्वभूत के हित की चिंता मे लगे रहे, और उन की शिक्षा के लिये, अति सरस, रोचक, शिक्षक ग्रंथ लिखते रहे । हे देव !, प्रायः मुनि जन स्वार्थ साधने की ही फ़िक्र करते हैं; पर मै इन सब कृपा के योग्य संसारी जीवों को, जो अंधेरे मे भटक रहे हैं, छोड़ कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता हूँ ; और आप के सिवा किसी दूसरे मे इन को तारने का सामर्थ्य नहीं ; सो ऐसा उपाय बताइये जिस से ये सब भी मेरे साथ मुक्त हों ।'

मनुस्मृति सनातन-वैदिक-आर्य-मानव-बौद्ध-(बुद्धि-संगत)—धर्म की नीवी है । उस के श्लोकों से साक्षात् सिद्ध होता है कि, वेदांत-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, को, प्राचीन काल मे, ऋषि विद्वान् लोग, मानव धर्म का मूल और प्रवर्तक, नियामक, निर्णायक मानते थे । आदि मे ही, ऋषियों ने भगवान् मनु से प्रार्थना किया,

> भगवन् !, सर्ववर्णानां यथावद् अनुपूर्वशः ,
> अंतरप्रभवाणां च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि ।
> त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः
> अचिंत्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।

("अंतरप्रभावाणां च" के स्थान मे "सर्वेषामाश्रमाणां च" भी पाठ देख पड़ता है, और अधिक उपयुक्त, प्रसङ्गोचित, न्यायप्राप्त है ।

स्मृति मे वर्ण धर्म के साथ-साथ आश्रम धर्म का प्रतिपादन विस्तार से किया है; अंतरालों पर तो कुछ थोड़े से ही श्लोक एक ही अध्याय मे हैं।)

'भगवन्! सब मुख्य वर्णों के, और (प्रत्येक वर्ण के अवान्तर वर्णों के, तथा) सब आश्रमो के, धर्मों को, आप हमे बताइये; क्योंकि परमात्मा ब्रह्म से स्वयं उपजे स्वयंभू ब्रह्मा का विधि-विधान हम लोगों के लिये अचिंत्य अप्रमेय है; ध्यानमय, ध्यानात्मक, मानस सृष्टि के तत्व को, अस्लियत को, कार्य को, उस के अर्थ, मक़सद, मतलब, प्रयोजन को, आप ही जानते हो; इस लिये आप ही इन धर्मों को बता सकते हो।'

जो आत्मा और संसार के सच्चे स्वरूप को और प्रयोजन को नहीं जानता, वह धर्म का, कर्त्तव्य का, निर्णय नहीं कर सकता। हम क्या हैं, कहाँ से आये, कैसे आये, क्यों आये, कहाँ आये, कहाँ जायँगे, जीना, मरना, सुख, दुःख, जीने का लक्ष्य, क्या है, क्यों है—जो मनुष्य इन बातों को नहीं जानता, वह कैसे निर्णय कर सकता है कि मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म क्या है?

मनुस्मृति मे और भी कहा है—

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यद 'एतद्'-अभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।
अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठाः, ग्रंथिभ्यो धारिणो वराः,
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः, ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः,
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।
सरहस्योऽधिगंतव्यो वेदः कृत्स्नो द्विजन्मना।

'जो अध्यात्म-शास्त्र को नहीं जानता, वह किसी क्रिया को उचित रीति से सफल नहीं कर सकता। जो परमात्मा के स्वरूप को नहीं

पहिचानता, मनुष्य की प्रकृति को, उस के अन्तःकरण की वृत्तियों और विकारों को, रागद्वेषादि के ताण्डव को नहीं समझता, वह सार्वजनिक, विश्वजनीन, कार्य, राजकार्य आदि, कैसे उचित रूप से कर सकता है ? पदे पदे भूल करेगा। ज्ञानियों मे वही श्रेष्ठ हैं जो अपने ज्ञान के आधार पर सद्व्यवसाय, सद्व्यवहार, करते हैं; बुद्धिमानो मे वे श्रेष्ठ हैं जो सत्कर्मपरायण कर्त्ता हैं, जो कर्त्तव्य कर्म से जान नहीं चुराते, मुह नहीं मोड़ते; और कर्त्ताओं मे वे श्रेष्ठ हैं जो ब्रह्मवेदी ब्रह्मज्ञानी हैं; क्योंकि वे ही ठीक-ठीक कर्तव्य और अकर्तव्य का, धार्मिक और अधार्मिक कर्म का, सात्त्विक और तद्विपरीत कर्म का, विवेक कर सकते हैं।' गीता मे बतलाया है कि सात्त्विक बुद्धि वही है जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंध-मोक्ष के स्वरूप को ठीक-ठीक पहिचानती है, अर्थात् आत्मज्ञानवती है, वेद के रहस्य को जानती है।

धर्म-परिषत् मे, अर्थात् जो सभा धर्म का व्यवस्थापन, परिकल्पन, व्यवसान, आम्नान, करती है, उस मे, यानी क़ानूम बनानेवाली मजलिस मे, आत्मज्ञानी, मनुष्य की प्रकृति के ज्ञानी, पुरुष की ही विशेष आवश्यकता है।[1]

एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः,
स विज्ञेयः परो धर्मो, नऽज्ञानामुदितोऽयुतैः।
अव्रतानां अमंत्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्,
सहस्रशः समेतानां,परिषत्त्वं न विद्यते। (मनु)
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्, त्रैविद्यमेव वा,
सा ब्रूते यं स धर्मः स्याद्, एको वाऽध्यात्मवित्तमः।
(याज्ञवल्क्य)

---

[1] अब स्वराज-शासन मे, केन्द्रीय धर्म-विधातृ-सभाओं का नाम राज्य-परिषत् और लोक-सभा रक्खा गया है; और प्रांतों मे, विधान-परिषत् और विधान-संसत्।

'एक अकेला भी सच्चा अध्यात्मवित्, वेदान्त का, आत्म-विद्या का, ठीक-ठीक जानने वाला, अतः मनुष्य की प्रकृति को सूक्ष्म रूप से जानने वाला, देश-काल-निमित्त को पहिचानने वाला, विद्वान् जो निर्णय कर दे, उसी को उत्तम, उपयोगी, लोकोपकारी, सर्वहितकर, धर्म, क़ानून, विधि-विधान, जानना मानना चाहिये। मूर्ख, सदाचार-रहित, केवल जाति के नाम से जीविका चाहने वाले, यदि सहस्रों भी एकत्र हो कर कहें कि यह धर्म है, तो वह धर्म नहीं हो सकता। इसी हेतु से, भारत-वर्ष के क़ानून, अर्थात् स्मृतियाँ, सब अध्यात्मवित् महा-महर्षि, आदि प्रजापति, आदिराज मनु भगवान् की, तथा उन के पीछे अन्य ऋषियों की, बनाई हुई हैं, जो दीर्घदर्शी भावी सुफल दुष्फल के जानकार थे।'

स्पष्ट ही मनु का आशय यह है कि ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी को, जब तक शरीर मे सामर्थ्य हो, लोक-व्यवहार के शोधन मे, लोक-कार्य के भार के वहन मे लगे रहना चाहिये। विरक्तंमन्य हो कर, वैराग्य का ढोंग रच कर, अपने शरीर का स्वार्थ सुख साधने मे लीन हो कर, मिथ्या फ़क़ीरी, उदासीनता, नहीं करना चाहिये; समाज पर, राजकीय नित्य वर्धमान कर के भार से प्रपीड़ित गृहस्थों पर, भार नहीं होना चाहिये। उन से जो अन्न वस्त्र मिलता है, उस के बदले मे, किसी न किसी प्रकार से, शिक्षा वा रक्षा, वा अन्य सहायता से, सार्वजनिक कार्यों मे परामर्श के, सलाह-मश्वरा के, अथवा जाँच-निग्रानी के, रूप मे, उन को कुछ देना चाहिये। यदि वनस्थाश्रम पार कर के, शरीर अशक्त होने पर, सन्यासाश्रम मे, भिक्षा से, माधुकरी वृत्ति से, शरीर यात्रा का साधन कर रहा हो, तौ भी, "शुभध्यानेनैवऽनुगृह्णाति", अपनी मूर्ति, अपने आचरण, की सौम्यता और शांतता से ही, लोक का शुभचिंतन करने से ही, यदा कदा जिज्ञासुओं को सदुपदेश से ही, वह लोक का भारी उपकार करता है।

प्रशमैर् अवशानि लंभयन्तपि तिर्यंचि शमं निरीक्षितैः।

(किरातार्जुनीय)

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः । (योगसूत्र)

ब्रह्ममय, शांतिमय, सर्वभूतदयामय, अहिंसामय महापुरुष के समीप, उन के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के पवित्र 'वर्चस्' 'ओरा',[१] के बल से, उन के पास जो मनुष्य, पशु, पक्षी, आ जाँय, उन मे भी उतने काल के लिये, शांति का भाव भर जाता है। इस प्रकार से, आगे उद्धृत श्लोक चरितार्थ होते हैं, और साधुजन, सभी आश्रमो और वर्णों मे, उन को चरितार्थ करते हैं। सैकड़ों वर्ष से, भारत मे बड़ा विवाद मचा हुआ है, और इस पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं, कि वेदांत शास्त्र, विशेष कर गीता शास्त्र, कर्म का निवर्त्तक है, किंवा कर्म का प्रवर्त्तक है। पहले कह आये हैं, कि गीता के "तस्माद् युध्यस्व भारत" "मामनुस्मर, युध्य च" "मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि" आदि से ही, स्पष्ट सिद्ध होता है कि, कर्त्तव्यधर्मभूत कर्म मे गीता प्रवृत्त ही करती है। और मनु की आदिष्ट आश्रमव्यवस्था पर थोड़ा भी ध्यान देने से विशद हो जाता है कि ऐसी बहस सब व्यर्थ है, उस के उठने का स्थान ही नहीं है। जब अत्यंत वृद्ध हो कर आयु के चतुर्थ भाग मे पहुँचे, तभी परिग्रह का, माल-मता का भी और कर्मों का भी, 'सन्यास' करै। यही प्रकृति की आज्ञा है; इस लिए शास्त्र भी यही कहता है। हाँ, अपवाद तो प्रत्येक उत्सर्ग के होते हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा, पुरा उवाच प्रजापतिः,
अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्तु इष्टकामधुक्।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ।
तैर्दत्तान् अप्रदाय एभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।
भुंजते ते तु अघं पापाः ये पचंत्यात्मकारणात्।
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नऽनुवर्त्तयतीह यः,
अघायुरिंद्रियारामो मोघं, पार्थ !, स जीवति। (गीता)

---

१ Aura.

'जो भी कर्म परोपकार की बुद्धि से किया जाय, वह 'यज्ञ'; बिना 'यज्ञ' के भाव के समाज में व्याप्त हुए, समाज पनप नहीं सकता; यह 'यज्ञ'-बुद्धि, परोपकार-बुद्धि, ही समाज की समष्टि के और प्रत्येक व्यष्टि के लिये भी कामधेनु है; परस्पर विश्वास, परस्पर स्नेह प्रीति, परस्पर सम्वाद संगति, परस्पर सहायता से ही समाज के सब व्यक्तियों को सब इष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है।' जो दूसरे से लेता है, पर बदले में कुछ देता नहीं, अपने ही भोजन की चिन्ता करता है, परमात्मा के चलाये हुए इस संसार-चक्र के चलते रहने के लिये अपना कर्त्तव्यांश नहीं करता, वह अघायु है, अघभोजी है, स्तेन है, हरामख़ोर है, चोर है, उस का खाना पीना, उस का जीवन, सब पापमय है, हराम है।' यही अर्थ मनु ने और ऋग्वेद ने भी कहा है।

> अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्;
> यज्ञशिष्टाशनं हि एतत् सतामन्नं विधीयते। (मनु)

"दैनंदिन पंच महायज्ञ करने के बाद जो भोज्य पदार्थ गृह में बचै, उस का भोजन करना—वही सत्पुरुषों के लिये उत्तम अन्न है।'

> मोघं अन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य,
> नार्यमणं पुष्यति, नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।
> (ऋग्वेद, मं० ७)

अर्यमा सूर्य को भी कहते हैं; मित्र, सखा, दोस्त, को भी; सूर्य का एक नाम 'मित्र' भी है; जगत् के परममित्र सूर्य देव हैं। 'जो मनुष्य देव-कार्य, पितृ-कार्य, ऋषि-कार्य, मित्र-अतिथि-कार्य, पश्वादि-सर्वभूत-कार्य, अर्थात् पंच-यज्ञ-कार्य किये बिना, अपना ही उदर पोषण करता है, वह पाप ही का भोजन करता है, वह अपने उत्तमांश का मानो वध करता है।'

हाँ, जब वानप्रस्थावस्था के योग्य, लोकसेवात्मक कर्त्तव्यों के योग्य,

शक्ति शरीर मे न रहे, तब अवश्य उन कर्मों का भी सन्यास उचित ही है। मनु की आज्ञा है—

आश्रमादाश्रमं गत्वा, हुतहोमो, जितेन्द्रियः,
भिक्षाबलिपरिश्रांतः, प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते।

'ब्रह्मचारी से गृहस्थ, उस से वानप्रस्थ, हो कर, जब भिक्षा देने और बलि देने, अर्थात्, आजकाल के शब्दों मे, विविध प्रकार की लोक-सेवा के कर्म करने से ('एवं बहुविधाः यज्ञाः वितताः ब्रह्मणो मुखे'—गीता), शरीर नितांत परिश्रांत हो जाय, तब उन को भी छोड़ दे।' गीता के 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रं' आदि श्लोक का भी यही आशय है।

छांदोग्य उपनिषद् मे भी यही कहा है।

यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया,
उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

'जो भी कार्य, सांसारिक-जीवन-संबंधी, गार्हस्थ्य-वानस्थ्य-संबंधी, अथवा परलोक-संबंधी, आत्मविद्या के अनुसार किया जाता है, यह अधिक वीर्यवान्, गुणवान्, फलवान्, होता है।' जो आत्म-विद्या के विरुद्ध किया जाता है वह बहुत हानिकर होता है।

या वेदबाह्याः स्मृतयः, याश्च काश्च कुदृष्टयः,
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः;
उत्पद्यन्ते च्यवंते च, यान्यतोऽन्यानि कानिचित्;
तान्यर्वाक्कालिकतया, निष्फलान्यनृतानि च। (मनु)

'जो 'दृष्टियाँ', बुद्धियाँ, वेद के शास्त्र अर्थात् वेदांत के विरुद्ध हैं, अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल नहीं हैं, वे बरसाती गुच्छियों, कूकरमूतों, छत्राकों, की तरह रोज़ पैदा होती और मरती रहती हैं। उन से न इस लोक मे अच्छा फल सिद्ध होता है, न परलोक मे।' आजकाल तरह तरह के 'इज़्म' 'वाद' जो निकल रहे हैं, 'सैनिक-राज्य-वाद', 'धनिक-राज्य-वाद' आदि, उन की यही दशा है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की वर्त्तमान घोर दुरवस्था—अध्यात्मशास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने से। अनुकूल आचरण से ही पुनः प्रतिष्ठापन व्यवस्थापन

जो आजकाल चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की घोर दुर्दशा हो रही है, उस मे भी कारण वही है कि, उन का आध्यात्मिक तत्त्व, जिस का मूल रूप गीता तथा पुराणो मे स्पष्ट प्रकार से कहा है, भुला दिया गया है, और उस के विरोधी विचार पर आचरण किया जा रहा है।

सात्त्विको ब्राह्मणो वर्णः, क्षत्रियो राजसः स्मृतः,
वैश्यस्तु तामसः प्रोक्तः, गुणसाम्यात्तु शूद्रता। (म० भा०)
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः। (गीता०)

इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वभाव अर्थात् प्रकृति के तीनो गुणो के अनुसार, (जन्म के अनुसार नहीं), सत्व-ज्ञान-प्रधान ब्राह्मण वर्ण, रजः-क्रिया-प्रधान क्षत्रिय वर्ण, तमः-इच्छा-प्रधान वैश्य वर्ण, गुणो के साम्य से शूद्र वर्ण, निश्चित होता है।

महाभारत मे यक्ष-युधिष्ठिर-सम्वाद मे, तथा सर्प-युधिष्ठिर-सम्वाद मे, तथा शांति पर्व तथा अनुशासन पर्व मे, तथा भागवत पुराण, पद्म पुराण, भविष्य पुराण, आदि मे, पुनः पुनः 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत को स्थिर किया है। यह सिद्धांत सर्वथा अध्यात्म-शास्त्र के अनुकूल है। किंतु इस को भुला कर, किम्वा बलात् हटा कर, 'जन्मनैव वर्णः' के अपसिद्धांत को ही वर्ण-व्यवस्था की नीव, आज प्रायः बारह सौ वर्ष से, स्वार्थी लोगों ने बना डाली है। इस से समग्र भारत की वैसी ही दुर्दशा हो गई है, जैसी बहुसत्ताक सार्वजनिक सम्पत्ति को कोई बलात्कार से एकसत्ताक निजी सम्पत्ति जब बना लेता है तब अन्य आश्रितों की होती है।

मनु मे, महाभारत मे, शुक्रनीति मे, अन्य प्रामाणिक ग्रंथों मे, पुनः पुनः कहा है, कि 'षड्भागरूपी भृति, वेतन, तनख़ाह, राजा को इसी लिये दी जाती है कि वह प्रजा की रक्षा करै। यदि नहीं करता, तो वह दंड पाने के योग्य है; निकाल दिये जाने के योग्य है; उस के स्थान पर दूसरे को राजा नियुक्त करना चाहिये; और मरने के बाद भी वह अवश्य नरक मे गिरैगा। दंड-शक्ति आग के समान है, धर्म के अनुसार जब उस का प्रयोग नहीं होता, तब वह राजा को उस के परिवार समेत जला डालती है। जो राजा रक्षा न करै, जो ऋत्विक् वेद को न जानै, उस को त्याग देना चाहिये, जैसे टूटी नौका को समुद्र मे लोग छोड़ देते हैं।'

> षड्भागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः। (शुक्रनीति)
> योऽरक्षन् बलिमादत्ते स सद्यो नरकं व्रजेत्।
> दंडो हि सुमहत्तेजो, दुर्धार्यश्चाकृतात्मभिः,
> धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्। (मनु)
> एतांस्तु पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे,
> अरक्षितारं राजानं, अनधीयानमृत्विजम्। (म० भा०)

पर, प्रायः यह देखा जाता है, कि राजा, शासक, पुरोहित आदि अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भूल जाते हैं; सब प्रकार के अधिकार अपने हाथ मे रखना रखना चाहते हैं; प्रजा को, आश्रितों को, जिज्ञासुओं को, तरह तरह की पीड़ा देते हैं; उन के साथ विश्वासघात करते हैं। अंग्रेज़ी मे कहावत हो गई है कि 'किङ्ज़्' और 'प्रीस्ट्स' अर्थात् राजा और पुरोहित, 'डिवाइन राइट बाइ बर्थ' का, 'जन्म से ही सिद्ध दैवी अधिकार' का दावा करते हैं।[१] इन्हीं मिथ्या अभियोगों दावों से उद्विग्न हो कर, प्रजा ने, देश देश मे, बड़े बड़े विप्लव कर डाले हैं। ऊपर उद्धृत मनु के श्लोक मे कहा है कि बिना 'कृतात्मा' 'आत्मज्ञानी' हुए 'दंड-शक्ति'

---

१ Kings; priests; Divine right by birth,

का धर्म के अनुसार धारण और नयन करना सम्भव नहीं; और जहाँ धर्म से दंड विचलित हुआ, वहाँ वह दंड, राजा को, बंधु-बांधव समेत, नाश कर देता है। इसी प्रकार पुरोहितों का भी प्रभाव नष्ट हो जाता है।

हिताय पुरः अग्रे प्रहितः; पुरः एनं हिताय दधति जनाः; इति पुरोहितः। (निरुक्त)

'यह हमारा हित साधेंगे' इस लिये जिन को जनता आगे करै, चुनै, वे 'पुरोहित'; जब वे हित के स्थान मे अहित करने लगें, विश्वास-घात करैं, ठगैं, तो अवश्य ही 'पुरोहित'-पद से भ्रष्ट होंगे, दूर किये जायँगे।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि बिना वर्ण-आश्रम-व्यवस्था के, बिना 'सोशल आर्गेनिज़ेशन'[1], 'तनज़ीमि-जमाअत' के, मनुष्यों को न सामाजिक सुख, न वैयक्तिक सुख, मिल सकता है। और वर्ण-व्यवस्था का सच्चा हित-कर रूप, बिना 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत के अनुसार चले, कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि 'कर्मणा वर्णः' ही अध्यात्म-शास्त्र का सम्मत है। इस का विस्तार से प्रतिपादन अन्य ग्रन्थों मे किया है।

इसके विरुद्ध, केवल 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धांत पर, आज सैकड़ों वर्ष से, अधिकार के लोलुप, कर्तव्य से पराङ्मुख, अपने को पैदाइशी ऊँची' मानने वाली जातियों ने जो दुर्व्यवस्था चला रक्खी है, उसी का भयंकर परिणाम यह है कि आज, ढाई हजार से अधिक पर-स्पर अस्पृश्य जातियाँ हिन्दू नामक समाज मे हो गई हैं; परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, तिरस्कार, अहंकार से छिन्न-भिन्न, बलहीन, क्षीण हो रही हैं; भारत जनता ने, देश ने, स्वतंत्रता, स्वाधीनता खो दिया है; दूसरों

---

१ Social Organisation.

के वश मे सारा देश चला गया है; और तरह तरह के क्लेश सह रहा है।[१]

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्.
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः। (मनु)

वेद की आज्ञा है।

संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्;
समानी प्रपा, सह वोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

'साथ चलो, साथ बोलो, सब के मन एक हों, साथ मे शुद्ध अन्न जल खाओ पीओ, साथ मिल कर उत्तम सर्वोपकारी कर्मो मे लगो'। पर आज देखा यह जाता है, किसी का मन किसी से नहीं मिलता; सब अपने को एक से एक पवित्रतम मानते हैं; 'हम पैदाइशी ऊँचे, अन्य सब पैदाइशी नीचे', यही ज़हरीला भाव फैला हुआ है; सच्चे शौच का, शुचिता का, सफ़ाई का अर्थ सर्वथा भूला हुआ है; दूसरे नाम की जाति-मात्र के आदमी के छू जाने से ही अपनी जाति, अपना धर्म, मर जाता है; यह महामोह वैदिक धर्म को 'छुई-मुई धर्म' बनाये हुए है।

आत्मज्ञान की, आत्मदर्शन की, दैनंदिन व्यवहार मे कितनी उपयोगिता है इस का प्रमाण गीता से बढ़ कर क्या हो सकता है।

---

१ यह १९४० मे लिखा गया था; १५ अगस्त, १९४७ के पीछे, ब्रिटिश् गवर्मेन्ट स्वयं हट गई और 'स्वराज' हो गया, परन्तु भारत के दो भागों मे, पाकिस्तान और हिन्दुस्थान मे, बँट जाने से भयंकर जन-संहार, बीसियों लाख मनुष्यों की हत्या और बीसियों अरब की सम्पत्ति का नाश हुआ और अभी भी हो रहा है; तथा स्व-राज नाम-मात्र का है, ब्रिटिश-शासन के समय से भी दशा, देश की, यदि कुछ अंशों मे अच्छी है, तो कई मे बहुत बुरी हो रही है।

योगः कर्मसु कौशलं। तस्माद् युध्यस्व, भारत !
मामनुस्मर युध्य च। इत्यादि।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि अनुसूयवे।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ !
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्, कृतकृत्यश्च, भारत !

'यह गुह्यतम ज्ञान, गुह्यतम शास्त्र, राजविद्या, राजगुह्य', वेद का रहस्य अध्यात्म शास्त्र ही वह शास्त्र है जिस के लिये गीता मे यह भी कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

'क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इस का अंतिम निश्चय निर्णय, इस परम शास्त्र, गुह्यतम शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र ही के द्वारा हो सकता है, जिस को वेद का रहस्य उपनिषत् भी कहते हैं।

राज-विद्या, राजगुह्य

इस को राजविद्या राजगुह्य क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर योग-वासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के ११ वें अध्याय मे दिया है। पहिले इस की चर्चा कर आये हैं, परन्तु इस भूले हुए नितान्तोपयोगी तथ्य का पुनरपि दोहराना, याद दिलाना, उचित है, किम्वा आवश्यक है। क्योंकि इस को भूल जाने से, प्रतिपद याद न रखने से, काम मे न लाने से, भारत जनता रसातल को चली जा रही है।

कालचक्रे वहत्यस्मिन्, क्षीणे कृतयुगे पुरा,
प्रत्यहं भोजनपरं जने शाल्यर्जनोन्मुखे,
द्वंद्वानि संप्रवृत्तानि विषयार्थं महीभुजां।
ततो युद्धं विना भूपाः महीं पालयितुं क्षमाः
न समर्थाः, तदा याताः प्रजाभिः सह दीनताम्।
तेषां दैन्यापनोदार्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च,

ततो महर्षिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः,
बहूनि स्मृतिशास्त्राणि यज्ञशास्त्राणि च ऽथवा
क्रियाकर्मविधानार्थं, मर्यादानियमाय च,
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं, कल्पितानि उचितानि अथ;
अध्यात्मविद्या तेन इयं पूर्वं राजसु वर्णिता;
तदनु प्रसृता लोके राजविद्या इति उदाहृता,
राजविद्या राजगुह्यं अध्यात्मज्ञानमुत्तमं।

'सोशियालोजी',[1] समाज-शास्त्र, के कुछ तथ्यों की सूचना इन श्लोकों में कर दी है।

'मानव महाजाति के इतिहास में, ऐसे काल, युग, ज़माने, को सत्ययुग अथवा कृतयुग कहते हैं, जिस में, मनुष्यों की प्रकृति सीधे सादे सरल स्वभाव के बच्चों की सी होती है; झूठ बनाने की बुद्धि ही उन को नहीं; सच ही बोलते हैं; इस से सत्ययुग नाम पड़ा; जैसे बच्चे अपने माता पिता पर पूरा भरोसा करते हैं, और बिना पूछे कहे उन की आज्ञा को मानते हैं, वैसे ही उस समय में, सब मनुष्य, जाति के वृद्धों की, प्रजापति, ऋषि, पेट्रियार्क, प्राफ़ेट,[2] नबी, नेताओं की आज्ञा के अनुसार कार्य तत्काल कर देते हैं, कृतं एव, न कर्तव्यं, इस से कृत-युग का नाम भी इस को दिया गया। उस समय में प्रायः बिना खेती बारी के उपजे कन्द, मूल, फल, तथा वृक्षों की छाल, वल्कल आदि से अन्न वस्त्र का काम चलता था। बाद में समय बदला; मनुष्यों की संख्या बढ़ी; खेती आवश्यक हुई; उस के सम्बन्ध में झगड़े होने लगे; राजा बनाये गये, राजाओं में युद्ध होने लगे; सब मनुष्य चिंता-ग्रस्त, सब काम अस्त-व्यस्त, होने लगे। तब उस व्यापक दीनता, हीनता, क्षीणता, को दूर करने के लिए, वृद्धों ने कठिन तपस्या कर के, गम्भीर ध्यान कर के, पुरुष की प्रकृति का, आत्मा-जीवात्मा-परमात्मा के स्वभाव का,

---

1 Sociology.
2 Patriarch; prophet.

स्वरूप का, दर्शन किया; और उस ज्ञान की शिक्षा अधिकारियों को दिया। तब राज-कार्य, समाज-धारण-कार्य, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन का कार्य, अच्छी रीति से चलने लगा। राजाओं को प्रजापालन रूपी अपना परम कर्त्तव्य करने मे सहायता देने के लिए, उचित मर्यादा और नियम का विधान करने के लिये, चित्त को स्वस्थ और हृदय को साहसी और शूर बनाने के लिये, यह महा-ज्ञान-दृष्टि, ज्ञानरूपी दर्शन, यह आत्मविद्या, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन, महर्षियों ने राजाओं को पहिले पहिल सिखाया। इस लिये इस का नाम राजविद्या, राजगुह्य, पड़ा।'

शुक्रनीति मे कहा है कि राजा को चार विद्या सीखनी चाहिये। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति। आजकाल के शब्दों में (१) 'फ़िलासोफ़ी' और 'साइकालोजी', (२) 'रिलिजन', 'थियोलोजी' और 'एथिक्स' या 'मॉरल्स', (३) 'इकोनामिक्स' (४) 'पॉलिटिक्स' और 'लॉ'।[१]

मनु ने भी कहा है—

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ;
तेऽभ्योधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां, वार्त्तारम्भांश्च लोकतः,
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां, दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः,
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च। (मनु)
प्रदीपः सर्व-विद्यानां, उपायः सर्व-कर्मणां,
आश्रयः सर्वधर्माणां, सा इयं आन्वीक्षिकी मता।

(न्याय-भाष्य)

'इस को जान कर, आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को और सुख-दुःख

---

१ Philosophy, psychology; religion; theology, ethics, morals: economics; politics, law.

के तत्त्व को पहिचान कर, हर्ष-शोक के द्वंद्व मोह मे नहीं पड़ता; शान्त स्वस्थ चित्त से, फल मे आसक्त न हो कर, सब कर्तव्य कर्म दृढ़ता से करता है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं का दीपक, सब कर्मों का उपाय, सब धर्मों का आश्रय है। राजा को चाहिये कि विद्वान् वृद्धों की नित्यं सेवा-शुश्रूषा करै, उन से विनय, 'डिसिप्लिन'[२] सदा सीखता रहै; आन्वीक्षिकी अर्थात् आत्म-विद्या को और धर्मशास्त्र और दण्डनीति को भी उन से सीखै; तथा वार्ता अर्थात् वाणिज्य व्यापार का ज्ञान, लोक-व्यवहार को देख कर सीखै। राजकार्य करने वाले के लिए आत्मज्ञान परम उपयोगी है, सब कर्मों का उपाय है, सब धर्मों का आश्रय है'—यह बात ध्यान देने की है। संन्यासावस्था मे तो, सब योनियों में आत्मा की उत्तम और अधम गति का 'अनु-अव-ईक्षण', विचार द्वारा, पीछे पीछे चल कर, खोज कर, देखना पहिचानना, उचित है ही'।

बिना सदाचार के वेदान्त व्यर्थ

गीता मे भी स्पष्ट कहा है, और दो बार कहा है—

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः,
छिन्नद्वैधा, यतात्मानः, सर्वभूतहिते रताः।
संनियम्यें द्रियग्रामं, सर्वत्र समबुद्धयः,
ते प्राप्नुवन्ति मामेव, सर्वभूतहिते रताः।

सर्वभूतों, प्राणियों, के हित मे सर्वदा रत हुए बिना ब्रह्मज्ञान सम्पन्न नहीं होता।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः,
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरंगैः;
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति,
नीडं शकुंता इव जातपक्षाः। (वसिष्ठ-स्मृति)

---

२ Discipline.

'दुराचारी जीव को, मृत्यु के समय, षड्अङ्गों सहित भी पढ़े हुए वेद, सब छोड़ कर चले जाते हैं; जैसे पर होने पर, चिड़ियों के बच्चे, मल से भरे खोंते को छोड़ कर उड़ जाते हैं।' दुराचारी जीव का चित्त तो उन्ही दुराचार की बातों को अन्तकाल मे याद करता है; सब पढ़े लिखे को स्वयं भुला देता है।

वेद-वेदान्त की पुस्तकों को कितना भी रट डालै, पर यदि तदनुकूल शुद्ध सदाचारी न हो; घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश, रज्जुसर्प, जपाकुसुम, शुक्तिरजत, मरुमरीचिका, जगन्मिथ्या, ब्रह्म-माया, आदि शब्द जिह्वा से कितना भी बोलै, पर यदि मन से निर्मम, निरहङ्कार, निस्स्वार्थ, शांत, दान्त, मैत्र, और शरीर से सद्धर्मानुसारी न हो; अथवा, यदि मन से और शरीर से, मनुष्य-सुलभ, अविद्याकृत, भूल चूक पाप हुए हैं, तो उन का पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त न किया हो, और, गीता के शब्दों मे, 'सम्यग्व्यवसित' न हो गया हो, तो उस मनुष्य को सद्गति नहीं मिल सकती।

ख्यापनेन, ऽनुतापेन, तपसा,ऽध्ययनेन च।
पापकृन् मुच्यते पापात् , प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः।
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते,
तथा तथा त्वचा इव ऽहिः, तेन ऽधर्मेण मुच्यते।
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति,
तथा तथा शरीरं तत् तेनऽधर्मेण मुच्यते।
कृत्वा पापं तु, संतप्य, तस्मात्पापात् प्रमुच्यते,
नैव कुर्याम् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः। (मनु० अ० ११)
यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम्,
तं तमेवैति, कौंतेय !, सदा तद्भावभावितः।
अंतकाले च मामेव स्मरन्, मुक्त्वा कलेवरम्,
यः प्रयाति, स मद्भावं याति, नऽस्त्यत्र संशयः। (गीता)
याऽन्ते मतिः, सा गतिः। (आभाणकः)

'अपने किये पाप पर पछतावा, पश्चात्ताप, कर के, किसी सज्जन सत्पुरुष से उस का प्रख्यापन कर के, तथा पाप का उचित प्रायश्चित्त कर के, मनुष्य पाप से छूटता है। ज्यों ज्यों वह पछताता है, ज्यों ज्यों वह दूसरों से कहता है कि मुझ से यह पाप हुआ, ज्यों ज्यों वह उस अधर्म कर्म की अपने मन में निन्दा करता है, ज्यों ज्यों निश्चय करता है कि अब फिर ऐसा न करूँगा, त्यों त्यों उस का मन और शरीर शुद्ध होता है, और उस पाप से मुक्त होता है, जैसे सर्प पुरानी केचुली से छूटता है। शरीर छोड़ने के समय, जिस भाव का स्मरण जीव करता है, वही भाव उस को नये जन्म में पुनः मिलता है। और जिस भाव का, अपने जीवनकाल में उस ने अधिकतर अभ्यास किया है, उसी का स्मरण अन्त समय होता है।' इस लिये, तीन आश्रमों में, धर्मानुसार, तीनों सहजात ऋणों को चुका कर, और सांसारिक भावों और वासनाओं का भोग और व्यय और क्षय कर के, जो जीव, चतुर्थ आश्रम में, निष्काम, निर्मम, निरहंकार हो कर, अंतकाल में, सर्वव्यापी, 'मां' 'अहं', आत्मा की धारण करता हुआ, शरीर को छोड़ता है, वह, निःसंशय, परमात्मा को पाता है, 'मद्-भाव' को, 'मेरे' परमात्म-भाव, ब्रह्मभाव, सर्वव्यापकत्व भाव को, प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है।'

धर्मसार धर्मसर्वस्व की नीवी—सर्वव्यापी चैतन्य आत्मा

और एक तत्त्व की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सब धर्मों, सब मज़हबों, का यह निर्विवाद सिद्धांत है कि,

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवऽवधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्। (म० भा०)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो, ऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः। (गीता)

'जैसा अपने लिये चाहो वैसा दूसरे के लिये भी चाहो। जो अपने लिये न चाहो वह दूसरे के लिये भी मत चाहो। जो अपने ऐसा सब का सुख दुःख समझता है, वह सच्चा, परा काष्ठा का, योगी है।'

अफ़ज़लुल् इमानिउन् तोहिब्बा लिन्नासे मा तोहिब्बो लि नफ़्सका; व तक्रहो लहुम् मा तक्रहो लि-नफ़्सका। (हदीस)
डू अन्टू अदर्स् ऐज़ यी वुड दैट् दे शुड डू अन्टु यू। दिस इज़् दि होल् आफ़ दि ला ऐण्ड दि प्राफ़ेट्स्। (बाइबल)[१]

आचार नीति के इस व्यापक सिद्धांत को जैसे मनु, कृष्ण, व्यास आदि ने कहा है, वैसे ही बुद्ध, जरथुस्त, वर्धमान महावीर जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि अवतारों, महर्षियों, पैग़म्बरों, मसीहों, रसूलों, नबियों, ऋषियों ने भी कहा है। केवल भाषा का भेद है, अर्थ का अणुमात्र भी भेद नहीं है। सिद्धान्त को कह कर सब यह कहते हैं, कि 'यही धर्मसर्वस्व है,' यही सब से ऊँचा 'अफ़्ज़ल्' ईमान है। यही 'होल' अर्थात् समग्र धर्म और उपदेश है।

पर इस आचार के सिद्धान्त का हेतु क्या है ? इस का हेतु एक-मात्र आत्मज्ञान का परम सिद्धान्त ही है, अर्थात् एक परमात्मा एक चैतन्य, सब मे व्याप्त है। यदि ऐसा न हो, तो कोई भी स्थिर हेतु उस आचार-सिद्धान्त के लिये नहीं मिलता। यदि उपकर्त्ता वा अपकर्त्ता, उपकृत वा अपकृत से, सर्वथा भिन्न, सर्वथा पृथक् होता, तो वह उस का उपकार वा अपकार ही न कर सकता, न लौट कर उस का फल उस को मिल सकता। दोनो सदा सम्बद्ध हैं; सब मे एक ही चेतना व्याप्त है, इसी कारण से किसी को दुःख देना, पुण्य वा पाप करना, अंततः अपने को ही सुख या दुःख देना है, अपने ही साथ पुण्य वा पाप करना है। इसी लिये पुण्य वा पाप का फल अवश्य मिलता ही है; क्योंकि

---

१ Do unto others as ye would that they should do unto you; Bible.

सचमुच कोई दूसरा तो है ही नहीं, जिस को सुख या दुःख दिया गया हो; 'दूसरा'—यह भ्रम है। भ्रम से 'दूसरा' समझ के 'दूसरे' को दिया; अस्ल मे अपने ही को दिया। इस लिये घूम फिर कर, 'शनैरावर्त्त-मानस्तु' (मनु), वह सुख वा दुःख, जहाँ से दिया जाता है, वहीं वापस आ जाता है। इसी हेतु से पाप के पीछे पश्चात्-ताप, और पुण्य के पीछे सन्तोष, पश्चात्-तोष, लगा हुआ है। अपने भीतर से ही, अन्तर्यामी, अन्तःसाक्षी, क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, पाप के लिये पश्चाताप, फिर प्रख्यापन, और प्रायश्चित्त होता है। कभी देर मे, कभी जल्द। इस प्रकार से व्यापक 'ब्रह्म' ही व्यापक 'धर्म' का; सनातन परमात्मा ही सनातन धर्म का, धर्मसर्वस्व का; वेद-वेदान्तोक्त आत्मा ही वैदिक धर्म का; मानव (हृदि अयं) हृदय मे स्थित चैतन्य ही मानवधर्म का, धर्मसार और सार-धर्म का; एकमात्र आश्रय है।

'कारावास-परिष्कार,' 'सैको-ऐनालिसिस,' आदि

यहाँ प्रसंग-प्राप्त होने से, एक बात लिख देना उचित जान पड़ता है। तथा, इस ग्रन्थ का एक मूल सिद्धान्त यह है, कि अध्यात्मशास्त्र जीवन के सभी व्यवहारों के शोधन के लिए परमोपयोगी है, इसलिए भी वह बात न्याय-प्राप्त है। वह यह है। केवल पश्चात्ताप (नद्म), अथवा प्रख्यापन (एतराफ़), भी, पाप के मार्जन के लिए पर्याप्त नहीं है; प्रायश्चित्त, (कफ़्फारा), भी ज़रूरी है; अर्थात् पाप से जितना दुःख किसी को पहुँचाया है, उस के तुल्य स्वयं कष्ट सह कर, उस को, या उस के स्थानीय किसी दूसरे को, सुख पहुँचा देना चाहिये। आजकाल 'प्रिज़न रिफार्म'[१] कारागार-सुधार, की ओर जनता और अधिकारियों का ध्यान बहुत घूम रहा है। लोग विचारने लगे हैं कि क़ैदियों को कष्ट नहीं, शिक्षा, देनी चाहिये; उन की ओर वैर-निर्यातन (रिवेंज) और

१ Prison-reform.

दंड ('पनिशमेंट')[१] का भाव नहीं, दया और सुधार का भाव रखना चाहिये। यह भाव एक हद तक निश्चयेन उचित है। पर याद रखना चाहिये कि एक मनुष्य अतः सब अपराधी (मुज्रिम), एक प्रकृति (फ़ित्रत) के नहीं होते; चतुर्विध प्रकृति के लिए चतुर्विध दण्ड विहित हैं। अपराधी के ऊपर केवल दया करने का फल यह होगा कि अपराध बढ़ैंगे, और कारा-वास को, दुष्ट बुद्धि के लोग, आराम-घर समझ कर वहाँ अधिकाधिक जाने का यत्न करेंगे। इस लिए आवश्यक है कि अपराधी को इस प्रकार की 'शिक्षा' दी जाय जिस से उस के मन मे सच्चा 'पश्चात्ताप' उत्पन्न हो, और वह उस प्रकार का 'प्रायश्चित्त' भी स्वयं करै। 'सैको-ऐना-लिसिस'[२] के शास्त्री लोग भी, इधर उधर भूल भटक कर, धीरे-धीरे, इसी निर्णय पर स्थिर होते जाते हैं कि 'न्यूरोटिक', ('अपस्मार' आदि के प्रकार के) रोगी का 'री-एड्युकेशन' होना चाहिये। जो गंभीर अर्थ पुराने 'री-जेनरेशन' 'री-बर्थ'[३] का है, उस का एक अंश इस नये शब्द मे यथाकथंचित् आ जाता है। संस्कृत के बह्वर्थपूर्ण शब्द, 'द्वितीय जन्म' 'उप-नयन संस्कार', 'पुनः-संस्कार' आदि, इसी भाव को अधिक गंभी-रता पूर्णता से कहते हैं।

दर्शन की परा काष्ठा

प्रस्थान के भेद से दर्शन का भेद होते हुए भी, दर्शन की परा काष्ठा यही है कि, जैसे पंचशिखाचार्य ने कहा है, 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्।'[३] इस सूत्र की चर्चा पहिले भी इस ग्रन्थ मे आ चुकी है। 'सम्यक् ख्यानं ख्यातिः, संख्यानं, संख्या, सांख्यं', अच्छी रीति से जानना। 'संख्या' शब्द गिनती का वाचक इस लिये हो गया

---

१ Revenge; Punishment.

२ Psycho analysis. इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय को देखिये; उस मे इस 'नये शास्त्र' का चर्चा की गई है।

३ Neurotic; re-education; re-generation, re-birth.

है कि जब किसी विषय के सब अंगों की गिनती गिन ली जाती है तब वह सर्वथा विदित निश्चित हो जाता है। विश्व मे पचीस ही तत्त्व हैं, ऐसी गिनती जब गिन ली, तब विश्व संख्यात, सम्यग्ज्ञात, हो गया, और इस सम्यक्-ख्यान-शास्त्र का नाम 'सांख्य' शास्त्र हो गया। ऐसा भान होता है कि भगवद्गीता के समय मे सांख्य और वेदान्त का प्रायः वैसा भेद नहीं माना जाता था जैसा अब। वेदांत मे सांख्य अंतर्गत था, तथा योग भी। गीता का श्लोक है।

यदा भूतपृथग्भावएकस्थमनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

यहाँ, भूतों के पृथग्भाव को एकस्थ देखना—यह विशेष रूप से वेदान्त का विषय कहा जा सकता है; तथा, एक मे से सब पृथग् भाव के विस्तार को, प्रधान, महान्, अहंकार, मनस्, दस इंद्रिय, पंच तन्मात्र, पंच महाभूत, और इन से बनी अनंत 'असंख्य' सृष्टि का 'संख्यान'—यह 'सांख्य' का विशेष विषय कहा जा सकता है। एक को 'ज्ञान' 'प्रज्ञान' 'मेटाफ़िज़िक्स' 'फ़िलासोफ़ी', दूसरे को 'विज्ञान' 'फ़िज़िक्स' 'सायंस' कह सकते हैं।[१] परम-आत्मा मे, मन का, विविध अभ्यास और वैराग्य से, योजन करना 'योग' है।

दर्शन तो एक ही है। आत्मा को, पुरुष को, प्रकृति से, अन्य जानना, 'मै यह शरीर नहीं हूँ', ऐसा जानना, यही आत्मा का दर्शन है; और कोई दूसरा दर्शन नहीं है। पुरुष, परमात्मा, के स्वरूप को जानना; प्रकृति, स्वभाव, माया, के स्वरूप को जानना; इन दोनो के परस्पर अन्यत्व रूपी इतरत्व-रूपी सम्बन्ध को जानना, 'मै-यह-नहीं हूँ', 'अहं-एतत्-न', 'अहं-अन्यत्-न', अर्थात् यह जानना कि पुरुष 'की' होती हुई भी प्रकृति, पुरुष से अन्य है, भिन्न है; तथा 'अन्यत्-न' 'अन्य' पदार्थ, परमात्मा से अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, असत् है;

---

१ Metaphysics; Philosophy; Physics; Science.

एक चेतन चिन्मय परमात्मा की एक चेतना का एक स्वप्न, सब अपने भीतर भीतर ही, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञान-मय, एष्टा-इष्ट-इच्छा-मय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया-मय, भोक्ता-भोग्य-भोग-मय, सुख-दुःख-मय, समस्त संसरण, खेल है, क्रीड़ा, लीला, मनो-विनोद है—यही एक मात्र 'दर्शन' है।

इस वेदांत दर्शन से, इसी मे, अन्य सब दर्शनों का समन्वय हो जाता है।

> **रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां**
> **नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।**
> **(शिव-महिम-स्तुति)**

सर्वसमन्वय

दर्शनो पर असंख्य पोथियाँ लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं, और लिखी जायँगी।

नास्त्यंतो विस्तरस्य मे।

इस विस्तार मे न पड़ कर, एक दो सूचना, दर्शन के ज्ञानसार, इच्छासार, और क्रियासार अंगों के विषय मे कर देना उचित जान पड़ता है। आर्ष-बुद्धि सदा समन्वय, सम्मेलन, सौमनस्य, साम्मनस्य, सम्वाद, संगति, विरोध-परिहार, कलह-शमन पर अधिक ध्यान देती रहती है।

> **सर्वसम्वादिनी स्थविरबुद्धिः।**
> **इति नाना प्रसंख्यानं तत्वानां कविभिः कृतम्;**
> **सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्वात्; विदुषां किमसाम्प्रतम्।(भागवत)**
> **समानमस्तु वो मनो, समाना हृदयानि वः;**
> **सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्। (वेद)**

'बूढ़े आदमियों की बुद्धि, विवाद करते हुए युवकों मे सम्वाद, मेल कराने की ही चिन्ता मे हो रहती है। एक मन के, एक हृदय के, हो

जाओ; समान विचार विचारो, समान बात बोलो, साथ साथ चलो। सृष्टि के, जगत् के, संसार के, मूल तत्त्वों की गिनती, व्याख्या, संख्या, कवियों ने नाना प्रकार से की है; सभी प्रकार, अपनी अपनी दृष्टि से, न्याय-संगत हैं; सब के लिये विद्वान् लोग युक्तियाँ बताते ही हैं; उन मे कोई अपरिहार्य विरोध नहीं है।'

यह बात इसी से प्रसिद्ध होती है कि 'वेद भगवान्' के मूर्त रूप की उत्प्रेक्षा-मय कल्पना मे, सब विद्या, सब शास्त्र, उसी के अंग और उपांग बनाये गये हैं। किसी का किसी से विरोध नहीं है; प्रत्युत, सब की सब के साथ सह-कारिता सहायता है। जैसा पहिले कहा,

मूर्तिमान् भगवान् वेदो राजतेऽङ्गैः सुसंहतैः;
छन्दः पादौ स्मृतावस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते,
मुखं व्याकरणं प्रोक्तं, शिक्षा घ्राणं तथोच्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमीर्यते,
आयुर्वेदः स्वयं प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ,
गान्धर्वो रससम्प्लावः, शिल्पवेदोऽस्थिपंजरः,
कामशास्त्रं तु जघनं, अर्थशास्त्रमथोदरम्,
हृदयं मानवो धर्मः, मूर्धा वेदान्त इष्यते।

'मूर्तिमान् भगवान् वेद के पैर छन्द हैं, हाथ कल्प, मुख व्याकरण, नासिका शिक्षा, नेत्र ज्योतिष, कान निरुक्त, प्राण आयुर्वेद, भुजा धनुर्वेद, शरीर मे रसों का सम्प्लाव गांधर्ववेद, अस्थि-पंजर शिल्पवेद (स्थापत्यवेद, अथर्वोपवेद), कमर काम-शास्त्र, उदर अर्थ-शास्त्र, हृदय मनूपदिष्ट मानव-धर्म, और मूर्धा वेदान्त है।'

स्वप्न और भ्रम भी, किन्तु नियम-युक्त भी

सब शास्त्रों के मूर्धन्य, इस अध्यात्म-शास्त्र का निष्कर्ष यही है कि मै, आत्मा, परमात्मा, अजर, अमर, अक्षर, अखंड, अव्यय, अक्रिय, अविनाशी, अपरिणामी, देश-काल-क्रिया से अतीत, अवस्था-निमित्त-भेद

से परे, सब नामो रूपों कर्मों का धारण करने वाला भी, और उन सब से रहित भी, नित्य, सर्वगत, सर्वव्यापी, अचल, स्थाणु, सनातन, एक-रस चैतन्यमात्र 'है' और 'हूँ'। ये सब विशेषण आत्मा मे, 'मै' मे, और 'मै' ही मे, किसी अन्य पदार्थ मे नहीं, उपयुक्त, चरितार्थ होते हैं। 'मै' —यह शरीर—नहीं 'है', नहीं 'हूँ'।

'नाहं देहो, न मे देहो'। यह ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-युक्त इच्छामय शरीर भी, और 'इदं', 'एतत्', 'यह' सब विषय रूप प्रतिक्षण परिणामी परिवर्ती, आवर्ती, विवर्ती, सदा विकारी, देश-काल-क्रिया से परिमित, नाना-मय, भेद-मय, नाम-रूप-गुण-दोष-मय, नश्वर, चंचल, दृश्य, प्रत्यक्ष ही चक्रवत् चक्कर खाने वाला, 'भ्रमने' वाला, कुटिल गोल घूमने वाला, (कुटिलं च सततं च अहर्निशं गच्छति, जंगम्यते, इति) जगत्—'यह' सब मेरा, 'मै' का, स्वप्न है, मन का खेल है।

पर खेल और स्वप्न होता हुआ भी नियमयुक्त, नियतियुक्त, मर्यादाबद्ध, 'आर्डर्ड',[१] क़ायदो का पाबन्द, है। द्वंद्वमय है, इसी से नियमित है। जितना आय उतना व्यय, जितनी क्रिया उतनी प्रतिक्रिया, जितना गमन उतना आगमन, जितनी रात उतना दिन, जितना उजेला उतना अँधेरा, जितना लहना उतना चुकावना, जितना लेना उतना देना, जितना रोना उतना हँसना, जितना सुख उतना दुःख, जितना जीना उतना मरना, जितना एक ओर जाना उतना दूसरी ओर जाना, घूम फिर कर हिसाब बराबर हो जाना, संकलन-व्यवकलन गुणन-विभाजन मिल कर शून्य हो जाना—यही मुख्य नियम है। तभी तो दोनो को मिला कर, दोनो का परस्पर आहार विहार परिहार संहार करा कर, सदा निर्विकार, महाशून्य, महाचैतन्य, एकरस, क्रमातीत, 'ला-शै', 'ला-व-शर्त्ति-शै', 'ज़ाति-ला-सिफ़ात', 'ज़ाति सादिज', सिद्ध होता है; और तभी अनन्त असंख्य द्वन्द्वों के दोनो प्रतिद्वन्द्वियों के, जोड़ों के,

---

१ Ordered (i. e. governed by laws, by a 'Whirled World-Order).

'ज़िह्न' के, 'ज़ौजैन' के, क्रमिक प्रवर्तन, निवर्तन, विवर्त्तन, आवर्त्तन, अनुवर्त्तन से, संसार मे, सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, प्रतिक्षण, प्रतिस्थल, प्रतिप्रकार, कुटिलगमन, चक्रवद् भ्रमण, 'भ्रम', देख पड़ता है। शरीर मे रूधिर चक्कर खा रहा है, आकाश मे 'ब्रह्म के अण्ड' ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, चक्कर खा रहे हैं, श्वास-प्रश्वास, जागरण-शयन, आहरण-विसर्जन, दिन रात, शरद्-हेमन्तौ, शिशिर-बसन्तौ, वर्षा-ग्रीष्मौ, चक्कर खा रहे हैं।

संसार के जितने भी, जो भी, नियम हैं, वे सब इसी क्रिया-प्रतिक्रिया, द्वन्द्वी-प्रतिद्वंद्वी की तुलना और चक्रवद्भ्रमण रूपी मुख्य-नियम के, जहाँ से चलना वहीं घूम कर लौटने के, अवांतर रूप ही हैं।

मुख्य द्वन्द्व, मानव-जीवन मे, जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, जागरण-स्वप्न, सुख-दुःख हैं। इन के अवांतर मुख्य द्वन्द्व, जीवात्मा की व्यावहारिक दृष्टि से, ज्ञानांग मे सत्य-असत्य (तथ्य-मिथ्या), इच्छांग मे काम-क्रोध (राग-द्वेष), क्रियांग मे पुण्य-पाप (उपकार-अपकार, धर्म-अधर्म) हैं। परमात्मा की पारमार्थिक दृष्टि से, "द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञैः" की दृष्टि मे, 'चिद्-अंग' मे, सत्यासत्य के परे, और दोनो की संग्राहक, 'मा-या' ('ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या'); 'आनंद-अंग' मे, राग-द्वेष के परे, 'शान्ति' ('योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' गीता); 'सद् अंग' मे, पुण्य-पाप से परे, पूर्णता', 'निष्क्रियता', ("पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ईश उ०; "न पुण्यं न च वा पापं इत्येषा परमार्थता" पुराण)। माया का अर्थ है, 'या मा', जो है भी और नहीं भी है; जो परमात्मा की कल्पना मे 'हो' कर, तत्काल निषेध से 'नहीं है'; (मैं)—'यह' (दृश्य, कल्पित) 'नहीं' (है), पुराण।

पारमार्थिक 'अभ्यास-वैराग्य' के द्वन्द्व से सांसारिक 'आवरण-विक्षेप' द्वन्द्वों का जय

मायादेवी अर्थात् 'अविद्या-अस्मिता' की दो शक्तियाँ, 'आवरण' और

'विक्षेप'; इन शक्तियों के प्रथम युग्म सन्तान कहिये, अस्त्र-शस्त्र कहिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष, हैं; ये ही विविध रूप धारण कर के, जीव की आँख पर, बुद्धि पर, दृष्टि पर, 'दर्शन-शक्ति' पर, 'आवरण', शरीर अस्मिता-अहंकार का पर्दा, (मै अनंत अनादि अजर अमर परमात्मा नहीं हूँ, मै यह मूठी भर हाड़ मांस का नश्वर शरीर हूँ, ऐसे भ्रम का पर्दा) डाल कर, उस को अन्धा बना कर, सांसारिक शरीर सम्बन्धी क्षोभों से 'विक्षिप्त' कर देते हैं; उस का विक्षेपण 'प्रक्षेपण' कर देते हैं; 'सत्य-प्रिय-हित' मार्ग से बँहका कर, असत्य-अप्रिय-अहित, अनुचित, अधर्म्य मार्ग पर धक्का दे कर दौड़ा देते हैं, लुड़का देते हैं, ढकेल देते हैं, इधर-उधर फेंक देते हैं। साधारण वार्तालाप मे कहा जाता है कि काम-क्रोध-लोभ आदि आदमी को अँधा कर देते हैं, उस को कुराह मे दौड़ा देते हैं।

काम एष क्रोध एष,...विद्धि एनमिह वैरिणम् ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् । (गीता)

कृष्ण के चार हजार बरस बाद मौलाना रूम ने भी इस तथ्य को पहिचाना और कहा है,

> ख़श्मो शह्वत् मर्द रा अह्वल् कुनद्,
> ज़िस्तिक़ामत् रुह रा मुब्दल् कुनद्;
> चूँ .ख़ुदी आमद् .ख़ुदा पोशीदः शुद्,
> सद् हिजाब् अज़् दिल् ब सूये दीदः शुद् ।

'ख़श्म और शह्वत, क्रोध और काम, आदमी को अह्वल, केकर, भेंगा, तिर्यग्दृष्टि, बना देते हैं; रूह को, जीव को, इस्तिक़ामत से, सीधे मार्ग से, बदल कर, टेढ़ी राह पर ले जाते हैं। जहाँ ख़ुदी (स्वार्थ) आई, वहाँ ख़ुदा (परमार्थ) छिपा और दिल से सौ हिजाब, पर्दे, निकल कर, आँखों पर पड़ जाते हैं।'

जीव को, जीवन्मुक्तावस्था मे भी, इन से सदा सावधान रहना और सदा लड़ते ही रहना चाहिये। नहीं तो

विरक्तंमन्यानां भवति विनिपातः शतमुखः

'जो मनुष्य अपने को विरक्त मानने कहने लगते हैं वे सौ सौ बेर नीचे गिरते हैं।

परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी, शरीर-'अहंता' से अतीत, सार्विक-'अहंता' के 'अभ्यास' से 'आवरण' शक्ति को, और सांसारिक विषयों की ओर 'वैराग्य' से 'विक्षेप' शक्ति को, तथा शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान रूप साधन-षट्क से काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर रूप षड्रिपु को, जीतना चाहिये[१]। यदि इस मे कठिनाई हो, तो इन्हीं के बल से इन को जीतने का जतन करना चाहिये, 'कँटकेनेव कंटकं', कुछ चोरों को आत्मीय बना कर, अपना कर, और पहरुआ पुलिस यामिक चौकीदार बना कर, शेष चोरों को रोकना चाहिये। यथा—

कामश्चेद् यदि कर्त्तव्यः, क्रियतां हरिपादयोः ;
क्रोधश्चेद् यदि न त्याज्यः, पापे तं सुतरां कुरु ;
लोभो यद्यनिवार्यः स्यात्, धार्यतां पुण्यसंचये ;
मोहश्चेद् बाधते गाढं, मूढो भक्त्या हरेर्भव ;
मदो मादयति त्वां चेद्, विश्वप्रेममदोऽस्तु ते ;
मत्सरो यदि कर्तव्यो, हेतौ तं कुरु, मा फले।
(मार्कंडेयपुराण)

---

१ अस्मिता-अहंकार से राग-द्वेष की, तथा इन दोनो से षट् की, और उन से सैकड़ों मानस भाव-विकारों, क्षोभों, संरंभों, वेगों वा उद्वेगों, 'ईमोशन्स', 'जज़्बात' की, उत्पत्ति कैसे होती है—इस का वर्णन, विस्तार से The Science of the Emotions नाम की अंग्रेजी पुस्तक मे, तथा संक्षेप से, 'पुरुषार्थ' नाम की पुस्तक के 'रस-मीमांसा' नामक अध्याय मे, मै ने करने का यत्न किया है; तथा The Science of the Self मे भी संक्षेप से।

यदि काम नहीं मानता तो, 'हरति बन्धं दुःखं इति हरिः, हरः,' परमात्मा के कला-रूप, विभूतिरूप, किसी उत्तम इष्टदेव के, 'हरि' के वा 'हर के, चरणो के दर्शन-स्पर्शन की घोर कामना करो। 'आशिक़े ज़ार हूँ मै, तालिबे आराम नहीं'। क्रोध नहीं रुकता तो पाप के ऊपर दिल खोल कर क्रोध करो न? यदि लोभ नहीं मानता तो पुण्य के संचय करने मे उस को लगा दो और ख़ूब पूरा करो। यदि मोह बाढ़ पर है तो हरि-भक्ति मे, हर-भक्ति मे, अल्ला के इश्क़े-हक़ीक़ी मे, 'गाड', 'खुदा', के 'डिवोशन' मे, लोकसेवा मे, 'ख़िद्‌मते-ख़ल्क़' मे, 'सर्विस आफ़ ह्यूमैनिटी' मे गूड़-मूड़ हो जाओ।[२] यदि मद ज़ोर करता है, तो विश्वप्रेम के मद से मत्त, मस्त, भले ही होवो। यदि ईर्ष्या मत्सर का ग़लबा जज़बा है, तो फल पर हसद मत करो, फल के हेतु पर डाह पेट भर के करो; अर्थात् यह ईर्ष्या मत करो, कि अमुक ऐसा सुखी है और हाय मै नहीं हूँ; प्रत्युत, यह ईर्ष्या करो कि जिन गुणो के कारण वा जिस पुण्यकर्म के हेतु से, ख़ैरात और सवाब के काम करने की वजह से, उस को ईश्वर ने, या क़िस्मत, कर्म, स्वभाव, नियति, इच्छा, 'चान्स', 'फ़ेट', 'मैटर', 'नेचर'[३] ने (जिस किसी शब्द पर तुम्हारा मन लुभावे और विश्वास करै) ऐसा सुख दिया है वैसा पुण्य कर्म मै क्यों नहीं करता। इस रीति से यदि इन छः रिपुओं के, अन्तरारियों के, अन्दरूनी दुश्मनो के, साथ व्यवहार किया जाय, तो इन के रूप का परिवर्त्तन हो कर, ये छः सच्चे मित्र बन जायँ, ऐन हक़ीक़ी दोस्त हो जायँ। अर्थात्, भक्ति; दुष्ट-दंडन शक्ति; परोपकारार्थ-विभूति-सञ्चय; करुणा-वात्सल्य के साथ-साथ 'धर्मभीरुता', (क्योंकि मोह मे करुणा, तथा भय-प्रयुक्त किं-कर्त्तव्य का अज्ञान, दोनो मिश्रित हैं); शौर्य वीर्य; दुर्बल-रक्षा—इन छः के रूप मे ये छः परिणत हो जायँ। यद्यपि पुण्य-कर्म सोने की साँकल, और पापकर्म लोहे की साँकल है, पर आत्मदर्शी

२ God; devotion; service of humanity.

३ Chance; Fate; Matter: Nature.

को भी, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि', 'मामनुस्मर युध्य च', (गीता) के न्याय से, अपने हाथों अपने गले मे सोने की श्रृंखला डालना, और फिर समय आने पर स्वयं उतार कर दूसरों को सौंप देना उचित ही है। इस की चर्चा भी उपनिषदों मे, तथा मनुस्मृति मे, की है। आत्मदर्शन का यह आवश्यक व्यावहारिक उपयोग प्रयोग है।

दर्शन और धर्म से स्वार्थ भी, परार्थ भी, परमार्थ भी

केवल अनन्त वेदों पर, वा अन्य आध्यात्मिक विषय पर, विवाद कर के, बाल की खाल निकाल कर के, नितांत व्यर्थ कालक्षय और शक्ति का घोर अपव्यय करना, यह दर्शन का उद्देश्य नहीं है। दर्शन तो वह पदार्थ है, जिस से जनता का ऐहिक भी, आमुष्मिक भी, पारमार्थिक भी, बाह्य सांसारिक व्यवहार मे और आभ्यन्तर आध्यात्मिक व्यवहार मे भी, कल्याण सधै; यदि नहीं सधता, तो जानना कि सच्चा दर्शन नहीं मिला; कोई कच्चा दर्शन ही मिला।

यदि शुद्ध सत्य दर्शन का प्रचार हो, (निरी कठ-हुज्जत और शुष्क तार्किक नियुद्ध मल्लयुद्ध का नहीं), तो अन्य सब कामो की अपेक्षा अधिक कल्याण, लोक का, इस से होगा। क्योंकि परस्पर-प्रेम, परस्पर-सदाचार, सब कर्मों के उपाय, सब धर्मों के आश्रय, सब धर्मों के समन्वय, सब वादों के संवाद, सब शास्त्रों के मर्म, की कुञ्जी इसी मे है।

आश्रयः सर्वधर्माणां, उपायः सर्वकर्मणाम्,
प्रदीपः सर्वविद्यानां, आत्मविद्यैव निश्चिता। (न्याय-भाष्य)
यतोऽभ्युदय-निश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक-सूत्र)

'जिस से इस लोक मे अभ्युदय की, त्रिवर्ग की, अर्थात् 'धर्म' से अर्जित रक्षित 'अर्थ' द्वारा 'काम' की, सिद्धि हो, तथा 'निःश्रेयस', 'मोक्ष', की भी सिद्धि हो, वही तो 'धर्म' है।' 'सनातन' क्यों? तो,

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (गीता)

'सनातन, नित्य, सर्व-गत, सर्व-व्यापी, स्थाणु के ऐसा निश्चल, एक ही पदार्थ है—परमात्मा, ब्रह्म, चैतन्य, 'अहम्', 'मै'।'

सोऽहमित्यग्रे व्याहरत् तस्मादहं-नामाऽभवत्। (बृ० उ०)
अहमिति सर्वाभिधानम्। (नृसिंह उ०)

सब का नाम, सर्वनाम, 'अहम्', 'मै', है; सभी अपने को पहिले 'मै' तब पीछे अपर ('और', अन्य) नाम से कहता है। 'मै' राम, 'मै' कृष्ण, 'मै' बुद्ध, 'मै' मूसा, 'मै' जरथुस्त्र, 'मै' ईसा, 'मै' मुहम्मद, 'मै' नानक, 'मै' गोविन्द।

इस 'सनातन' ब्रह्म के स्वभाव पर, इस की प्रकृति के तीन गुणो पर, सर्वकाल मे प्रतिष्ठित, सर्व-देश-काल-अवस्था मे अबाध्य, जो धर्म हो, वही सनातन 'धर्म' हो सकता है। वह, गुण-कर्म के अनुसार, 'वर्ण-आश्रम' की व्यवस्था द्वारा, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की व्यवस्था करने वाला धर्म, वर्णाश्रम धर्म ही 'सनातन' धर्म है। उसी से अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि मनुष्यमात्र को मिल सकती है; अन्यथा नहीं। पर, ख़ूब याद रहै, 'गुणेन कर्म', और 'कर्मणा वर्णः'; 'जन्मना वर्णः' नहीं। 'जन्मना वर्णः' का अप-सिद्धान्त, अ-सिद्धान्त, कु-सिद्धान्त, नितांत दोषपूर्ण विचार, अंगीकार कर लेने से ही तो भारतवर्ष और भारत-जनता का 'धर्म', इधर सैकड़ों वर्षों से, नितरां 'अ-सनातन', प्रतिपद विशीर्यमाण, हो गया है। परस्पर-बहिष्कार से परस्पर भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष, अहंकार-तिरस्कार से भर कर कलुषित हो कर, सहस्रों पंथों, सम्प्रदायों, मतों, आचार-भेदों, से छिन्न-भिन्न, ढाई सहस्र से अधिक जाति-उपजाति-उपोपजातियों को, वर्ण-उपवर्ण-उपोपवर्णो को, पैदा कर के, यह 'हिन्दू' धर्म कहलाने वाला धर्माभास, मिथ्या धर्म, उस के मानने वाले 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज के साथ, प्रतिपद, प्रतिदिन, क्षय को प्राप्त हो रहा है। सच्चे सद्धर्म को तो सर्व-संग्राहक,

सर्वाकर्षक, सर्व-प्रिय होना चाहिये। पर आजकाल सैकड़ों वर्षों से यह 'हिन्दूधर्म', अध्यात्मशास्त्र और वेदान्त-दर्शन की भी दुर्दशा कर के, सर्व-विग्राहक, सर्वविद्रावक, सर्वोद्वेजक, सर्वकुत्सित हो रहा है; और कोटिशः मनुष्य इस को छोड़ कर अन्य धर्मों में चले गये, और जा रहे हैं। सच तो यह है कि यदि 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त पर, जिस ही का बुद्धदेव ने पुनरुज्जीवन किया, यदि भारतीय धर्माधिकारी दृढ़ बने रहते, और कुमारिल, मंडन, शंकर आदि के समय से उस के पुनः त्याग का आरम्भ न हो जाता, तो आज इस देश में सिवा सनातन वैदिक धर्म के दूसरे धर्म का नाम भी न होता; प्रथमतः बाहरी कोई आक्रमण ही न कर सकता और यदि किसी तरह भारत के भीतर आ ही जाता, तो वह चातुर्वर्ण्य में अपनी योग्यता के अनुसार मिला लिया जाता, जैसा बुद्धदेव के समय से महाराज हर्षवर्धन के समय तक होता भी रहा।[1]

यदि प्राकृतिक, स्वाभाविक, नैसर्गिक, गुण-प्राधान्य के अनुसार जीविका-कर्म की, और जीविका-कर्म के अनुसार वर्ण अर्थात् 'पेशा' की, व्यवस्था के शुद्ध आध्यात्मिक सिद्धांत पर समाज का व्यवस्थापन, लोक का संग्रहण, किया जाय, तो आज ही यह 'क्षय-रोग' निवृत्त हो जाय, 'हिन्दू-समाज' का रूप 'मानव-समाज' का हो जाय, 'हिन्दू' कहलाने वालों के आपस के वैमनस्य मिट जायँ, और भारत-वासी अन्य अ-हिन्दू समाजों से भी 'हिन्दू'-समाज का वैर दूर हो जाय। जो वैर पुनः प्रतिदिन अधिकाधिक भयंकर रूप धारण कर रहा है।[2] चार पेशों और चार अवस्थाओं के साँचे ढाँचे में सारी दुनिया के सब मनुष्य अपने-अपने मज़हब और क़ौम को बदले बिना, बैठाल दिये जा सकते;

१—हिंदू-मुस्लिम विद्वेष के कारण भारत-वर्ष के जो दो टुकड़े हो गये, और दारुण प्रजा-विनशन हो रहा है, उस की चर्चा ऊपर की गई है।

२—इस विषय पर विस्तार से 'मानव-धर्म-सारः' और 'पुरुषार्थ' में लिखा है।

हैं और समाविष्ट किये जाने चाहियें। तभी मनु के ये श्लोक चरितार्थ हो सकते हैं, जैसे होने चाहियें, कि

ब्राह्मणः,क्षत्रियो,वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः;
चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः; नास्ति तु पंचमः।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः,
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

'पुरुष की त्रिगुणात्मक, सत्त्व-रजस-तमो-गुणात्मक, प्रकृति के अनुसार, तीन प्रकार के, द्वि-ज, द्वि-जात, मनुष्य और एक प्रकार का एक-जाति मनुष्य, पैदा होते हैं। (१) सत्वाधिक, ज्ञान-प्रधान, विद्याजीवी, ज्ञानदाता, शिक्षक विद्वान्; (२) रजोऽधिक, क्रिया-प्रधान, शस्त्रजीवी, त्राणदाता, रक्षक वीर; (३) तमोऽधिक इच्छा-प्रधान, वार्त्ताजीवी, अन्नदाता, पोषक दानी—यह तीन द्वि-ज होते हैं। अव्यंजितगुण, अर्थात् जिस मे तीनो गुणो का साम्य है, तीन मे से कोई एक गुण विशेष रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, श्रमजीवी, सर्वधारक, सर्वसेवक, सहायक—यह एक-जाति है। पाँचवें प्रकार का मनुष्य पृथ्वी पर कहीं होता ही नहीं; जहाँ भी कहीं मनुष्य हैं, इन चार ही मे से किसी न किसी प्रकार के हैं। एतद्देश, इस देश, भारतवर्ष मे उत्पन्न, 'अग्रजन्मा' से, आत्मज्ञानी, तपो-विद्या-सम्पन्न, श्रेष्ठ विद्वान् से, पृथ्वी-तल के समस्त मनुष्यों को अपने-अपने स्वभाव और गुण के उचित स्व-धर्म-कर्म चरित्र की शिक्षा लेनी चाहिये। 'एतद्देश' ही के विद्वान् से क्यों? इस लिये कि मानव-जाति के उपलभ्यमान इतिहास मे, भारतवर्ष मे ही वेदान्त दर्शन अर्थात् अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार, वर्णों (अर्थात् पेशों, रोज़गारों, जीविका-कर्मात्मक वर्गों), और आश्रमो के विधान से, समाज की व्यवस्था, बुद्धि-पूर्वक की गई है; अन्य देश मे अब तक नहीं हुई। किन्तु अब सब देशों का सम्बन्ध हो जाने से सब मे फैलना चाहिये।

अकबर के विद्वान् मन्त्री अबुल-फ़ज़्ल ने भी इस तथ्य को पहिचाना। 'आईनि-अकबरी' नामक अपने ग्रन्थ के 'मुक़द्दमा' अर्थात् भूमिका मे उसने लिखा है, "जहाँनियाँ अज़ चहार गरोह बेरूँ न बाशंद, (१) अह्लिक़लम (२) मुबारिज़ाँ (३) पेशःवराँ व बाज़रगाना (४) बर्ज़ीगराँ व किशावर्ज़ा", अर्थात् (१) लेखनी-धारक विद्वान्, (२) शस्त्र धारक शूर (३) व्यापारी (४) श्रमिक।

'द्विज' कौन और क्यों, तथा 'अग्रजन्मा' कौन और क्यों?

मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। (मनु०)
(प्रथमं पृथिवीलोके, आत्मलोके ततः पुनः,
द्विवारं जायते यस्मात् तस्माद् द्विज इति स्मृतः।
अंतर्दृष्टिविकासेन येनऽात्मा सुसमीक्षितः,
स्वचित्तगुणदोषाणां परीक्षाकरणे क्षमः
यश्च जातः, स एवस्ति द्वि-जातः, इति निश्चयः।
मानवो जायमानो हि शिरसाऽग्रे प्रजायते,
ज्ञानेन्द्रियधरत्वाच्चाप्युत्तमांगं शिरः स्मृतम्।)
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता)
(सर्वेषां पुरुषार्थानां ज्ञानं साधनमुत्तमम्।
निधीनामुत्तमश्चापि योऽयं ज्ञानमयो निधिः।
अतो यो ह्यात्मविज्, ज्ञानी, विश्वमित्रं, तपोमयः,
'अग्रजन्मा' स वाच्यः स्यात्, नऽन्यस्तं शब्दमर्हति।)

'पहिला जन्म माता से, पृथ्वी-लोक मे। दूसरा जन्म, आत्म-लोक मे, अन्तर्दृष्टि के विकास से, जिस से आत्म-दर्शन होता है, और अपने चित्त के गुणो और दोषों की परीक्षा करने की क्षमता उपजती है। जिस को यह दूसरा जन्म हो जाय वही 'द्विज' है।

'मनुष्य का सिर आगे पैदा होता है, फिर धड़ और पैर; सिर ही मे सब ज्ञानेन्द्रियाँ एकत्र हैं; इस लिए सिर को ही 'उत्तमाङ्ग' कहते हैं।

सत्य ज्ञान के ऐसा, चित्त को और शरीर को पवित्र करने वाला दूसरा पदार्थ कोई नहीं है; सब पुरुषार्थों का उत्तम साधन सज्ज्ञान ही है; सब निधियों मे ज्ञान-धन ही उत्तम निधि है। इस लिए आत्मा का जानने वाला ज्ञानी, विश्वजनीन, विश्व का मित्र, 'सर्वलोकहितेरतः', तपस्वी, निःस्वार्थी, जो मनुष्य हो, वही अग्र-जन्मा कहलाने योग्य है; दूसरे किसी को यह नाम, यह शब्द, केवल किसी कुल मे जन्म होने से, नहीं मिल सकता।'

'दर्शन'से गूढ़ार्थों का दर्शन

'दर्शन' शब्दका एक अर्थ दर्शनेन्द्रिय 'आँख' भी है। दर्शन शास्त्र के ठीक-ठीक अध्ययन से नई 'आँख' हो जाती है, जिस से 'पौराणिक' पुरानी बातों का अर्थ नया देख पड़ने लगता है, 'प्र-णवी'-भूत हो जाता है। सम्यग्दर्शन की 'प्र-णवी'-भूत आँख' भिन्न से भिन्न देख पड़ते हुए मतों मे, एकता देख लेती है; देश-देश के वेष-वेष मे अपने को छिपाते हुए बहुरूपिया 'मित्र' को, 'यार' को, पहिचान ही लेती है।

मित्रस्य चक्षुषा पश्येम। (वेद)
ऐ ब चश्मानि दिल् म बीं जुज़् दोस्त,
हर् चि बीनी बिदाँ कि मज़्हरि उस्त। (बिसाली)

'जो कुछ हम देखैं, मित्र की, दोस्त की, आँख से देखैं; सभी तो परमात्मा ही का, परम सखा जगदात्मा ही का, इज़्हार हैं, आविष्कार है।' 'मित्र' नाम सूर्य का भी है; साक्षात् सब के प्राणदाता सूर्य हैं सर्वात्मा के 'वरेण्यं भर्गः', 'तजल्ली ख़ास', हैं। परमात्मा की दृष्टि से, सब को देखो।

भागवत, महाभारत, आदि मे बताया है कि, वैष्णव सम्प्रदाय मे पूजित 'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध' के चतुर्व्यूह का आध्यात्मिक अर्थ, 'चित्त, अहंकार, बुद्धि, मनस्' है; तथा आदिनारायण का अर्थ

परमात्मा है । अन्य अर्थ भी कहे हैं, यथा, भागवत, स्कंध १२, अ० ११ मे, उक्त चार को तुरीय, प्राज्ञ, तैजस, विश्व कहा है; तथा, विष्णु की चार भुजा और शंख, चक्र, गदा, पद्म, आदि आयुध और आभूषणो का भी अर्थ कहा है । ऐसे ही, शैव सम्प्रदाय मे, 'पंच ब्रह्म', अर्थात् 'सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान' का आध्यात्मिक अर्थ, पंच महाभूतों मे विद्यमान व्यज्यमान चैतन्य ही है । तथा शक्तिसम्प्रदाय मे 'दुर्गा' बुद्धि-शक्ति का, ज्ञान-शक्ति का; और 'राधा', 'प्राण-शक्ति' का; और 'उमा' 'इच्छा-शक्ति', मूल-शक्ति, का नाम है । तंत्र शास्त्र मे 'ऐं' ज्ञानशक्ति का, 'ह्रीं' और 'श्रीं' क्रियाशक्ति का, 'क्लीं' इच्छाशक्ति का नाम है; इत्यादि ।

'निरुक्त' नाम के वेदांग का उद्देश्य ही यह है, कि वेदों के शब्दों का 'निर्वचन', 'व्याख्यान', उचित रीति से किया जाय । अधिक ग्रन्थ इस विषय के लुप्त हो गये हैं; यास्क ही का 'निरुक्त' अब मिलता है, जो प्रायः दो वा ढाई सहस्र वर्ष पुराना कहा जाता है । इस मे बतलाया है कि वैदिक शब्दों और मंत्रों के कई प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं, और सभी अभीष्ट हैं; याज्ञिक (आधि-दैविक), ऐतिहासिक (आधि-भौतिक), और आध्यात्मिक । आधि-दैविक और आधि-भौतिक अर्थों मे अवान्तर प्रकार भी हैं; यथा, एक मंत्र का अर्थ, ज्योतिः शास्त्र ('ऐस्ट्रो-नोमी') के तथ्यों का भी संकेत कर सकता है; प्राणि-विद्या ('बाया-लोजी') के; शरीर-शास्त्र ('एनाटोमी फ़िसियॉलोजी') के; मानव-इतिहास प्रभृति के भी । आपाततः, यह असम्भाव्य जान पड़ता है; किन्तु 'समता-न्याय', 'सम-दर्शिता-न्याय', 'उपमान-प्रमाण', पर गंभीर विचार करने से, 'जैसा एक, वैसे सब', 'ला आफ़ ऐनालोजी' पर ध्यान देने से, यह सर्वथा सम्भाव्य ही नहीं, अपितु निश्चित जान पड़ने लगता है । जैसे एक दिन मे सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त, वैसे एक वर्ष मे वसन्त-ग्रीष्म, प्रावृट्-वर्षा; शरत्-शिशिर; वैसे एक जीवन मे बाल्य-यौवन, तारुण्य-प्रौढ़ि, वार्धक्य-जरा; यथा क्षुद्र-विराट्, वैसा ही महा-विराट्; जैसा

मनुष्य का एक दिन वैसा ब्रह्मा का एक युग, महायुग, कल्प, महाकल्प आदि; जैसा एक मनुष्य का जीवन, वैसी एक मानव उपजाति, जाति, महाजाति, 'ट्राइब', 'सब रेस', 'रेस' का; जैसा अणु वैसा सौर-सम्प्रदाय; 'ऐज़ दी ऐटम, सो दी सोलर सिस्टम्'; 'ऐज़ दी माइक्रोकाज़्म, सो दी मॉक्रोकाज़्म'।[१]

यावान् अयं वै पुरुषः. यावत्या संस्थया मितः,
तावान् असौ अपि महापुरुषो लोकसंस्थया।
(भागवत, स्कंध१२, अ० ११)

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः,...
...ब्रह्मांडसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थिताः (शिवसंहिता)

शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तन्येतानि, भारत !,
शरीरस्य यथोद्देशः शरीरोपरि निर्मितः,
तथा पृथिव्याः भागाश्च, पुण्यानि सलिलानि च।
(म० भा०, अनुशा०, अ० ७०)

'मनुष्य के शरीर मे जो तत्त्व और अवयव हैं, वही तत्त्व और तादृश अवयव महाविराट् मे भी हैं; जैसे पिंडांड वैसा ब्रह्मांड। जैसे मानव-शरीर मे विशेष-विशेष अवयव, मस्तिष्क, मेरुदंड, षट्चक्र, कन्द, नाड़ी आदि 'तीर्थ' हैं, 'तरण' के, संसार से क्रमशः 'उत्तरण' के, तर जाने के, स्थान वा मार्ग हैं, वैसे ही पृथ्वी के विशेष-विशेष गुण रखने वाले पुण्यस्थल हैं, मानव-शरीर के अवयवों के 'सम', 'समान', 'अनुरूप, हैं'। यद्यपि,

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः,
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु, तीर्थसारस्ततो गतः।(भागवत-माहात्म्य)

---

१ Astronomy; biology; anatomy, physiology; geology-geography; phycics-chemistry; law of analogy; tribe, subrace, race; 'as the atom, so the solar system'; 'as the microcosm, so the macrocosm'.

'वर्तमान कलिकाल मे तीर्थों मे प्रायः उग्र पाप करने वाले ही मनुष्य भर गये हैं, इस लिये सब तीर्थ सारहीन हो गये हैं।,

आध्यात्मिक अर्थ ही इन सब अर्थों मे मुख्य है; मनुष्य के निकटतम है; सब से अधिक उपयोगी है। वेदों मे, और जब वेदों की भाषा और संकेत लोक मे दुर्बोध्य हो गए तब पुराणो और इतिहासों मे, उस समय की बदली हुई बोली मे, अर्थात् संस्कृत मे, प्राचीन ऋषियों ने, वेद के आशयों को, आख्यानो और रूपकों मे लिखा।

भारतव्यपदेशेन वेदार्थमुपदिष्टवान्।

'वेदव्यास जी ने वेद के अर्थ को महाभारत की कहानी के बहाने से लिख दिया'; जो सर्व-साधारण के समझने योग्य, मन बहलाने वाले कथानकों द्वारा, शिक्षा देने मे समर्थ है। ये आख्यान अक्षरार्थ की दृष्टि से, बच्चों के लिए, मन-बहलाव के साथ-साथ साधारण आचरण नीति की शिक्षा देते हैं; गूढ़ार्थ की दृष्टि से, परिपक्व बुद्धि वालों को गम्भीर शास्त्रीय तथ्यों की शिक्षा देते हैं।

किन्तु काल के प्रवाह से, उन पौराणिक ऐतिहासिक रूपकों का अर्थ भी वैसा ही दुर्बोध हो गया, जैसा वैदिक मंत्रों का। जैसे एक मनुष्य की, बीमारी से, चोट से, वा वार्धक्य से, प्राणशक्ति क्षीण होने से, उस के शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, सभी दुर्बल हो जाते हैं; वैसे ही एक जाति वा समाज की संघ-शक्ति क्षीण होने से, उस का ज्ञान, उत्साह, शौर्य, समृद्धि, कला-कौशल, सभी शिथिल और क्षीण हो जाते हैं। सब ह्रासों का मूल कारण शील-ह्रास है। इस से परस्पर के सम्बन्ध को, संहनन, संघात, संघत्व को, दृढ़ करने वाले स्नेह प्रेम विश्वास का ह्रास; उस से बुद्धि बल-शौर्य-विद्या-लक्ष्मी-ह्रास, सभी सद्गुणो का ह्रास। महाभारत के शांति पर्व मे, बलि और इन्द्र की कथा से, यह दिखाया है। शील का सार कहा है—'अपने लिये जैसा चाहो वैसा दूसरे के लिये।'

'उत्तमांग', सब ज्ञानेन्द्रियों का, अंतःकरण का, आधार, सिर

जब बिगड़ता है तब सब बिगड़ता है; ज्ञान-प्रधान जीवों, समाज के शिक्षकों, मे जब शील विकृत हुआ, स्वार्थ और दम्भ बढ़ा, तब क्रमशः अन्य सब अंग, बाहु, उदर, पाद, सभी मे विकार उत्पन्न हुआ; सारा समाज भ्रष्ट हुआ।

ब्राह्मणं तु स्वकर्मस्थं दृष्ट्वा बिभ्यति चेतरे,
नान्यथा, क्षत्रियाद्यास्तु, तस्माद् विप्रस्तपश्चरेत्। (शुक्रनीति)

'ब्राह्मण को अपने धर्म कर्म मे, सात्त्विक तपःसंग्रह और सात्त्विक विद्यासंग्रह मे,प्रवृत्त देख कर, क्षत्रियादि अन्य वर्ण भी डरते हैं, और अपने-अपने उचित धर्म-कर्म मे लगे रहते हैं; अन्यथा, नहीं लगते;' जब ब्राह्मण, तारक की जगह मारक, शिक्षक की जगह वंचक, हो गया; तो क्षत्रिय भी रक्षक के स्थान मे भक्षक, वैश्य भी पोषक के स्थान मे मोषक, शूद्र भी सेवक के बदले धर्षक हो जाते हैं। इस लिये ब्राह्मण की सब से अधिक उत्तरदायिता, ज़िम्मादारी, है; उस को सब से अधिक आवश्यक है कि वह सात्त्विक तपस्या मे, और सात्त्विक विद्या के अध्ययन और प्रचारण मे, सदा लगा रहे। पर ऐसा किया नहीं; तपस्या छोड़ दी, दंभ ओढ़ लिया; सद्विद्या खो दी, ठगविद्या और कठहुज्जत गले लगाया। पौराणिक आख्यानो और रूपकों का सच्चा अर्थ भुला दिया गया; उन के संस्करण और सुप्रयोग के ठिकाने, दुष्करण और दुष्प्रयोग ही बढ़ता गया। उपयोगी और बुद्धिवर्धक शिक्षा देने के स्थान मे अन्ध-श्रद्धा ही बढ़ाई गई। जो कथानक, स्पष्ट ही, बुद्धिपूर्वक निर्मित हैं, गढ़े हुए बनाये हुए 'रूपक' हैं ('ऐलेगोरी' हैं); जिन के रूप ही से साक्षात् प्रकट होता है कि ये 'प्रतीक' ('फ़ार्म्युला', 'सिम्बल') मात्र हैं[1]; थोड़े शब्दों मे बहुत आशय और अर्थ रख देने के लिये मंजूषा मात्र हैं; उन की भी व्याख्या अक्षरार्थ से ही की जाने लगी, और उसी अक्षरार्थ की ओर साधारण भोली जनता की अंध-श्रद्धा झुकाई गई, उन का मूढ़ग्राह

१ Allegory: formula; symbol.

बढ़ाया गया। कारण यही कि व्याख्याता लोगों के पास शील नहीं, सद्बुद्धि नहीं, सद्ज्ञान नहीं, बहुश्रुतता-बहुज्ञता नहीं; उन के स्थान पर दम्भ, अहंकार, कपट, 'बैड़ालव्रतिकता', 'बकव्रतिकता' आदि बहुत; जिस का मनु ने उग्र शब्दों मे धर्षण किया है। इसी लिये मनु ने, व्यास ने, यह भी कहा है—

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्;
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो, मामयं प्रतरिष्यति।

'इतिहास-पुराण के द्वारा वेद का अर्थ समझना चाहिये। जो बहु-श्रुत, बहुशास्त्रज्ञ, नहीं है, वह वेद के अर्थ का अनर्थ कर डालेगा।' जब इतिहास पुराण का ही अर्थ भूल गया, तो उस से वेद वेदान्त के सच्चे अर्थ का उपबृंहण, उदाहरण, विस्तारण, निरूपण, कैसे हो ?

प्रत्यक्ष ही, प्रतिवर्ष कई बेर, सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के अवसर पर, यह दृश्य देख पड़ता है; काशी ऐसे स्थान में, गंगा में स्नान करने को, लाख-लाख, दो-दो लाख, भीड़, देहाती स्त्रियों पुरुषों की आ जाती है। उन को यही समझाया हुआ है, और समझाया जाता है, कि पुराणो मे लिखा है कि 'सिंहिका' राक्षसी के पुत्र का शिर विष्णु ने चक्र से काट डाला; सिर 'राहु' हो गया; शरीर 'केतु' हो गया; सूर्य और चन्द्रमा ने, इशारे से, विष्णु को बताया था, कि सैंहिकेय भी देवों की पंक्ति मे, उन दोनो के बीच मे, अमृत पीने को आ बैठा; इस द्वेष से, समय-समय पर, कटा सिर, जिसका नाम 'राहु' हो गया है, सूर्य और चन्द्रमा को निगलने के लिये दौड़ता है; स्नान करने से और ब्राह्मणो को दान देने से ही, सूर्य और चन्द्रमा बच सकते हैं और बचते हैं। ऐसे मिथ्या प्रचार की किन शब्दों मे निन्दा की जाय ? ऐसे ही बहुविध शीलहास, सत्यहास, से ही तो भारत समाज का सर्वथा ह्रास हो रहा है। आज-काल, अंग्रेज़ी पढ़ा हुआ छोटा लड़का भी जानता है कि सूर्य के चारो ओर पृथ्वी, और पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा, सदा घूमते रहते हैं; जब

सूर्य और पृथ्वी के बीच मे चन्द्र आजाता है तब सूर्य ग्रहण हम पृथ्वी निवासियों को जान पड़ता है; और जब चन्द्र और सूर्य के बीच मे पृथ्वी, तब चन्द्र ग्रहण।

मनु ने मानव समाज की सभ्यता, शिष्टता, व्यवस्था, तहज़ीब, तन्ज़ीम, को दो त्रिकों की दोहरी-तीहरी नीवी, नींव, आधार, बुनियाद, पर दृढ़तर प्रतिष्ठित कर के ऊँची उठाया; "माता पिता तथाऽऽचार्यः" "ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः", सतीमाता, सत्पिता, सद्आचार्य, तथा मातृस्थानी सद्वैश्य, पितृस्थानी सत्क्षत्रिय, आचार्यस्थानी सद्ब्राह्मण; तत्रापि, विशेष महिमा सती पतिव्रता और संतति-व्रता माता की, सद्-ब्राह्मण की, सत्क्षत्रिय की।

(ज्ञानदो ब्राह्मणः प्रोक्तः, त्राणदः क्षत्रियः स्मृतः
प्राणदो ह्यन्नदो वैश्यः, शूद्रः सर्वसहायदः।
शिक्षको ब्राह्मणः प्रोक्तः,रक्षकः क्षत्रियः स्मृतः,
पोषकः पालको वैश्यः, धारकः शूद्र उच्यते।
उपाध्यायान् दशाचार्यः, शताचार्यांस्तथा पिता,
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते। (म.)

'ज्ञान देने वाला ब्राह्मण कहलाता है; त्राण देने वाला, क्षत्रिय; प्राण देने वाला, वैश्य; सहाय देने वाला, शूद्र। शिक्षक, ब्राह्मण; रक्षक, क्षत्रिय; पोषक-पालक, वैश्य; धारक, शूद्र। दस उपाध्यायों से बढ़ कर आचार्य का गौरव है, सौ आचार्यों से अधिक पिता, हज़ार पिताओं से बढ़ कर माता का गौरव गुरुत्व है'।

सती स्त्री की, सद् ब्राह्मण की, सत् क्षत्रिय (राजा) की मनु ने, ऋषियों ने, देवों से भी अधिक प्रशंसा की है। परन्तु जब यह असत्, दुष्ट, पापी, भ्रष्टाचार हो जायँ, तो वैसी ही घोर निन्दा भी, इन्हीं तीन की, किया है। तत्रापि, शिरःस्थानी उत्तमांगस्थानी, दुराचारी ब्राह्मण की अधिक; क्योंकि, जैसा पहिले कहा, जब सिर बिगड़ा, जब बुद्धि मे

विकार आया, दमाग़ ख़राब हुआ, तब सब बिगड़ा; जब तक बुद्धि ठीक है तब तक और किसी अंग को पहिले तो बिगड़ने नहीं देती; और, दूसरे, यदि बिगड़ै तो बना लेती है।

> अतपास्तु अनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः,
> अम्भसि अश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति।
> न वारिअपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे,
> न बकव्रतिके विप्रे, नऽवेदविदि धर्मवित्।
> धर्मध्वजी सदालुब्धः छाद्मिको लोकदम्भकः,
> बैड़ालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः।
> अधोदृष्टिः नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः,
> शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः।
> ये बकव्रतिनो विप्राः, ये च मार्जारलिंगिनः,
> ते पतंति अंधतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा।
> न धर्मस्यऽपदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्,
> व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम्।
> प्रेत्य इह च ईदृशाः विप्राः गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः;
> छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति। (मनु)

'जो नामधारक, तपस्याहीन, विद्याहीन, अपने को ब्राह्मण बतलाने वाले, मिथ्या ब्राह्मण हैं, अच्छे ब्राह्मण नहीं हैं; जो बिड़ालव्रती, बकव्रती हैं; भोली स्त्रियों और ना-समझ पुरुषों का दम्भन करते हैं, उन को ठगते हैं, धोखा देते हैं, और अपने स्वार्थ के ही साधन मे सदा तत्पर रहते हैं; ऐसे मिथ्या ब्राह्मण जो दान लेते हैं, वे, दान देने वालों को भी अपने साथ ले कर, नरक मे गिरते हैं। ऐसे विप्र जो व्रत आदि, लोक को दिखाने के लिये, ढोंग से करते हैं, उस व्रत से राक्षसों की, दुराचारियों की, ही पुष्टि होती है। सच्चे ब्राह्मण, ऐसे मिथ्या ब्राह्मणो की घोर निन्दा करते हैं। बिड़ाल-व्रती और बक-व्रती, बिलैया-भगत

और बगुला-भगत, विप्रों को पीने के लिये पानी भी नहीं देना चाहिये। धर्मध्वजी, महा लोभी, कपटी, दूसरों के छल छिद्रों की ताक घात में रहने वाला, हिंसक, जैसे बिल्ली चूहों की—ऐसा ब्राह्मण-ब्रु व, ब्राह्मण बनने वाला, बिलैया-भगत कहलाता है। सदा आँख नीची किये हुए, नीच काम करने और धोखा देने वाला, सदा स्वार्थ ही के साधने में लगा, शठ, ऊपर से बहुत नम्रता दिखाने वाला, जैसे बगुला, वह बगुला-भगत कहाता है। ऐसों को दाता, ऐसा प्रतिग्रहीता, दोनो का नरक में पड़ना अपरिहार्य ही है, तथा इस से 'राक्षसों' की वृद्धि होती है; दुष्ट मनुष्य बढ़ते हैं। चाहे मूर्खता से ही, जो कोई, बिना जाँचे-समझे, पाप को छिपाये हुए और सज्जन का वेष धारण किये हुए पापी का भरण-पोषण करेगा, वह प्रत्यक्ष ही देश में पापाचार को बढ़ावैगा, फैलावैगा; जिस का फल 'राक्षसों' और दुष्टों की वृद्धि और सब के लिये नरक, तरह-तरह का दुःख।'

ऐसी ही घोर निन्दा दुष्ट क्षत्रिय की, राजा की, की है।

> दंडो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चऽकृतात्मभिः;
> धर्माद् विचलितं हंति नृपमेव स-बान्धवम्।
> तस्य आहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्,
> समीक्ष्यकारिणं, प्राज्ञं, धर्मकामार्थकोविदम्।
> तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणऽभिवर्धते;
> कामात्मा विषमः क्षुद्रो दंडेनैव निहन्यते।
> अदंड्यान् दंडयन् राजा, दंड्यांश्चैवाप्यदंडयन्,
> अयशो महदाप्नोति, नरकं चाधिगच्छति।
> यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्य उच्छास्त्रवर्त्तिनः,
> स याति नरकान् ई(इ) मान् पर्यायेण एकविंशतिम्।
> दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः,
> तेन तुल्यः स्मृतो राजा (पापी), घोरस्तस्य परिग्रहः।
> (मनु०)

'दंडनशक्ति, प्रबल और तीक्ष्ण तेजःपुंज है; अकृतात्मा पुरुष, ऐसा राजा जिस ने सर्वव्यापी आत्मा का 'दर्शन' नहीं किया है, 'आन्वीक्षिकी' विद्या से आत्मा की प्रकृति का 'अन्वीक्षण' नहीं किया है; वह इस दंड-शक्ति का धारण और 'नयन', प्रयोग, उचित प्रकार से नहीं कर सकता है। यदि धर्म से यह शक्ति विचल जाय, हट जाय, तो बन्धु बान्धव समेत राजा ही का विनाश कर देती है। सत्यवादी, निष्पक्षपाती, धर्म-अर्थ-काम के तत्त्व को जानने वाला, प्रज्ञानवान्, सद्विवेक से काम करने वाला ही राजपुरुष इस शक्ति का धारण प्रणयन करने के योग्य है। कामात्मा, विषमदर्शी, अन्यायी, क्षुद्रबुद्धि राजपुरुष उसी दंडशक्ति से मारा जाता है। जो राजपुरुष अदंडनीय को दंड देता है, और दंडनीय को दंड नहीं देता, वह बड़ा अयश, अपजस, बदनामी पाता है, और घोर नरक मे पड़ता है। जो राजा लोभी, पापी, राजधर्मशास्त्र के विरुद्ध आचरण करने वाला है, उस से दान दक्षिणा लेना महापाप है; ऐसा राजा तो दस हज़ार सूना, 'बूचड़-ख़ाना', 'क़स्साब-ख़ाना', चलाने वाले सौनिक, 'क़स्साब', 'बूचड़', के बराबर है; क्योंकि वह लाखों, करोरों, ग़रीब प्रजा को पीड़ा दे कर, उन से धन चूस कर, अपने ऐश में उड़ाता है, और तरह-तरह के महापाप करता है। ऐसे राजा से जो दान लेता है, वह साक्षात् ही उस के पापों की सहायता करता है; इस लिये, उस के साथ, इक्कीस-इक्कीस, एक के बाद एक, नरकों मे अवश्य पड़ता है।'

पाचवाँ अध्याय

दर्शन से पौराणिक रूपकों के गूढ़ अर्थों का दर्शन

पुराण के रूपकों का सच्चा अर्थ ज्योतिष आदि शास्त्रों के शब्दों मे व्याख्या कर के साधारण जनता को समझाना सिखाना चाहिये, जिस से उन का सज्ज्ञान सद्बुद्धि बढ़ै। सूर्य के चारो ओर सात (या दस या और अधिक) ग्रह जो घूम रहे हैं, और पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा जो घूम रहा है, यही देवों की पंक्ति अमृतपान कर रही है। 'विसिनोति, विशति, सर्वान् पदार्थान् इति विष्णुः',[१] सब पदार्थों मे पैठे हुए, सब को एक दूसरे से बाँधे हुए, सीये हुए, पारमात्मिक सर्वव्याप्त ज्ञान का ही नाम 'विष्णु' है; वही ज्ञान, वही सर्वशक्तिमान् चैतन्य, सौर सम्प्रदाय को चला रहा है, अमृत पिला रहा है। सूर्य और चन्द्रमा के बीच मे जब पृथ्वी आ जाती है, तब पृथ्वी की छाया, चन्द्रमा पर पड़ कर, उस को, अंशतः या पूर्णतः, छिपा देती है; अथवा जब सूर्य और पृथ्वी के बीच मे चन्द्रमा आ जाता है तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है; और पृथ्वी पर बसने वाले मनुष्यों की आँख से सूर्य अंशतः छिप जाता है; यही बच्चों को समझा देने के लिये, कहते हैं कि देवों की पंक्ति मे सूर्य और चन्द्रमा के बीच मे, अमृत पीने को, छल से, दैत्य आ बैठा, उस का सिर काटा गया, और वह सिर, तब से, सूर्य वा चन्द्रमा को

---

१ स्नु (ष्णु) प्रस्रवणे, to distil, ooze, drop; स्नुस् (ष्णुस्) अदने, आदाने, अदर्शने, to eat. to take, to disappear, to become invisible; स्नुह् (ष्णुह्) उद्गिरणे, to vomit; बूँद बूँद टपकना; खाना; लेना; लुप्त अदृश्य हो जाना; उगल देना; यह सब अर्थ भी स्नु, स्नु, स्नुह धातु के हैं।

निगलने का प्रयत्न किया करता है। बच्चे पूछा करते हैं, 'यह क्या है ?' 'ऐसा क्यों होता है ?', पर पूर्ण शास्त्रीय उत्तर समझ नहीं सकते; इस लिए ऐसे रूपक से उन को उत्तर देना उचित है, जो यदि सम्पूर्णतः सत्य नहीं हैं, तो सम्पूर्णतः मिथ्या भी नहीं है । जब बच्चा ज़रा सयाना हो, और सच्चा कार्य-कारण-भाव समझने की शक्ति उस के चित्त मे उदय हो, तब उस को तथ्य समझा देना ही धर्म है; इस के बाद भी उस को रूपक के अक्षरार्थ पर ही विश्वास दिलाते रहना, और यह डराना, कि यदि श्रद्धा नहीं करोगे तो नास्तिक होगे, और नरक मे जाओगे—ऐसा करना महा पाप है; असत्य का और अज्ञान का, मिथ्याज्ञान का, प्रचार कर के, भोले मनुष्यों का दम्भन वञ्चन करना है, ठगना है ।

ऐसे ही बहुतेरे रूपक इतिहास-पुराणो मे भरे हैं । यथा—(१) समुद्र मे 'अनंत' और 'शेष' नामक सहस्र फण वाले सर्प पर विष्णु का सोना; उन की नाभि से कमल का निकलना; उस कमल पर ब्रह्मा का उत्पन्न हो कर बैठना; विष्णु के कर्णमल से मधु-कैटभ दो असुरों का निकलना, और ब्रह्मा को खा जाने का यत्न करना, विष्णु का उन को मारना; इत्यादि । (२) गणेश का, पार्वती के स्वेद से, उत्पन्न होना; उन का नैसर्गिक सिर काटा जाना; उस के स्थान पर हाथी का सिर, सो भी एक दाँत का लगाया जाना; चूहे पर सवारी करना । (३) वृत्र नामक असुर की उत्पत्ति और उस के उपद्रव; वज्र की उत्पत्ति; सुरों के राजा इन्द्र का, ऐरावत हाथी पर सवार हो कर वृत्र को मारना; उस हत्या के पाप का, चार जीवसमुदायों मे, चार वरदान दे कर, बाँटना; पर्वतों के परों को, जिन के बल से वे पहिले उड़ते-फिरते थे, वज्र से काटना; (४) हिरण्याक्ष का, पृथ्वी को, समुद्र के भीतर डुबा देना; विष्णु का वराह रूप धारण करना, हिरण्याक्ष को मारना, पृथ्वी को उभारना; विष्णु के स्पर्श से, भूमि के गर्भ से, भौम अर्थात् मंगल नामक ग्रह (प्लानेट)[१] का उत्पन्न होना । (५) विंध्य पर्वत का इतना

१ Planet.

ऊँचा उठना कि सूर्य का मार्ग रुकने लगे; देवों की प्रार्थना पर, ब्रह्मा का उन से कहना कि अगस्त्य ऋषि से कहो, क्योंकि वे विंध्य पर्वत के गुरू हैं; देवों की प्रार्थना पर, अगस्त्य का, जो पहिले उत्तर दिशा मे वास करते थे, दक्षिण को जाना; जब विंध्य पर्वत के पास आये तो विंध्य का साष्टांग दंडवत् प्रणाम करना और कहना कि जो आज्ञा कीजिये वह करूँ; अगस्त्य का आज्ञा देना कि जब तक मै दक्षिण से न लौटूँ तब तक तुम ऐसे ही पड़े रहना। (६) दैत्य-दानवों से पीड़ित हो कर, देवों का अगस्त्य से प्रार्थना करना, कि आप समुद्र को पी जाइये, तो इन्द्र इन दैत्य दानवों को मार सकें, जो समुद्र मे छिप जाया करते हैं; अगस्त्य का समुद्र को पी जाना; इन्द्र का दैत्य दानवों को मारना; पीछे मूत्र-रूप से समुद्र के जल का विसर्जन होना और जल का क्षार हो जाना। (७) सूर्य की पत्नी 'संज्ञा' का, सूर्य के ताप से तप्त हो कर, अपनी प्रतिरूप 'छाया-संज्ञा' को अपने स्थान पर गृह मे रख कर, 'अश्विनी' के रूप से पृथ्वी पर छिप कर तपस्या करना; संज्ञा के पुत्र 'यम' से और 'छाया-संज्ञा' से कलह होना; छाया-संज्ञा का यम को शाप देना कि तू ने मुझ को पैर से मारने की धमकी दी; इस लिए तेरे पैर मे कृमि पड़ जायँ, और तू लँगड़ा हो जाय; यम के रोने और शिकायत करने पर सूर्य को पता लगना कि यह असली संज्ञा नहीं है; सच्ची संज्ञा की खोज मे जाना; अश्व का रूप धरना, दो अश्विनी-कुमारों की उत्पत्ति होना; उन दोनो का देव वैद्य होना। (८) शतानन्द ऋषि के शाप से उन की पत्नी अहल्या का पाषाण हो जाना, इन्द्र को सहस्र व्रण हो जाना, चन्द्रमा को क्षय रोग हो जाना; ऋषि से आराधना करने पर, व्रणो के स्थान मे नेत्र हो जाना; और चन्द्रमा का, एक पक्ष मे क्षय के बाद दूसरे पक्ष में पुनः वृद्धि होना; रामचन्द्र के पैर के स्पर्श से अहल्या का पुनः सजीव हो जाना। (९) समुद्र का मथा जाना; मन्दर पर्वत मथानी, वासुकी सर्प मन्थन रज्जु (नेत्र, नेती, घोरनी, मथने की रस्सी) एक ओर देव, दूसरी ओर दैत्य, खींचने वाले; पहिले हलाहल विष का

निकलना, फिर चौदह रत्न जिन मे अमृत भी, वारुणी शराब भी; इत्यादि। (१०) स्वायंभुव मनु के पुत्र महाराज प्रियव्रत का रथ पर चढ़ कर, सात बेर पृथ्वी की परिक्रमा करना; रथ के पहियों के धँसने से सात द्वीप और सात समुद्र बन जाना। (११) कश्यप महर्षि के तेरह पत्नियों से तेरह जाति के जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होना; उन पत्नियों में दो, गरुड़ की माता विनता, और सर्पों की माता कद्रू, में पण (बाज़ी) लगना—'सूर्य के घोड़े उच्चैःश्रवा की गर्दन और पूँछ के बाल काले हैं या श्वेत'; काले सर्पों से घोड़े की गर्दन और पूँछ ढकवा कर, कद्रू का दाँव जीतना, और विनता का उस की दासी हो जाना ; यदि अमृत का घड़ा गरुड़ ला दे तो विनता दासीत्व से मुक्त की जाय—ऐसा कद्रु का कहना; हज़ार दाँत के ज्वालामय, अति वेग से घूमते हुए, चक्र के बीच मे से, अपने महाबली पक्षों और चंचु के प्रभाव से, गरुड़ का उस अमृत के घड़े को लाना; कद्रू के हाथ में रखना; कद्रू का उस को दर्भ-घास की चटाई पर सर्पों के लिए रखना; इन्द्र का झपट कर घड़े को उठा ले जाना; सर्पों की जिह्वा का, धारदार दर्भों के चाटने से कट कर, दोहरी हो जाना; इत्यादि। (१२) ब्रह्माण्ड के बीच मे सोने का मेरु पर्वत; उस पर तेंतीस मुख्य और तेंतीस कोटि अवान्तर, देवों का वास; उस के शिखर पर, 'हिम-आलय' मे, 'कैलास' पर, शिव का स्थान; उन की पत्नी पार्वती; सिर पर से 'गंगा' का प्रवाह, जो आगे चल के, 'त्रिवेणी' हो गई; उस जगत्पावनी गंगा पर 'अविमुक्त' क्षेत्र, काशी, की स्थिति; वहाँ शिव का 'अविमुक्त' निरन्तर निवास; उस काशी वाराणसी मे पहुँच कर जो जीव, शरीर त्याग के अनन्तर, 'ब्रह्मनाल' नामक वीथी (गली) से, 'मणिकर्णिका' तक पहुँचे उस को 'तारक' मन्त्र का उपदेश हो, और 'काश्यां मरणात् मुक्तिः', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', वह मोक्ष पावै। इत्यादि।

उदाहरण-रूपेण, बारह मुख्य रूपक ऊपर कहे। सैकड़ों अन्य मुख्य और गौण रूपक, ऐसे ही, इतिहास-पुराण मे भरे हैं। जो

थोड़ा भी विचार कर सकते हैं, उन के लिये स्पष्ट है कि यह सब आख्यान, किसी विशेष अभिप्राय से, बुद्धिपूर्वक, दीदः-व-दानिस्तः, रचे हुए हैं; स्वाभाविक, प्राकृतिक, इतिवृत्तों के वर्णन नहीं हैं। इन के अक्षरार्थ को वास्तविक मनवाने का यत्न करना, मूर्खता फैलाने वाला कपट और दम्भ है; तथा मान लेना, अंध-श्रद्धा और मूढ़-ग्राह है। पर सैकड़ों वर्षों से, भारतवर्ष मे, यही देख पड़ रहा है। एक ओर ऐसे छल कपट से, और दूसरी ओर ऐसी अंध श्रद्धा से, सद्बुद्धि, सज्ज्ञान, सद्भाव, सदिच्छा, सद्व्यवहार का कितना ह्रास हुआ है—यह भारत जनता की हीन-दीन दशा से, अधःपात से, ही प्रकट है। जब उत्तमांग-स्थानीय, धर्माधिकारी, धर्म-नेता, धर्म-व्याख्याता, किसी देश, किसी समाज, मे, राजस-तामस दुर्बुद्धि-दुःशील-दुश्चरित्र का नमूना सब के आगे रक्खैं, तो क्यों न जनता पर आपत्ति-विपत्ति आवै? यूरोप मे भी, तथा अन्य देशों मे भी, ऐसे ही कारणो से, जब पुरोहितों और राजाओं की, अर्थात् यूरोपीय ब्राह्मणो और क्षत्रियों की, बुद्धि भ्रष्ट हुई, तब बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं।

अविद्यायामंतरे वर्तमानाः, स्वयंधीराः, पंडितम्मन्यमानाः,
जंघन्यमानाः परियंति मूढ़ाः, अंधेनैव नीयमाना यथांधाः।
(कठ उपनिषत्)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता,
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ!, तामसी। (गीता)

'जब अन्धों के नेता भी अन्धे हों, अविद्या-ग्रस्त हों, पर स्वयं बड़े धीर-वीर पंडित होने का अभिमान करते हों, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते समझाते हों, तब नेता और नीत दोनो ही अवश्य नष्ट होंगे।'

रूपकों का अर्थ

ऊपर कहे हुए तथा अन्य रूपकों मे से कुछ के वैज्ञानिक, ऐति-

हासिक, आध्यात्मिक आदि व्याख्याओं का संकेत, किसी-किसी की पूरी व्याख्या, पुराण इतिहास निरुक्त आदि मे किया है; पर ऐसे कोनो मे, और ऐसे थोड़े मे, कि उन की ओर साधारण पाठक-पठक का ध्यान नहीं जाता ; और उन को ढूँढ़ निकालना, खलिहान मे सूई ढूँढ़ने के बराबर होता है। जिस प्राचीन काल मे यह रूपकमयी संकेत-भाषा प्रथित रही होगी, उस समय इन का समझना सहज रहा होगा ; जैसे आजकाल 'शार्ट-हैण्ड' जानने वालों को, या संस्कृत लिपि और भाषा जानने वालों को, या फ़ारसी लिपि और भाषा जानने वालों को, आपस मे, एक दूसरे का लिखना समझना सरल है; दूसरों को नहीं। अब वह संकेत-भाषा बहुत कुछ भूली जा चुकी है; जैसे प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों, इष्टकालेखों के 'हायरोग्लिफ़' 'क्यूनिफ़ार्म' अक्षर[1], 'खरोष्ठी' आदि लिपि, भूली हुई है; विशेषज्ञ ही उन का अर्थ, सो भी सर्वथा निश्चयेन नहीं, लगा सकते हैं। एक कठिनाई और है; निश्चयेन मतलबी स्वार्थी लोगों ने, इन पुराण-इतिहास स्मृति आदि ग्रन्थों मे, समय-समय पर, क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से ऐसे रूपकों का अर्थ करना दुस्साध्य हो रहा है। अध्यात्म-शास्त्र के दीपक के प्रकाश से, उस का विरोध न कर के, आधिदैविक, आधिभौतिक, पाश्चात्य, पौरस्त्य, वैज्ञानिक शास्त्रों की सहायता से, थोड़ा बहुत सूझ पड़े तो सम्भव है।[2]

कुछ रूपकों की व्याख्या, कहीं-कहीं, प्रसंगवश, अपने अन्य ग्रन्थों

१ Hieroglyph ; cuneiform.

२ इस रीति से वैदिक रूपकों का बुद्धिसंगत अर्थ करने का यत्न आर्यसमाज के विद्वानो ने आरम्भ किया है। श्री वासुदेवशरण के (जो पहिले मथुरा, लखनऊ, और दिल्ली मे सर्कारी म्युजियम के अधिष्ठता थे और अब काशी-विश्वविद्यालय मे अध्यापक हैं) लेख भी, इस विषय के, अच्छे हैं। सन् १९३७ मे, उन्हों ने, ऐसे लेखों का संग्रह, 'उपज्योति' के नाम से छपाया है। अच्छा ग्रन्थ है। सूक्ष्म बुद्धि, उत्कृष्ट भाव, वेदाभ्यास, प्राचीन-प्रतीचीन-ज्ञान से लिखा गया है।

मे, मै ने, यथाबुद्धि, करने का यत्न किया है; यद्यपि, अपनी बुद्धि और ज्ञान की न्यूनता के कारण, यह तो निश्चय है ही नहीं कि व्याख्या ठीक है; तथा यह निश्चय है कि यदि ठीक भी है, तो 'सर्वतः संप्लुतोदक' समुद्र मे से एक छोटे लोटे के इतना भी नहीं ग्रहण किया जा सका है। इस यत्न के समर्थन मे इतना ही कह सकता हूँ कि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों, और नवीन पाश्चात्य विद्वानो के ग्रन्थों, के अनुसार ही व्याख्या की कल्पना की है; 'नवीन', 'मौलिक', 'अपूर्व', कल्पना करने की शक्ति तो मेरे पास ज़र्रा बराबर, अणु तुल्य, भी नहीं है।

उदाहरण-रूप से, केवल सूचनार्थं, उक्त रूपकों मे से कुछ की व्याख्या, संक्षिप्त, यहाँ लिख कर संतोष करूँगा।

(१) पृ० ६५ पर, पहिले, ब्रह्मा शब्द का आध्यात्मिक दार्शनिक अर्थ, विस्तार से, कहा जा चुका है। जिस कमल पर ब्रह्मा का आसन है, उस का मार्मिक अर्थ यह है,

मानसस्य इह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता,
तस्यऽासनविधानार्थं पृथिवी पद्मम् उच्यते।
तस्मात्पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः,
अहंकार इति ख्यातः, सर्वभूतात्मभूतकृत्।
(म० भा०, शांतिपर्व, अ० १८०)

आकाश के कई नाम हैं, वरुण भी, समुद्र भी। 'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि' (वेद०) 'वरुण के, आकाश के, आश्चर्य अगाध हैं। इस आकाश-समुद्र मे, किरण ('कोरोना'[१]) सहित सूर्य, स्वयं, कमल-पुष्पवत्, (अथवा वटपत्रवत्, क्योंकि इस अनन्त समुद्र मे ऐसे पत्र और पुष्प, असंख्य, भरे हैं) प्लवमान हैं, तैर रहे हैं, उन के भीतर, उन के ऊपर, चेतनमय, 'आदित्यनारायण' 'नराणां अयनं', आदिशक्ति से उज्जीवित जीवों के बीज-समूह, लेटे हैं;

१ Corona.

ध्येयः सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती,
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।

उन के नाभि से, सूर्य-गोलक के मध्य से, कमल नाल के सदृश, आकर्षण-विकर्षण-शक्ति-रूपिणी 'रेखा', 'रश्मि', सात (वा दस वा अधिक) निकलती हैं; उन मे से एक एक के सिरे पर, एक एक ग्रह (प्लानेट'[1]) विद्यमान हैं; उन ग्रहों मे से एक पृथ्वी है; इस को भी पद्म कमल, कहते हैं; और वास्तव मे आधुनिक स्थलमयी पृथ्वी, जलमय समुद्र के तल पर, पत्र फैला कर उलटे रखे हुए कमल के सदृश है; उत्तरी ध्रुव मे उन कमल-पत्रों का मध्य अथवा नाभि है; महाद्वीप, एशिया, यूरोपाफ्रिका, अमेरिका आदि उस कमल के पत्र हैं; बड़े-बड़े अन्तरीप, ('केप'), यथा 'केप कामोरिन' (कन्याकुमारी), 'केप आफ़ गुड होप', 'केप हार्न' आदि, उन पत्रों के नोके-टोंके, 'एपेक्स''[2] हैं; पृथ्वी के जीव-जन्तुओं की, चेतनाओं की, बुद्धियों की, 'अहंकारों' 'अहंभावों' की, समष्टि का नाम, पृथ्वी-नामक ब्रह्म-के-अंड ब्रह्मांड की सूत्रात्मा का नाम, पार्थिव 'ब्रह्मा' है; इन ब्रह्मा की आसन-रूप, क्रीड़ास्थली, विकास-संकोच भूमि, विस्तार-निस्तार-स्थान, जो यह पृथ्वी है, उसी को पद्म कहते हैं; 'पृथिवी पद्ममुच्यते'। जल के गोले पर, कमल को उलट कर, पत्र फैला कर, रख दो, तो 'ग्लोब' का रूप झट देख पड़ जाता है। जल को चिपटा फैला कर, उस मे से कमल की नाल ऊँची निकाल कर, उस के ऊपर, आकाश की ओर उस का मुख कर के, कमल के पत्ते खिला दो, तो 'रूपक' बिलकुल बिगड़ जाता है।

ऐसे ही, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त से समाज संस्कृत परिष्कृत होता है, बनता है; 'जन्मना वर्णः' से सर्वथा 'विकृत' होता है, 'बिगड़' जाता है।

---

१ Planet.

२ Cape; Cape Comorin; Cape of Good Hope; Cape Horn; apex.

(सर्वार्थान् कुरुते बुद्धिर् विपरीतांस्तु तामसी ।)

'तामसी बुद्धि सब अर्थों को विपरीत कर डालती है ।'

षड्भागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः ।

(शुक्रनीति)

'अपनी कमाई मे से छठाँ हिस्सा दे कर, प्रजा ने राजा को अपना नौकर, चौकीदार, पहरुआ, रक्षा के लिए बनाया'; वह नौकर अपने को स्वामी समझने लगा; रक्षक से भक्षक बन गया; ख़ादिम से हाकिम हो गया; सारी हवा उलट-पलट गइ । ऐसे ही विद्वान् ब्राह्मण को, दान-मान दे कर, प्रजा ने गुरु बनाया; उस की बुद्धि ऐसी विपरीत हुई कि,

गुरवो बहवः संति शिष्यवित्तापहारकाः;
विरलाः गुरवस्ते ये शिष्यहृत्तापहारकाः ।

'शिष्य के वित्त का, धन का, अपहरण करने वाले, ठगने वाले, 'गुरु' तो देश मे भर गये हैं; शिष्य के हृदय-ताप का, मानस शारीर दुःखों का, अपहरण निवारण करने वाले गुरु देख नहीं पड़ते ।' यही कथा धनिकों की, 'वैश्यों' की, बुद्धि की विपरीतता की है; जो लक्षपति हैं वे कोटिपति होना चाहते हैं, आश्रित सेवक वर्ग और प्रजा का, पर्याप्त मात्रा मे, उचित प्रकारों से, अन्न वस्त्र से, भरण नहीं करते । ऐसे ही, 'सेवक' 'सहायक' 'शूद्र' वर्ग भी, 'द्विजों' के धर्मभ्रंश से, अपने धर्म-कर्म से भ्रष्ट हो रहा है, धारक के स्थान मे मारक हो रहा है । यह प्रसंगतः ।

आकाश समुद्र मे 'अनंत-शेष' नामक महासर्प, असंख्य 'मंडल' (गेंडुरी) बाँधे हुए, प्रत्यक्ष ही फैला है । आध्यात्मिक दृष्टि से यह चैतन्य की 'शक्ति' है, जो सब ब्रह्माण्डों को, तारों को ('आर्ब्ज़ आफ़ हेवन' को)[१] सर्प के मण्डलों, आवेष्टनो, के आकार मे सतत घुमा रही है । ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से 'मिल्की-वे'[२], 'देवपथ', 'आकाश-गंगा',

१ Orbs of heaven.
२ Milky way.

का भी रूप महासर्प का सा है, उसी के हजारों फणों, मण्डलों, आवर्त्तों चक्रों, मे से एक के सिर पर रक्खा हुआ, उसी का एक अणु, हम लोगों का सौर-जगत् है । 'शेष' इस लिये कि, असंख्य बेर सृष्टि-स्थिति लय होते ही रहते हैं; विद्यमान सृष्टि से पूर्व जो सृष्टि विगत कल्प वा महाकल्प मे हुई थी, उसी के 'शिष्ट' 'शेष', बचे हुए, प्राकृतिक तत्त्वों भूतों से यह नई सृष्टि बनी है। इसी हेतु से 'मनुः सप्तर्षयः चैव', 'शिष्ट' कहलाते हैं; पूर्व कल्प से 'अवशिष्ट' टहर गये हैं; इस कल्प के मानव जीवों को 'शिष्ट आचार' की शिक्षा देने के लिये, उन को चतुः-पुरुषार्थ के साधन का उपाय बताने के लिये; जैसे पुरानी पुश्त, नई पुश्त को, पाल-पोस कर, लिखा-पढ़ा कर, जीविका का उपाय बता कर, रोज़-गार मे लगा कर, अपने पैरों पर खड़ा कर, स्वावलम्बी स्वाधीन स्वतन्त्र बना कर, तब, स्वयं आराम विश्राम करने के लिये, पर-लोक को चली जाती है; जब तक नई पुश्त ऐसी पुष्ट नहीं हो जाती, तब तक पुरानी पुश्त 'ठहरी' रहती है, 'शिष्ट' रहती है । तथा इस लिये भी 'शेष' कि महाप्रलयों मे भी आकाशरूपी समुद्र मे प्रधान-मूलप्रकृति रूपी अन्त-रहित 'अनन्त' 'शेष' रह ही जाता है, बचा ही रहता है, तथा काल-प्रवाहरूपी गरुड़, दिन-रात रूपी दो पक्षों से सदा उड़ता हुआ, छोटे-छोटे सब सर्परूपी कुण्डलित चक्रवत् युगों को खा लेता है, पर अनन्त शेष को नहीं खा सकता है ।

'मधु-कैटभ' की कथा, दुर्गासप्तशती मे एक प्रकार से कही है; महाभारत, शांतिपर्व, अ० ३५७ मे, दूसरे प्रकार से । रूपक ही तो हैं, भिन्न ग्रन्थों मे, घटा-बढ़ा कर, प्रकार के भेद से विविध रूप से कहे गये हैं। 'मधु' का अर्थ तमस्, और कैटभ का रजस्, महाभारत के उक्त स्थान मे कहा है। 'विष्णु' के 'कर्ण' के 'मल' से, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी आकाश-तत्त्व के विकार से, ये राजस तामस भाव अधिक बढ़े; ब्रह्मा के सात्त्विक, ज्ञानमय, वेदों को, उन्होंने छीन लिया, और 'ब्रह्मा' का, बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व का, नाश करने को उद्यत हुए। तब 'विष्णु'

ने, सत्त्व-प्रधान देव ने, बहुत वर्षों तक उन दोनो से युद्ध कर के, उन को, अपने 'जघन' जाँघ पर, 'जहाँ पानी नही था' मारा, पानी अर्थात् रस, रस-बुद्धि, लोभ, तृष्णा, अविद्या, जहाँ ही काम का मुख्य स्थान है, उसी को जब शुद्ध सात्त्विक ज्ञान से शुष्क रसहीन कर ले तभी अविद्या पर जय होगी। पुनः सत्त्व का, ज्ञान का, उदय हुआ; ब्रह्मा की विधि-विधानात्मक, क़ायदा मर्यादा से बाँधी, सृष्टि का सम्भव हुआ इत्यादि। और भी अन्य स्थान मे मधु को काम अथवा राग और कैटभ को क्रोध अथवा द्वेष कहा है, जो ही अविद्या के प्रत्यक्ष रूप हैं।

'बायालोजी', 'प्राणिविद्या', की दृष्टि से, पृथ्वी के आदिकाल मे, लाखों वर्ष पूर्व, जब जन्तुओं की सृष्टि का युग आया, तब बड़े-बड़े, सौ-सौ और डेढ़-डेढ़ सौ फुट लम्बे, राजस तामस जन्तु ('सारियन्स')[१] उत्पन्न हुये। उस समय, पृथ्वी का तल, अधिकांश जल से आर्द्र, गीला, कीचड़ के ऐसा था। 'सलिलेन परिप्लुता'। लाखों वर्ष मे, पृथ्वीतल अंशतः शुष्क और घन हुआ; प्राचीन भयंकर 'दैत्यदानव' प्राणी धीरे-धीरे नष्ट हुए; क्रमशः सत्त्वाधिक मनुष्यों की उत्पत्ति का युग आया। इत्यादि।

(२) गणेश के रूपक का अर्थ, 'समन्वय' नामक ग्रन्थ के पहिले अध्याय मे मै ने विस्तार से करने का यत्न किया है; और उस से सम्बद्ध कुछ अन्य रूपकों का भी।

(३) वृत्रासुर की कहानी, वर्षा ऋतु का रूपक है। यास्क ने 'निरुक्त' मे ही ऐसा स्पष्ट कहा है। पर, ऐसा जान पड़ता है कि यास्क के समय मे वह सब ज्ञान भारत से लुप्त हो चुका था जो, इस सम्बन्ध मे, अब पाश्चात्य विज्ञान ने पुनर्वार खोज निकाला है। यह रूपक प्रति वर्ष की वर्षा का तो है ही; पर पृथ्वी पर जब वर्षा का प्रथम वार आरम्भ हुआ, प्रायः उस का भी है। पाश्चात्य 'भूगर्भशास्त्र'

---

१ Saurians.

('जियॉलोजी')[१] बताता है कि, पूर्व युग मे, लाखों बल्कि करोरों वर्ष पहिले, जब जल-स्थल का, समुद्रों और द्वीपों का, ऐसा विवेक और पार्थक्य नहीं था जैसा अब है, तब 'कार्बोनिक ऐसिड गैस'[२] के बड़े-बड़े बादल, पर्वताकार, उड़ते रहते थे। इस को पौराणिक रूपक मे यों कहा है कि पर्वतों के पक्ष थे, पर थे। फिर जल और स्थल का पार्थक्य होने लगा। उस युग मे प्राणियों के रूप दूसरे थे; और उस के पीछे, क्रमशः वृक्षों, पशुओं, मनुष्यों के रूप मे बहुत परिवर्तन हुआ—इसका वर्णन मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत कर के, नये समय के अंग्रेज़ी शब्दों मे मै ने अन्यत्र किया है[३]। क्रमशः, जल समुद्रों मे एकत्र हुआ। सूर्य के ताप से भाफ उठ कर वर्षा का आरंम्भ हुआ। पहिले, हवा मे, 'वृत्र-असुर' रूपिणी भाप इतनी भरी कि देवताओं का, अन्य प्राकृतिक शक्तियों का, काम रुकने लगा। आज-काल कल के कारख़ानो के 'एंजिनो' से धूँए के बादल निकल कर, आस-पास की आदमियों की बस्ती को कितनी तकलीफ़ देते हैं, यह इस का प्रत्यक्ष नमूना है। 'इन्द्र' ने 'वज्र' से, बिजली से, भाफ को मारा, वह मर कर जल के रूप से पृथ्वी पर बह चली। 'इंद्र' के 'हाथी' का नाम 'ऐरावत' है; 'इराः आपः' इरा एक नाम जल का है; 'इरावान्' समुद्रः'। समुद्र से पैदा हुआ 'ऐरावत' भी एक प्रकार का मेघ ही है; 'वृत्र' दूसरे प्रकार का मेघ है। पाश्चात्य विज्ञान का कहना है कि 'पाज़िटिव' और 'नेगेटिव'[४] विद्युन् के सम्पात से, बिजली की ज्वाला, चमक, गरज, तड़प, आदि, उत्पन्न होते हैं। दधीचि ऋषि की हड्डी से इन्द्र का वज्र बना; इस का भी अवश्य कोई रहस्यार्थ होगा; यहां वैज्ञानिकों की गवेषणा का

---

१ Geology, (Gr. *gea*, the earth, *logos*, word)

२ Carbonic acid gas.

३ *The Science of Social Organisation, or the Laws of Manu* Vol. 1 ch. 2 तथा मानवधर्मसारः पृ० २८–३३०

४ Positive; negative.

प्रयोजन है; अस्थि मे कोई विद्युज्जनक तत्त्व होगा; 'फ़ास्फोरस'[1] तो होता है;उस मे चमक है; पर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विद्युत् से उस का सम्बन्ध तो स्यात् नहीं बताया है। वृत्र, असुर हो कर भी, त्वष्टा नामक 'देवर्षि' का 'मानसपुत्र' था; इस लिये इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी; (कहीं कथा के भेद से, वृत्र के बड़े भाई विश्वरूप के तीन सिर काट डालने से, इन्द्र को यह ब्रह्महत्या लगी, और वे तीन सिर तीन पक्षी हो गये, 'कपिंजल', 'कलविंक', और 'तित्तिरि', यह रूपक के भीतर रूपक है; और इसका कुछ और गूढ़ अर्थ होगा)। उस ब्रह्महत्या को, चार जीवों मे, चार वर-दान के बदले, 'इन्द्र' ने बाँट दिया। पृथ्वी ने एक हिस्सा पाप का लिया; इस से कहीं कहीं ऊसर हो जाती है; वरदान यह मिला कि खोदने से जो गड़े हो जायँ, वे भर जायँगे। जल ने एक भाग लिया; काई, फेन, मल, उतराने लगा; रत्न भी, और बहुविध बहु-मूल्य पदार्थ भी, और जीव-जन्तु भी होने लगे। वृक्षों ने एक हिस्सा लिया; निर्यास, गोंद रूपी मल बहने लगा; पर डाली कट जाने पर फिर से नई डाल पैदा होने लगी। स्त्रियों ने एक हिस्सा लिया; मासिक मलिनता होने लगी; पर 'नित्यकाम' का वर मिला। पुराण का संकेत प्रायः यह है कि वह मैथुनीय प्रकार, सन्तानोत्पत्ति का, जो अब देख पड़ता है, वर्षा-युग के आरम्भ से पहिले नहीं था। मार्कण्डेय आदि पुराणो मे, स्पष्ट शब्दों मे, दूसरे प्रकार, मानव-संतानन के, कहे हैं। यह 'नित्य-काम' उस समय मे तो चाहे 'वर-दान' हो, पर, मानव-जगत् की वर्त्तमान अवस्था मे तो 'शाप-दान' हो रहा है। मनुष्यों की संख्या की अतिवृद्धि से 'जीवन-संग्राम', 'स्ट्रगल फ़ार लाइफ़',[2] बहुत भीषण दारुण हो रहा है।

यह सब इतिवृत्त (जो भू-शास्त्र का विषय है) पृथ्वी के, और उस से सम्बद्ध पदार्थों और प्राणियों के, जीवन मे अवस्था के परिवर्त्तन का,

१ Phosphorus.

२ Struggle for life.

स्पष्ट ही वर्षा से सम्बन्ध रहता है । वर्षा से ही भूमि-तल में ऊषर और उर्वरा का भेद उत्पन्न होता है, और खातों की पूर्ति होने लगती है । जल बह कर निम्न स्थलों में एकत्र होता है । वृक्षों के व्रणों का अवरोपण होता है, ज़ख़्म भर जाते हैं, नई डालियाँ शाख़ें, शाखा, निकलती हैं । मानव-संसार में, पहिले, ऐसा अनुमान होता है, मासिक स्त्रीधर्म नहीं होता था; पुराणों में ऐसा संकेत है कि एक युग, अति प्राचीन काल में, ऐसा हो गया है जब स्त्री और पुरुष का भेद नहीं था, "अमैथुनाः प्रजाः पूर्वम्"; फिर एक ऐसा युग ('एज')[1] आया जिस में मनुष्य उभय-लिंग 'अर्धनारीश्वर' था; जैसा अब वृक्ष होते हैं; और कभी कदाचित् कोई कोई पशु, और मनुष्य भी, करोड़ों में एक, हो जाते हैं । इत्यादि ।[2]

आध्यात्मिक शिक्षा, इन कहानियों की यह है कि प्रत्येक गुण के साथ एक दोष लगा हुआ है, और हर दोष के साथ एक गुण ।

नात्यंतं गुणवत् किंचिन् , नात्यंतं दोषवत्तथा । (म० भा०)
हर कमाले रा ज़वाले, व हर ज़वाले रा कमाले ।
(फ़ारसी कहावत)

(४) हिरण्याक्ष की कथा, 'ऐस्ट्रॉनोमी' और 'जियॉलोजी',[3] ज्योतिष-शास्त्र और भू-शास्त्र, के इतिवृत्तों का रूपक जान पड़ता है । पाश्चात्य भू-शास्त्रियों का तर्क है कि किसी अति प्राचीन काल में, पृथ्वी में भारी उपप्लव, विप्लव, 'कैटाक्लिज़्म'[4], 'अधरोत्तर' हुआ, और एक बड़ा खण्ड टूट कर अलग हो गया; वही खण्ड क्रमशः चन्द्रमा बन कर पृथ्वी के आकर्षण से बँधा हुआ, पृथ्वी के चारो ओर, लाखों वर्ष से, परिक्रमा कर

१ Age.
२ 'पुरुषार्थ' नामक ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' नामक ४र्थ अध्याय में इस विषय पर विस्तार से लिखा है ।
३ Astronomy, geology.
४ Cataclysm.

रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक नाप-तौल का हिसाब लगाया है कि यदि चन्द्रमा का चूर्ण बना कर 'पैसिफ़िक' महासागर मे भरा जाय, तो उस का विशाल गर्त्त ठीक-ठीक भर जायगा। पौराणिक रूपक का संकेत यह है, कि पृथ्वी के शरीर मे भयंकर उत्पात हुआ; ऐतिहासिक दृष्टि से सम्भव है, कि उस समय मे, हिरण्याक्ष नाम का महासम्राट्, मानव-जगत् पर राज्य करता हो; एक महाद्वीप समुद्र मे डूब गया; दूसरा टूट कर आकाश मे मडराने लगा; क्रमशः गोल हो कर, 'भूमि' का, अर्थात् पृथ्वी का, पुत्र 'भौम' अर्थात् मंगल ग्रह (अंग्रेज़ी मे जिस को 'मार्स'[१] कहते हैं) बन गया। यह निश्चय करना, कि भूमि से चन्द्र निकला, अथवा मंगल निकला, व्हावैज्ञानिकों का, अथवा योग-सिद्ध सूक्ष्मदर्शी महर्षियों का, काम है। रहस्य-विद्या के अन्वेषी 'थियासोफ़ी' सम्प्रदाय के कुछ सज्जनो का तो यह मत है कि, पृथ्वी से चंद्रमा नहीं, प्रत्युत चन्द्रमा के शरीर से पृथ्वी के शरीर की उत्पत्ति हुई है; किन्तु उपलब्ध पुराणो मे इस का संकेत इस लेखक को नहीं मिला।

इस सम्बन्ध मे, पुराणो के एक अन्य रूपक की भी चर्चा कर देना अनुचित, न होगा। देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास, चन्द्रमा, विद्या-ग्रहण के लिए गये; उन की पत्नी तारा को ले कर भागे; 'संग्रामे तारकामये', 'दिवि-स्थित' देवों मे घोर संग्राम हुआ; अंत मे ब्रह्मा ने, चन्द्रमा से छीन कर, तारा को बृहस्पति के पास पुनः भेजा; चन्द्रमा से जो तारा को पुत्र हुआ, वह बुध, 'मर्क्युरी',[२] नाम का ग्रह हुआ; वह, एक बेर मानव-शरीर धारण कर, पृथ्वी पर आया; यहाँ उस का समागम, उभय-लिंग, अर्धनारी अर्धपुरुष, सूर्यवंशी इला-सुद्युम्न के साथ, उस मासार्ध मे हुआ, जिस समय 'इला' के शरीर मे स्त्री की अवस्था अधिक व्यक्त थी; इला को पुरूरवा नामक पुत्र हुआ; उस से सोम-वंश चला। कृष्णपक्ष-शुक्लपक्षात्मक चान्द्र मास से, स्त्रियों के आर्त्तव का सम्बन्ध तो

१ Mars.
२ Mercury.

प्रत्यक्ष ही है। इला-सुद्युम्न की कथा मे प्रायः इस का भी संकेत होगा। यह सब रूपक के भीतर रूपक, कथा के भीतर कथा, की अनन्त श्रृंखला है।

पाश्चात्य ज्योतिर्विदों का कहना है, कि बृहस्पति ग्रह के चारो ओर नौ चन्द्रमा घूमते हैं, जैसे अपनी पृथ्वी के चारो ओर एक ही; इन नौ मे से चार उतने बड़े हैं जितना इस पृथ्वी का चन्द्र; अन्य बहुत छोटे हैं। उन का कहना यह भी है, कि सौर जगत् की वर्तमान अवस्था, करोरों वर्ष तक आकाश मे बड़े-बड़े उथल-पथल, परस्पर की खींचातानी और तोड़-फोड़ के बाद स्थिर हुई है। उन मे से बहुतों का मत यह है कि आदि-काल मे, एक महा ज्योतिर्लिंग वा ज्योतिर्गोल' ('नेब्युला')[1] का प्रादुरभाव हुआ जो कोटियों योजन, चारो दिशा मे, तथा ऊपर-नीचे विस्तृत था; इस मे 'चक्र' के ऐसी गति उत्पन्न हुई, और भ्रमि के वेग से, उस से, टूट-टूट कर कई खंड उस के चारो ओर घूमने लगे, और क्रमशः अधिकाधिक घन हो कर, सप्त, नव, वा दश, वा और अधिक, ग्रह बने। इस मूल तर्क मे थोड़ा बहुत परिवर्त्तन किया गया है, पर अधिकांश अब भी पश्चिम मे यही माना जाता है। इस विचार से, पौराणिक रूपक की संगति होती है। उस आदि-काल मे जब 'तारका-मय' संग्राम हो रहा था, संभव है कि पृथ्वी के चंद्र, वा किसी अन्य 'देव' ने', अर्तात् स्वर्ग-आकाश के 'गोलक' ने, 'ब्रह्म के अंड' ने', बृहस्पति के नौ चन्द्र-ताराओं मे से किसी एक को अपने आकर्षण के भीतर खींच लिया हो, और उन के टकराने से, एक टुकड़ा टूट कर 'बुध' बन गया हो, इत्यादि। बाद मे, बुध से कुछ 'जीव', इस पृथ्वी पर, 'सूक्ष्म शरीर' मे, आये हों, और यहाँ के मानव गर्भों मे प्रविष्ट हुए हों; जैसे, सैकड़ों वर्षों से, मनुष्य स्त्री-पुरुष, पृथ्वी के एक देश को छोड़ कर, दूसरे देश मे जा बसते हैं; अमेरिका की वर्त्तमान वस्ती सब, यूरोप के

१ Nebula.

देशों से गये हुए 'एमिग्रान्ट्स',[१] प्रवासियों, से ही बसी हुई है।

(५) १५ जनवरी, सन् १९३४ को, भारत मे, बिहार प्रान्त में, तथा नेपाल मे, भारी भूकम्प हुआ; कितने शहर और ग्राम बरबाद हो गये, उस प्रान्त के पृथ्वीतल का रूप बदल गया, बीसियों हजार मनुष्य, पाँच-सात मिनट के भीतर-भीतर मर गये। उस के बाद पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने तथा भारतीय ज्योतिषियों ने अपने-अपने शास्त्र के अनुसार, कारणो का अनुमान किया और पत्रों मे छपाया। अन्य बातों के साथ, पाश्चात्यों ने यह लिखा कि हिमालय पर्वत धीरे-धीरे ऊँचा होता जाता है। पृथ्वी के तल मे स्थिरता नहीं है, कुछ न कुछ गति होती रहती है कहीं ऊँचा कहीं नीचा होता रहता है; यथा, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद, द्वारका समुद्र मे डूब गई। भागवत मे कृष्ण के मुख से कहलाया है कि, पृथ्वी पर से मेरे चले जाने के बाद, द्वारका को समुद्र निगल जायगा।'[२]

द्वारकां तु मया त्यक्तां समुद्रः प्लावयिष्यति। (भागवत)

पर बम्बई के नीचे का तीर ऊँचा हो रहा है। पौराणिक रूपक है कि परशुराम ने 'समुद्र से भूमि माग कर' अपना आश्रम बसाया, और नये ब्राह्मण बनाये; क्योंकि पुराने ब्राह्मणोने उन को पृथ्वी छोड़ देने को कहा, जिन्ही ब्राह्मणो के उपकार के लिये उन्हों ने प्रजापीड़क, उद्दण्ड प्रचंड, दुर्दान्त क्षत्रिय राजाओं का, अन्य तीन वर्णों की सेना बना कर दमन किया था। इस के विपरीत भारत का पूर्वीय तीर डूबता जाता है। विशाखपत्तन नगर मे विशाख (अर्थात् स्वामिकार्तिक, कार्तिकेय, साम्ब, षण्मुख) का विशाल मन्दिर, जो पहाड़ी ढार पर ऐन समुद्र के

---

१ Emigrants.

२ इसके एक वर्ष पीछे, क्वेटा मे भारी भूकंप हुआ, पर उस मे मनुष्य नहीं मरे; पुनः १९५० मे आसाम और आसपास के प्रांतों मे वैसा ही भीषण भूकम्प हुआ जैसा बिहार मे हुआ था।

किनारे बना था, वह अब समुद्र के जल के भीतर चला गया है; सारा पहाड़, क्या सारा तीर, धीरे धीरे धँस रहा है।

ऐसे ही कोई समय ऐसा था जब विन्ध्य पर्वत उठ रहा था; उस समय अगस्त्य का तारा उत्तर मे था। पाश्चात्य ज्योतिषियों का कहना है, कि पृथ्वी की दो ही गति नहीं है अर्थात् अपने अक्ष पर घूमना, और सूर्य के चारो ओर घूमना; अपि तु ग्यारह या तेरह गतियाँ हैं; अक्ष भी अपना स्थान कई प्रकार से बदलता रहता है; इस लिये ध्रुव तारा भी बदलते रहते हैं; जो तारा अब उत्तरी ध्रुव तारा है वह पन्द्रह हजार वर्ष पहिले ध्रुव तारा नहीं था, दूसरा था; पौराणिक कथा है कि 'उत्तानपाद' के पुत्र 'ध्रुव' को, विष्णु ने वरदान दे कर, ध्रुव का स्थान दिया; उन की पत्नी का नाम 'भ्रमिः', (अर्थात् चक्कर खाना, गोल घूमना); उन के पुत्र 'कल्प' और 'वत्सर', इत्यादि। इन नामो से स्पष्ट देख पड़ता है कि यह कथा ज्योतिष का रूपक है। ध्रुव की कथा (भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय ९) मे यह भी कहा है कि, 'षट्त्रिंशद् वर्षसाहस्रं', छत्तीस सहस्र वर्ष तक ध्रुव का राज्य रहेगा, अर्थात् इतने वर्ष के युग के बाद अक्ष का स्थान बदलेगा, और कोई दूसरे तारा की ओर उत्तरी कोटि, अक्ष की, वेध करेगी। अक्ष के स्थान मे यहाँ तक परिवर्तन होता है कि उत्तरी ध्रुव दक्षिणी, और दक्षिणी ध्रुव उत्तरी, हो जाता है, जैसे शीर्षासन मे मनुष्य का शिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इस पूर्ण परिवर्तन मे, लाखों, अथवा, करोरों वर्ष लगते हैं; इस के सिवा, अक्ष, लट्टू के ऐसा झूमता भी है, (अंग्रेज़ी मे इसे 'प्रिसेशन' कहते हैं)[१]। जब-जब अक्ष के स्थान मे, विशेष और सद्यः परिवर्तन होता है तब-तब पृथ्वी तल पर विशेष उत्पात अधःपात होते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि एक समय मे ऐसा ही परिवर्तन हुआ; अगस्त्य का तारा जो पहिले उत्तर मे देख पड़ता था दक्षिण मे आ गया, उसी समय विन्ध्य पर्वत लौट गया, और पृथ्वीतल का रूप ही बदल

१ Precession.

गया। आश्चर्य नहीं कि पश्चिम के भू-शास्त्रियों के 'गोंडवाना लैंड' की कथा इस पौराणिक विंध्य पर्वत की कथा से सम्बन्ध रखती हो। 'जिया-लोजी', भू-शास्त्र, मे कहे 'आइस एज', 'ग्लेशल एज' 'हिम-युग', आदि मे 'उष्णकटिबन्ध, 'टारिड ज़ोन', के स्थान मे शीतकटिबन्ध, 'आर्क्‌टिक ज़ोन'[1], के परिवर्तन मे, और इस के विपरीत परिवर्तन मे भी, अक्ष का स्थान-परिवर्तन ही कारण होता है।

महाभारत के कर्ण पर्व मे दो श्लोक आये हैं, जिन का अक्षरार्थ ठीक नहीं बैठता। कर्ण का एक अति घोर घातक बाण, अर्जुन की ओर आते देख कर, रथ के पहिये को सारथिभूत कृष्ण ने, इस ज़ोर से, बल से, पैर के आघात से दबाया कि वह 'पाँच अंगुल' ज़मीन मे धँस गया।

रथस्य चक्रं सहसा निपीड्य, पंचांगुलं मज्जयति स्म वीरः।

इस का फल यह हुआ, कि तीर अर्जुन के गले मे न लग कर, मुकुट मे लगा और मुकुट गिर गया। श्री कृष्ण ने पहिये को फिर निकाल लिया; इस के बाद, पृथ्वी ने कर्ण के रथ के पहिये को ग्रस लिया; कर्ण ने रथ से उतर कर, पहिया पकड़ कर, इस बल से उभारा, कि सातो द्वीपों सहित, शैल-वन-कानन समेत, पृथ्वी चार अंगुल उठ गई, पर पहिया न छूटा।

सप्तद्वीपा वसुमती, सशैलवनकानना,
गीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता, कर्णेन, चतुरंगुलम्।

स्पष्ट ही यह कथानक असम्भाव्य, किमुत प्रहसन, यथा पश्चिम की, 'बेरन मंचासेन के पराक्रम' नाम की बालकों को हँसाने की एक कहानी मे लिखा है, कि एक समय यह वीर पुरुष घोड़े पर चलता हुआ सो गया; जब घोड़े की गति बन्द हो गई तो चौंक कर जागा; देखा कि दल-दल मे घोड़े के चारो पैर पेट तक धँस गये हैं; दोनो घुटनों से उस ने

१ Gondwana land; geology; ice age; glacial age; torrid zone; arctic zone.

घोड़े को ज़ोर से दाबा; गूँथी हुई अपनी मोटी चोटी ('पिग टेल')[१] को दाहिने हाथ से मज़बूत, कस के, पकड़ कर, भारी झटका ऊपर की तरफ़ दिया; घोड़ा और सवार, दोनो, दलदल से बाहर, मिस्ल 'फ़ुट-बाल' के जा गिरे, और चल दिये ! आप पृथ्वी पर खड़ा कर्ण सारी पृथ्वी को चार अंगुल उठा लेता है ! 'मंचासेन' की क्या ताब जो इस के आगे मुखड़ा दिखा सके । इस रूपक का अर्थ यों ही बैठता है, कि कर्ण और अर्जुन के युद्ध के समय, या तो अक्ष 'चार-पाँच अंगुल हिला', या और किसी कारण से (-भूकम्प के कई भिन्न-भिन्न कारण, वराह-मिहिर आदि ने भी और पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी बताये हैं-) भूकम्प हुआ, भूमितल मे दरारें पड़ीं, और बन्द हो गईं; जैसा भूकम्पों मे अक्सर देखा जाता है, और बिहार के १५-१-१९३४ ई० के भूकम्प मे देखा गया; अर्जुन का पहिया तो निकल आया, और कर्ण का पहिया इस जोर से दरार के बन्द होने के समय उस मे पकड़ गया कि न निकल सका; और एक दूसरे के रुधिर के प्यासे, दोनो शूर वीर, ऐसे भूकम्प से भी कम्पित न हो कर लड़ते ही रहे जब तक कर्ण मारा नहीं गया ।

(६) अगस्त्य के प्रताप से समुद्र के सूख जाने और फिर भर जाने का भी व्याख्यान ऐसा ही जान पड़ता है । समुद्र के जल के क्षार होने के कारण के विषय मे पाश्चात्यों का मत है कि आदि से ही ऐसा है । पर उन का यह भी कहना है कि समुद्र के जल मे जो क्षार है वह ज्वालामुखी पर्वतों से निकले हुए 'क्लोराइड्ज़' और 'सल्फ़ेट्स'[२] से बहुत मिलता है । इस से अनुमान हो सकता है कि पौराणिक ऋषियों की दृष्टि मे, अगस्त्य के स्थान के परिवर्तन से सूचित, पृथ्वी के विशेष व्याकुल अंगविक्षेप अर्थात् भूकम्प विप्लव से स्फुटित, ज्वालामुखी पर्वतों मे से, जो समुद्र के भीतर भी हैं, निकले हुऐ क्षारों से, समुद्र का जल क्षार

१ Pig-tail.

२ Chlorides, sulphates.

हुआ हो; और इसी को उन्हों ने अगस्त्य के मूत्र द्वारा जल के विसर्जन के रूपक से कहा हो।

समुद्र के भीतर बड़वानल अग्नि की कथा पुराणो मे कही है, जो समुद्र के अथाह जल से भी नहीं बुझती; इस का भी संकेत, समुद्र के भीतर फूटने वाले, ज्वालामुखी पर्वतों से है; 'पैसिफ़िक' प्रशान्त सागर मे ये अधिक फूटते रहते हैं।

(७) अश्विनीकुमार की उत्पत्ति के रूपक की व्याख्या करने का यत्न, अन्यत्र, अंग्रेज़ी भाषा मे किया है[1]। यहाँ हिन्दी शब्दों मे उस का संक्षेप लिखता हूँ।

'संज्ञा' का अर्थ चेतना, 'होश', है। वह सूर्य की प्रकाशमय सर्व-सविता परमात्मा की,'पत्नी', सहधर्मिणी, किं वा नामांतर मात्र ही है। क्रमशः पृथ्वी पर, जीवत् शरीरों मे, 'प्राणियों' मे, (प्र-अनिति इति प्राणी, जो साँस ले), उस संज्ञा का अधिकार हुआ। संज्ञा का रूप 'अश्विनी' का हुआ। 'अश्नंति विषयान् इति अश्वाः,' वा 'आशु वहन्ति विषयान् प्रति जीवं, तथा जीवं प्रति च विषयान्, इति अश्वाः, इंद्रियाणि, 'इंद्रियाणि हयान् आहुः', (उपनिषत्); अश्वाः तिष्ठंति यस्मिन् सः अश्वत्थः।'

ऊर्ध्वमूलं अधःशाखमश्वत्थं प्राहुः अव्ययम्। (गीता)
ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः।
(कठ उपनिषत्)

ज्ञान और कर्म की इन्द्रियों को ही 'अश्व' कहते हैं। वे 'विषयों को 'अश्नंति', चखती हैं; वा विषयों को जीव के पास और जीव को विषयों के पास ले जाती हैं। यह इन्द्रियाँ जिस मे स्थित हों, उसी का नाम 'अश्विनी' भी, और 'अश्वत्थ' भी। इस 'अश्वत्थ' (वट) के पेड़ का

---

१ *The Science of Social Organisation or The Laws of Manu*, Vol 2, pp, 598-602.

विशेष यह है कि इस का मूल (जड़, मस्तिष्क, माथा) ऊपर होता है, और शाखा प्रशाखा (नाड़ियाँ) नीचे फैलती हैं। मानव शरीर का नाड़ी-सम्प्रदाय (नर्वस् सिस्टेम)[1] ही यह 'अश्वत्थ' है। अश्वत्थ से उपमा इस लिये दी कि वट-वृक्ष में भी 'बरोह' ऊपर से नीचे लटकती हैं। (अश्वत्थ का अर्थ पीपल भी किया जाता है; पर उस से उपमा ठीक नहीं बैठती, क्योंकि पीपल के पेड़ में 'बरोह' प्रायः नहीं देख पड़ती); इस अश्विनी की नासा से युग्म, जोड़ुआँ, दो कुमार, एक साथ पैदा हुए। इन का नाम 'नासत्य' और 'दस्र' पड़ा। दक्षिण और वाम नासिका के श्वास-प्रश्वास ही यह 'अश्विनी-कुमार' हैं। 'अश्विनी' की 'नासा' से उत्पन्न हुए, इस लिए नाम 'नासत्यौ' भी पड़ा। 'दस्रौ' भी; अलग-अलग, एक का नाम 'नासत्य', दहिनी नासा के श्वास-प्रश्वास का, दूसरे का नाम 'दस्र', बाईं नासा के श्वास-प्रश्वास का। 'दस्र' का अर्थ शीत भी है; 'हठ योग' की शिक्षा है कि, दक्षिण नासा 'सूर्य-नाड़ी', 'ठ', के श्वास-प्रश्वास से, शरीर में गर्मी, उष्णता, बढ़ती है; वाम नासा, चन्द्रनाड़ी 'ह', के श्वास-प्रश्वास से, ठंढ, शीतता, बढ़ती है। विविध प्रकारों से प्राण-अपान का आयमन, आयाम, प्राणायाम ही मुख्य 'ह-ठ-योग' है।

प्राणायामः परं बलम्।
प्राणायामैः दहेद् दोषान्।
प्राणायामः परं तपः। (मनु)

प्राणायाम के साधन से शरीर को सर्वोत्तम बल प्राप्त होता है, शरीर के सब दोष दूर हो जाते हैं, इस से बढ़ कर कोई तपस्या नहीं है।

प्राणायाम ही 'दैव-वैद्य' है, दिव्य औषध है, इस की विद्या ठीक-ठीक जिस को विदित हो, और इस का अभ्यास उस विद्या के अनुसार जो करै, उस को कोई रोग नहीं सता सकता। इत्यादि।

---

१ Nervous system.

अश्विनीकुमार के जन्म की कथा के साथ और भी कितनी ही सूक्ष्म सूक्ष्म बातें कही है, जिन का अर्थ लगाना अति कठिन हो रहा है। यथा, सूर्य को, 'मुख्य संज्ञा' से दो पुत्र, वैवस्वत मनु, यम, और एक कन्या, यमुना। 'छाया-संज्ञा' से दो पुत्र; भावी आठवें मनु 'सावर्णि' शनैश्चर (ग्रह), और एक कन्या तपती। वैवस्वत तो वर्तमान मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति हुए; यमुना, नदी के रूप मे पृथ्वी पर उतरीं; यम, प्रेतलोक के दंडधर नियत हुए; सावर्णि, आगामी मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति होंगे; शनैश्चर, ग्रहों मे रक्खे गये; तपती का विवाह, सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंशी महाराज संवरण के साथ हुआ। यम को 'छाया-संज्ञा' का शाप हुआ था; सूर्य ने, छाया-संज्ञा के बचन की मर्यादा रखने के लिये, इतना अंश उस का बचा रक्खा कि प्रति वर्ष, एक महीना, यम के पैर को कीड़े खाएँगे, और फिर वह पैर अच्छा हो जाया करैगा। इन सब कथाओं मे, मानव-इतिहास (ऐन्थ्रोपालोजी), प्राणिविद्या (बाया-लोजी) भू-शास्त्र (जियालोजी), तया ज्योतिःशास्त्र (ऐस्ट्रोनोमी), के भी रहस्य भरे हैं—ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[१] तथा, किसी युग, 'जियोलाजिकल एज', [२] मे, नासिका और श्वास से युक्त प्राणियों की उत्पत्ति पृथ्वी पर प्रथम-प्रथम हुई; नाड़ी-व्यूह का आविर्भाव शरीरों मे स्यात् तभी विशेष विस्पष्ट रूप से हुआ; सूक्ष्म कीटवत् जल-जन्तुओं मे, जो श्वास-प्रश्वास नहीं लेते, नाड़ीव्यूह नहीं देख पड़ता; तथा अन्य उन से कुछ थोड़ी उत्कृष्ट योनियों मे भी, जिन मे पंच इन्द्रियाँ व्यक्त नहीं हैं, कम ही है। जैसे शनैश्चर स्पष्ट ही एक ग्रह है, वैसे 'यम' भी स्यात् वह ग्रह हो सकता है जिस को पाश्चात्य विद्वान् 'वल्कन' कहते हैं, या वह जिस का नाम उन्हों ने 'प्लूटो' रक्खा है। ग्रीस देश के 'पुराण' ('मैथालोजी') मे 'वल्कन' एक देव का नाम है, और वह भी लँगड़े कहे हैं; परन्तु उन का कर्म वह कहा है, जो वैदिक पुराणो मे 'त्वष्टा

१ Anthropology; biology; geology; astronomy.

२ Geological age.

विश्वकर्मा' का बताया है, अर्थात् सब प्रकार की कारीगरी; और प्लूटो नामक देव को प्रेत-जीवों का राजा कहा है, और उन का स्थान पृथ्वी के भीतर महाविवर में बताया है। अब पाश्चात्य ज्योतिषियों ने, सन् १९३० में, एक नये ग्रह का पता लगाया है जिस का नाम उन्हों ने, ग्रीक पुराण से ले कर, 'प्लूटो' रक्खा है। यह । ग्रह बहुत छोटा है, और उस की चाल में कुछ विचित्रता भी है, जिस से उस को 'लँगड़ा' कहना सार्थ होता है। इत्यादि।[१]

(८) अहल्या के उपाख्यान का अर्थ लगाने का यत्न, 'पुरुषार्थ' नाम के ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' अध्याय में, मैं ने किया है। इस की कृषि-शास्त्रीय ('एग्रिकल्चरल्')[२] व्याख्या यह हो सकती है कि गौतम नामक पति, जो, यदि अपनी 'हल-योग्या' 'हल्या' भूमि की उचित रूप से कृषि करते तो 'सैकड़ों आनन्द' (शतानंद नामक पुत्र) उस से प्राप्त करते, उस को 'हल-रहिता' 'अ-हल्या' 'अकृष्टा' छोड़ कर चले गये; 'इन्द्र' ने, जो विद्युत्, जल, वर्षा के देव हैं, उस को भ्रष्ट कर दिया; वह अनुपजाऊ, पाषाणवत्, हो गई; जब राम जी ने उस को घूम फिर कर, पाद-चारण, 'पाद-स्पर्श', कर के, देखा, और उस का उचित प्रबन्ध किया, तब वह फिर चेतन हो उठी। आयुर्वेदीय ('मेडिकल') शिक्षा इस आख्यान से यह मिलती है कि व्यभिचार दोष से 'इन्द्र' को, राजा को, सहस्र व्रण वाला, उपदंश ('सिफ़िलिस') नामक भयंकर रोग हो गया, तथा चन्द्रमा को राजयक्ष्मा, क्षय ('थाइसिस');[३] ऋषि की आराधना करने से, उचित चिकित्सा करने से, रोग अच्छे हुए; पर चिन्ह और दोष कुछ न कुछ रही गये।

न एतादृशं अनायुष्यं यथा एतत् पारदारिकम्। (मनु)

---

१ Vulcan; Pluto; mythology.
२ Agricultural.
३ Medical, syphilis; phthisis.

'परदार-गमन के ऐसा आयुर्नाशक कोई दूसरा दुराचार नहीं'; इस से जो आधि-व्याधि उत्पन्न होते हैं, वह पुश्त-दर-पुश्त भयङ्कर रूप दिखाते हैं, तरह-तरह के उन्माद, तरह-तरह के कुष्ठ आदि चर्म रोग भी; और उस व्यापक उन्माद के कारण घोर प्रजा-विनाशक युद्ध भी। मनु ने कहा है कि पाप अपना फल दिये बिना नहीं रहता।

न हि एव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः;
यदि नाऽऽत्मनि, पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु, नप्तृषु।

'यदि स्वयं पाप करनेवाले पर नहीं, तो उस के लड़कों पर; नहीं तो नाती-पोतों पर'; व्यभिचार से उत्पन्न रोगों का ऐसा पीढ़ी पर पीढ़ी संचार प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है। 'बाइबल' मे भी यही बात कही है, कि पितरों के पाप का दण्ड, तीसरी चौथी पुश्त तक, उन की संतान को भोगना पड़ेगा। उन के पुण्य का फल, उत्तम शरीर, उत्तम बुद्धि, धन-संपत्ति आदि के रूप मे, भोगते हैं, तो पाप का फल, क्यों नहीं? अंततो गत्वा, प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण, अपना ही पूर्व-कर्म होता है। जिसी से अच्छे या बुरे कुल मे जन्म होता है, और अच्छा या बुरा शरीर, बुद्धि, आदि मिलती है।[१]

अध्यात्म-शास्त्र के उन अंगों की दृष्टि से, जिस को अब 'साइकिएट्री' और 'सैको-ऐनालिसिस' कहते हैं अर्थात् 'आधि-चिकित्सा', मनोरोग-चिकित्सा, इस कथा का यह अर्थ हो सकता है कि महासाध्वस ('शॉक') से, अहल्या स्त्री को, 'टेटनस' वा 'सिनकोपी'[२] के प्रकार की निःसंज्ञता, स्तब्धता, की बीमारी हो गई, जो रामचन्द्र के पदस्पर्श से, कोमल-सुख-स्पर्श से, 'मैग्नेटिक टच्' से, अच्छी हुई।[३] इत्यादि। कुमारिल ने 'तंत्र-

---

१ इस अनर्थ-परम्परा का सविस्तर निरूपण 'पुरुषार्थ' के चतुर्थ अध्याय 'कामाध्यात्म' मे किया है।

२ Psychiatry: psycho-analysis; shock; tetanus; syncope.

३ Magnetic touch.

वार्त्तिक' ग्रन्थ मे (जो जैमिनि-कृत मीमांसा-सूत्रों के शाबर भाष्य की टीका है) एक और प्रकार से इस रूपक का अर्थ लगाया है—इन्द्र अर्थात् राजा की सभा के सहस्र मंत्री और सदस्य ही उस की हज़ार आँख हैं।

(९) समुद्र-मंथन की कथा तो प्रायः स्पष्ट ही है। आकाश-समुद्र मे, द्वंद्वात्मक विरुद्ध शक्तियाँ, 'देव-दैत्य', 'मंदर' पर्वत ('मेटर', महाभूत-समूह) के द्वारा, मंथन कर रही हैं; 'चक्रवत्' वह 'मंदर' 'भ्रमता' है, घूमता है, एक बेर एक ओर, फिर उस के विरुद्ध दूसरी ओर; 'ऐक्शन' और 'रि-ऐक्शन', क्रिया-प्रतिक्रिया, के न्याय से। सर्प ही वेष्टनी, नेत्री, रस्सी से; अर्थात् संसार मे सब वस्तुओं की गति सर्प-मंडलाकार, कुंडलाकार, 'कुंडलिनी', (स्पाइरल' और 'साइक्लिकल') होती हैं; ऐसे विरोधी घर्षण से, 'संघर्ष' से, प्रतिस्पर्धा से, सब प्रकार के अनुभव उत्पन्न होते हैं; चौदह 'रत्नों' का नाम विशेष कर के बता दिया; एक-एक मे रहस्यार्थ भरा होगा।[१] संघर्ष से नेकी और बदी, भलाई और बुराई, पुण्य और पाप दोनो उत्पन्न होते हैं; एक नहीं तो दूसरा भी नहीं; यदि रत्न और अमृत पैदा हुए तो हलाहल विष और वारुणी और शराब भी। एक ही कुटुम्ब मे जब भाई भाई मे संघर्ष, झगड़ा, होता है, जिस से सब कुल के नाश का संभव होता है, तब दोनो ओर की शिकायतों को सुन कर, दोनो तरफ़ से गालियाँ खा कर, उस सब को पी जाने वाला, और दोनो के बीच शान्ति बनाये रखने वाला, जो कोई वृद्ध होता है वही शिव है।

(१०) प्रियव्रत के रथ के सात बेर घूमने से सात द्वीप, सात समुद्र, बन जाने का अर्थ माडम ब्लैवैट्स्की के महाग्रन्थ 'दी सीक्रेट डाक्ट्रिन्'[२] का आश्रय लिये बिना समझ मे नहीं आता; जैसे वेदान्त के ग्रन्थों, उपनिषदों, और पुराणो मे 'त्रिक' की (सर्वमेतत् त्रिवृत् त्रिवृत्)',

१ Matter; action reaction; spiral; cyclical.

२ Madame H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine*.

तथा 'पंच' की, (पंच ज्ञानेंद्रिय', पंच कर्मेंद्रिय, पंच महाभूत, पंच अंगुली, पंच प्राणोर्मि, 'पंच-स्रोताम्बु'; 'पंचपर्वा' अविद्या आदि की) महिमा कही है, वैसे 'सप्त' की भी, (सप्त ऋषयः, सप्त प्राणाः, सप्तार्चिषः, सप्त जिह्वाः, सप्त होमाः, सप्त लोकाः, सप्त द्वीपाः, सप्त समुद्राः प्रभृति)। एक परिपाटी, इस विषय के विचार की, यह है कि मानव-जीवों का समूह, प्रत्येक महा-मन्वंतर मे (मन्वंतर शब्द का अर्थ, दो मनुओं के बीच का, अन्तर का, काल—ऐसा कुछ विद्वान् करते हैं) सात बेर, सात महाजातियों मे ('रेसेज़' मे) जन्म लेता है। एक-एक महाजाति, एक-एक नये द्वीप मे, अधिकतर, अपने निर्दिष्ट युग, अर्थात् काल-परिमाण ('साइक्ल', 'पीरियड')[1] को भोगती है। प्रत्येक महाजाति मे अवान्तर सात-सात जातियाँ होती है। रामायण की कथा मे, जाम्बवान् ने कहा है कि 'जब मै जवान था, तब वामनावतार के समय मे, जब से वामन ने तीन क्रम, 'क़दम', बढ़ाये, तब से मै ने इक्कीस बार पृथ्वी की परिक्रमा कर ली; पर अब तो बूढ़ा हो गया, समुद्र पार न कर सकूँगा; इस लिये हनुमान् को ही समुद्र को तैर कर पार करना चाहिये'। इक्कीस बार परिक्रमा का भी अर्थ कुछ ऐसा ही होगा, कि एक विशेष जीव-समूह ने, ऋक्ष जाति की सूत्रात्मा ने, उतने काल मे इक्कीस बार जन्म लिया, इत्यादि। प्रियव्रत के रथ की परिक्रमा का अर्थ कुछ ऐसा ही अनुमान से जान पड़ता है। पाश्चात्य भू-शास्त्री भी कहते हैं कि पृथ्वी के महाद्वीप, समुद्र मे डूबते-उतराते रहते हैं; और पृथ्वी का स्थल-जल-सन्निवेश बदलता रहता है। ऊपर 'गौंडवाना-लैंड' की चर्चा की गई। पाश्चात्य वैज्ञानिक, इस का दूसरा नाम 'लेम्युरिया' बतलाते हैं। भारतवर्ष और अफ़्रीका का मध्यभाग इस मे शामिल था; 'इण्डियन ओशन' स्थलमय था। उस के टूट कर डूबने पर, नया सन्निवेश बना। तथा, सब से पुराना समुद्र 'पैसिफ़िक' है, उस के बाद 'इन्डियन ओशन', उस के बाद 'एटलांटिक ओशन'

१ Races; cycle; period.

बना। इत्यादि।[१] इन्हीं सात महाजातियों का सात महाद्वीपों में एक के बाद एक, जन्म लेने का रूपक, प्रियव्रत के रथ के सात बेर पृथ्वी की परिक्रमा करना और सात द्वीप और सात समुद्र बनना है।

(११) निरुक्त में कहा है, 'पश्यकः सूर्यः कश्यपो भवति'। सूर्य ही का नाम कश्यप है; सूर्य की विशेष शक्ति वा विभूति, पृथ्वी का अधिकारी देव बन कर, काश्यप 'ऋषि' कहलाई। 'अदिति', पृथ्वी का ही नाम है। 'दिति' आदि भी पृथ्वी के रूप हैं, अंश, 'आसपेक्ट' 'पहलू' हैं। इस प्रकार के तेरह 'अंशों' से, तेरह प्रकार के तेरह मूल 'जाति', 'आर्डर्स', के जीव उत्पन्न हुए। 'आदित्य' 'दैत्य', 'दानव', 'मानव', पशु, पक्षी, सर्प, जल-जन्तु आदि। यह सब 'बायॉलोजी', 'ज़ूऑलोजी', शास्त्रों के तथ्यों के रूपक है।[२]

विनता को प्रायः गरुड़ और अरुण की माता कहा है। अरुण, सूर्य के सारथी हैं; प्रातःकाल की रक्तिमा का नाम है। गरुड़, विष्णु के वाहन हैं; 'छंदोमयेन गरुड़ेन समुह्यमानः', ऐसा विष्णु का वर्णन किया है; वायु पुराण में कहा है कि 'विनता', छन्दों की माता है। कद्रू का अर्थ 'कुत्सित' भी है; 'सोम-रस रखने का भूरे रंग का पात्र' भी है; 'सर्पों की माता' भी है। गरुड़ पक्षी सर्पों को खा जाता है। महाकाल के प्रवाह की सूचना गरुड़ के महावेग और परमात्म-स्वरूप विष्णु के वाहनत्व से होती है; वैदिक छन्द विष्णु की स्तुति करते हैं; उन के सुप्रयोग से 'वैष्णवी' शक्ति का आवाहन हो सकता है, और मनुष्य को सहायता मिल सकती है। सर्प छोटे-छोटे 'मंडलाकार' 'कुण्डलित' 'साइक्ल'[३] युग हैं; उन को गरुड़रूपी महाकाल खा जाता है। कद्रू की इच्छा होती है कि 'सर्प' अमृत पी कर अमर हो जायँ; ना-समझ जीव चाहता है कि हमारा जन्ममरणधर्मा स्थूल शरीर ही अमर हो जाय; विनता

१ Gondwana land; Lemuria; Indian Ocean; Pacific Ocean; Atlantic Ocean.

२ Aspect; orders; biology; zoology.

३ Cycle.

को ठगने का यत्न करती है । 'सहस्रार चक्र' मे, ब्रह्मरंध्र मे, 'अमृत' का घड़ा रक्खा है; जो जीव, योग-साधना से, ब्रह्मरंध्र तक पहुँचता है आत्मा का स्वरूप, अपना स्वरूप, पहिचान लेता है, वह अमर हो जाता है; 'अमर हो जाता है' का अर्थ है, अपनी आत्मा की अमरता को पहिचान लेता है; 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्म भवति'; कोई नई अमरता उस को नहीं मिलती; कैसे मिल सकती है? भूली हुई, अपने भीतर भरी हुई, अमरता को याद कर लेना ही तो अमर हो जाना है । गरुड़, सच्चे योगी, योग-बल से, 'छंदोमय' मंत्र का जप, ध्यान, मनन करने से, दो पक्ष और एक चंचु के, इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना के बल से, 'सहस्रार' तक पहुँच कर, उस घड़े को लाते हैं; पर वाम-मार्गी, अहंकारी, राग-द्वेष के दुष्ट भावों से भरे सर्प उस को नहीं पा सकते; अपनी जिह्वा को दुभासिया, झूठी, बना लेते हैं । वे अमृत नहीं पी सकते, सोम ही पी सकते हैं, जिस से नशा होता है, 'इन्द्रोऽमाद्यत सोमेन'; मालूम होता है कि भाँग की-सी कोई नशीली ओषधि रही; उस को बहुत से लोग मिल कर राजस-तामस प्रत्यक्ष-पशु-यज्ञ मे पीते थे, और मांसादि ख़ूब खाते थे; जैसे आजकाल भी 'सेरीमोनियल डिनर्स'[१] मे । 'सात्त्विक यज्ञ' दूसरी ही वस्तु थी; काम, क्रोध, लोभ, मोह-भय, मद, मत्सर, अहंकार (अज, महिष, गो, अश्व, नर) का बलिदान उस मे किया जाता था; अपने भीतर के पशुओं का; बाहरी का नहीं । सोम ओषधि के कई प्रकार होते हैं, ऐसा भी पुराने ग्रंथों से जान पड़ता है; एक प्रकार के सोम के रस का प्रयोग कायकल्प के लिये, शरीर के नवीकरण के लिये, किया जाता था; अमेरिकन इण्डियन लोग 'मेस्कल' नाम की एक ओषधि जानते हैं, जिस के खाने से कुछ देर के लिये सूक्ष्म इन्द्रिय, दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, ('क्लेयर-वायंस', 'क्लेयर-ऑडियेंस', आदि) खुल जाते हैं ।[२]

---

१ Ceremonial dinners.

२ American Indian; clairvoyance; clairaudience.

(१२) मनुष्य का शरीर क्षुद्र-विराट् है; ब्रह्मांड मे, महाविराट् मे, जो पदार्थ हैं, वह सब इस मे भी हैं। इस के बीच मे 'मेरुदंड', 'पृष्ठवंश', है। उस मे तेंतीस गुरिया ('वर्टिब्रा') हैं। बारह 'आदित्य', ग्यारह 'रुद्र', आठ 'वसु', दो 'इन्द्र-प्रजापती' वा 'अश्विनी-कुमार'। पच्छिम के शारीर-शास्त्री ('ऐनाटोमी-फ़िसियॉलोजी' के वैज्ञानिक) कहते हैं कि गले मे सात ('सर्विकल'), पीठ मे बारह ('डार्सल' वा 'थोरासिक'), उन के नीचे कटि मे पाँच ('लम्बर'), उन के नीचे कमर मे पाँच ('सैक्रल'), उन के नीचे पृष्ठ मूल मे चार ('काक्सिजियल'); तैंतीस की गिनती दोनो प्रकार मे मिलती है;[१] विभाजन, वर्गी-करण, मे भेद है। मस्तिष्क के कंदों से और इन गुरियों से निकलने वाली और उन मे पैठने वाली नाड़ियों से ज्ञान और कर्म की इन्द्रियों का सम्बन्ध है; तत्तत् इन्द्रिय, और तत्तद्विषयभूत पंच महाभूतों के अभिमानी, चैतन्यांश 'देव' कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मनस्, इन ग्यारह इन्द्रियों के 'अभिमानी', 'अहंकार-वान्', देवता, ग्यारह 'रुद्र' कहलाते हैं।

> (पर्वभिर्निर्मितो यस्मात् तस्मान्मेरुस्तु पर्वतः,
> तत्र संचारिणी देवी शक्तिराद्या तु पार्वती,
> तस्य मूर्ध्नि स्थितो देवो ब्रह्मरन्ध्रे महेश्वरः,
> अनन्तानां च केलीनां तयोः कैलासः आसनम्।
> मानस्यः एव ताः सर्वाः, सरस्तस्माच्च मानसं।
> दीव्यन्ति, यत्तु, क्रीडंति, विषयैरिंद्रियैरपि,
> तस्माद्देवाः इति प्रोक्ताः तास्ताः प्रकृतिशक्तयः।
> महेश्वरस्यात्मनस्तु सर्वे ते वशावर्तिनः।
> 'इदमं' द्रावयत्यस्माद् आत्मा इदंद्रस्तु कथ्यते;

१ Vertebra; anatomy, physiology; cervical; dorsal or thoracic: lumbar, sacral, coccygeal.

'इदं-द्रं' संतं आत्मानं 'इन्द्र' आचक्षते बुधाः,
देवानामीश्वरश्चेंद्रः इति पौराणिकी प्रथा।)

इस प्रकार से संग्रह-श्लोक कहे जा सकते हैं।

शिव के सिर से आकाश-गंगा बहती है; वही सुषुम्ना है; 'सु-सुम्ना' अति उत्तम 'मनन', 'महा-आनन्द'। उस की 'धारा' को उलटी बहावै, प्राणशक्ति 'रा-धा' की उचित उपासना करै; 'उर्ध्व-रेतस्', 'ब्रह्मनाल', से (जो स्थूल काशी नगरी की एक गली का नाम है) 'मणिकर्णिका' घाट को जाय, तो 'ब्रह्म-लाभ' हो, 'तारक' मंत्र मिलै, तर जाय, मुक्त हो जाय। मेरु के ('स्पाइनल कार्ड' के) बीच की नाली ही प्रायः 'सुषुम्ना' शब्द से संकेतित होती है। उस के दहिने तरफ 'पिंगला', और बाईं ओर इड़ा, कही जाती है; ये प्रायः दोनों 'सिम्पाथिक नर्व्ज़्' हैं।[१] कुंडलिनी का, जो शक्ति की एक रूपान्तर ही है, इन नाड़ियों से सम्बन्ध है। योग-वासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तिम अध्यायों मे, तथा अन्य ग्रन्थों मे, भिन्न प्रकारों से, इस का संकेत मात्र वर्णन किया है। इत्यादि।[२]

स्कंद पुराण के काशी खंड नामक अंश मे 'काशी', 'वाराणसी', 'गङ्गा', 'अविमुक्त क्षेत्र', 'त्रिशूल के उपर स्थित काशी', 'शिव की नगरी' इत्यादि का सविस्तर आध्यात्मिक अर्थ बताया है। आत्मज्ञान

---

१ Spinal cord; sympathic nerves.

२ इन तीर्थों के नाम सब, काल के प्रवाह से, भ्रष्ट हो गये; हयग्रीव कुंड का हिंगुआ तलाव, मिश्र-पुष्कर का मिसिरपोखरा, मंदाकिनी का मैदागिन, मत्स्योदरी का मछोदरी हो गया; और अब तो यह सब तीर्थ लुप्त ही हो गये, म्युनिसिपल्टी के कूड़े से पट गये, और उन पर नैजिक मकान या सार्वजनिक उद्यान आदि बन गये। और ज्ञानी तपस्वियों के ठिकाने महा पापिष्ठ ठग बकव्रती बिड़ालव्रती भर गये, जिन की चर्चा ऊपर की गई।

को पा लिया है जिस ने, आत्मा का 'प्र-काश' हो गया है जिस में, उस बुद्धि ही का नाम काशी। वरुणा से आशय इड़ा, असी से पिंगला, लुप्त सरस्वती से सुषुम्ना—इसी से वाराणसी। सदा बहने वाली 'गच्छति इति गंगा', अनाद्यनन्त-प्रवाह वाली मूल प्रकृति, कूटस्थ कैलास पर्वत पर बैठे हुए परमात्मा शिव के नीचे बहती हुई। त्रिशूल के ऊपर, क्योंकि "सर्व एतत् त्रिकं त्रिकं"। 'ब्रह्मनाल' गली; मणि-कर्णिका अर्थात् वही सहस्रार चक्र; हयग्रीव कुंड, मिश्रपुष्कर तीर्थ, मंदाकिनी, मत्स्योदरी आदि, सब शरीर के विविध चक्रों कंदों पीठों के नाम हैं। "काश्यां मरणान् मुक्तिः", क्योंकि आत्मा के प्रकाश से व्याप्त बुद्धि को पा कर जो जीव शरीर छोड़ता है वह अवश्य मुक्त हो जाता है; तथा काशी में सच्चे तपस्वी ज्ञानी आत्म-ज्ञान को पाये साधु सन्यासी रहते हैं; उन के सत्संग से ही दूसरों को भी ज्ञान मिलता है, "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" ऐसा ही अर्थ सात पवित्र पुरी और चारो धाम का है। इत्यादि। पंचक्रोश और उस के मंदिरों और तीर्थों की भी कथा ऐसी ही अनन्त कथा है। षट्चक्रों को जगाने और उन के पार जा कर सप्तम सहस्रार मे पहुँचने की सब 'क्रिया', विविध 'योग-मार्गों' के प्रक्रियात्मक अभ्यास का विषय है; बिना उच्च कोटि के अनु-भवी, यम नियमादि मे निष्णात, सद्‌गुरु के, तथा बिना वैसे ही सच्चे हृदय से युयुक्षु, मुमुक्षु, शुद्ध पवित्र चरित्र से युक्त शिष्य के, इन गूढ़ रहस्य विषयों का पता चलना कठिन है; और योग की भूमियों को, उस रहस्यज्ञान की सहायता से, क्रमशः पार करने वाले अभ्यास का करना तो अति कठिन है।

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः।
शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग-सूत्र)

अभ्यासेन तु, कौंतेय !, वैराग्येण च गृह्यते। (गीता)
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत् मुंजाद् इषीकामिव धैर्येण।

इह चेद् अशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः,
ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।
लब्ध्वा विद्यां योगविधिं च कृत्स्नं,
ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः । (कठ०)

यस सब गीता और उपनिषदों के वाक्य हैं। आशय यह है कि वेदान्त के निश्चित ज्ञान से 'चित्त-विमुक्ति' हो जाती है; पर उस के पीछे भी, 'योगविधि' से, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकाल सकने से, 'शारीर मुक्ति' होती है। 'चित्त-विमुक्ति' अधिक दृढ़ होती है। मुहम्मद ने भी क़ुरान मे कहा है, 'मुतो क़ब्लुन् तमूतो', यानी मौत से क़ब्ल मौत को जानो; मरने मे पहिले मरो; जीते जी 'जिस्मि-कसीफ़' से 'जिस्मि-लतीफ़' को अलग करने की शान को हासिल करो। मुल्ला जामी ने कहा है—

यक् बार बिमीरद् हर कसे, बेचारः जामी बारहा।

'और लोग तो एक ही बार मरते हैं, बेचारा जामी बार-बार मरता है;' यानी स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर, उस के द्वारा दूसरे लोकों की, आलमो की, सैर करता है।

कुछ अन्य रूपक

ऐसे ही रूपक, पद पद पर पुराणो मे भरे हैं। यथा, जब इन्द्र की सौतेली माता दिति (पृथ्वी) गर्भवती थी, और इन्द्र का भयंकर शत्रु उस से उत्पन्न होने वाला था, तब इन्द्र (विद्युत) ने, दिति के गर्भाशय मे योगबल से प्रवेश कर के, वज्र से गर्भ के सात टुकड़े किये, और जब वे सात रोने लगे, तो 'मत रो', 'मत रो', कह कर एक एक के सात सात टुकड़े किये; इस से उन का नाम उनचास 'मरुत्' (वायु) हुआ, और वह गर्भ से निकल आये; फिर इन्द्र ने दिति से अपना अपराध क्षमा कराया, और दिति ने इन्द्र और मरुतों मे सदा के लिये

मित्रता करा दी। अवश्य ही इस बुद्धिपूर्वक गढ़े हुए रूपक का कुछ विशेष अर्थ होगा। स्यात् वैसा ही कुछ हो जैसा पच्छिम के वैज्ञानिक लोग अब कहते हैं, कि बहुत किस्म की 'गेस'[१] होती है। और 'सात' संख्या का भी, इन के क्रमिक विकास ('ईवोल्यूशन') से सम्भवतः कुछ वैसा सम्बन्ध हो सकता है जैसा पाश्चात्य रूसी वैज्ञानिक मेंडेलेयेफ़ के पाये और बतलाये 'पीरियाडिक ला' मे दिखाया है; अर्थात् आदिम परमाणुओं से इतनी 'संख्या' पर, ऐसे ऐसे 'केमिकल एलिमेंट्स' बनते हैं; 'सांख्य' दर्शन मे पंच भूतों की क्रमिक उत्पत्ति, वेदांत का 'पंची-करण', आदि भी, इन भावों से मिलते हैं। ऐसे ही 'मत्स्य पुराण मे, अग्नि की पत्नियाँ, उन के बेटे, पतोहुएँ और पोते, सब मिल कर उनचास अग्नि कहे हैं। निश्चयेन यह भी निरी कहानी नहीं हो सकती। पच्छिम के वैज्ञानिकों ने तरह तरह की 'रे' निकालना शुरू किया है 'एक्स-रे' 'एन्-रे' 'कौस्मिक रेज़्' आदि।[२] पर क्या ठीक अर्थ है, यह कहना अब कठिन हो गया है। भारत के शील के साथ साथ ज्ञान का भी सर्वथा ह्रास हो गया है।

कुछ सीधे ऐतिहासिक रूपकों की भी चर्चा कर देना उचित होगा। इन का अर्थ सरल और प्रायः निस्सन्देह है।

बहुत पूर्व काल मे, परम यशस्वी ध्रुव के वंश मे, अंग का पुत्र वेन हुआ। बड़ा दुष्ट निकला। बाल्य काल मे ही, अन्य बालकों की हत्या तक उस ने आरम्भ किया। अंग राजा, नितांत निर्विण्ण हो कर रातो रात जंगलों मे जा कर लापता हो गये। मंत्रियों ने ऋषियों से निवेदन किया। अराजकता मे महादोष; वेन के अभिषेक की आज्ञा दी। राज-सिंहासन पर बैठ कर वेन और भी मदमत्त हो गया; प्रजा को अति कष्ट देने लगा; सारी समाज-व्यवस्था को बिगाड़ डाला; धर्म-कर्म, जीविका-

१ Cas.

२ Evolutiou; Periodic Law; Chemical Elements; Rays; X-Ray, N-Ray, Cosmic Rays.

वृत्ति, का संकर कर दिया; भेरी के घोष से यह आज्ञा देश मे घुमाई कि ईश्वर की, देवों की, पूजा कोई न करै, सब मेरी ही पूजा करैं, क्योंकि,

एते चान्ये च विबुधाः, प्रभवो वर-शापयोः,
देहे भवंति नृपतेः ; सर्वदेवमयो नृपः ।

सब देवता, राजा के शरीर मे ही हैं; वही वर और शाप का देने वाला है । ऋषियों ने आपस मे सलाह की,

अहो, उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्;
दारुणि उभयतो दीप्ते इव, तस्कर-पालयोः ।
अराजकभयाद् एष कृतो राजा अ-तदर्हणः ;
ततोऽप्यासीद् भयं त्वद्य; कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम् ।
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः,
स्रवते ब्रह्म तस्यापि, भिन्नभांडात्पयो यथा । (भागवत)

'काठ के टुकड़े मे दोनो ओर से आग लगा दी जाय, वह दशा प्रजा की हो गई; अराजकता मे चोर डाकुओं के भय से इस को राजा बनाया; यह उन से भी अधिक दुष्ट निकला; प्रजा का कैसे भला हो ? समदर्शी, ब्रह्मज्ञानी, शान्त, दान्त, त्यागी, तपस्वी, ब्राह्मण भी यदि दीन प्रजा की दुर्दशा देखता हुआ उपेक्षा करै तो उस का ब्रह्मज्ञान नष्ट हो जाता है, जैसे फूटे बर्तन मे से पानी ।'

ऋषियों ने राजा वेन को समझाने का यत्न किया; एक न सुना; तब उन्हों ने उस को 'हुंकार' से मार डाला । वेन की 'बाईं जाँघ को मथा'; उस मे से अति कुरूप बुद्धिहीन पुरुष उत्पन्न हुआ; उस को ऋषियों ने, "निषीद" 'अलग बैठ जाओ', ऐसा कहा; उस से 'निषाद' जाति उत्पन्न हुई । वेन की दक्षिण और वाम भुजाओं को ऋषियों ने मथा; दाहिनी से पृथु निकले; और बाईं से अर्चिः नाम की कन्या; दोनों का विवाह कर के, पृथु का राजपद पर अभिषेक किया ।

अर्थात्, वेन की संतान मे ऋषियों ने खोज की; उस के दुराचार

व्यभिचार से उत्पन्न, कुरूप कुबुद्धि जन्तुओं को, 'निषादों' को अलग कर दिया; सद्विवाह धर्म-विवाह से उत्पन्न, सदाचारी विष्णु के अंशावतार-रूप पृथु को राजा बनाया, और उसी वंश की उत्तम कन्या से उस का विवाह कर दिया। उस आदि-काल में सपिंडों सगोत्रों का भी कभी-कभी विवाह हो जाता था; यथा ईजिप्ट देश में 'फ़ेरो' 'फ़रउन' का, तथा पेरू देश में 'इंका' राजाओं का, बहुधा अपनी बहिन से ही विवाह होता था, और प्राचीन ईरान, 'आयोना', में तो पिता-पुत्री, माता-पुत्र का भी, कभी-कभी।

पृथु बड़े प्रतापी, यशस्वी, प्रजापालक, नूतन-युग-प्रवर्तक हुए। उन के समय में अकाल पड़ा; प्रजा भूखों मरने लगी; राजा से आक्रन्दन किया; धरा वसुन्धरा धरित्री भूतधात्री (पृथ्वी) पर पृथु को बड़ा क्रोध हुआ; उस को धमकाया, 'तू क्यों मेरी प्रजा को अन्न नहीं देती?' धरा देवी ने 'गौ' का रूप धारण किया; आदिराज पृथु ने, 'मनु' को (कुटुम्बी प्रजापतियों को) 'वत्स,' बछवा, बना कर, गौ को 'वत्सला' दुग्धवती पिन्हा कर के, उस से सब औषधियों, अन्नों, को दूहा; बृहस्पति (ज्ञानियों) को वत्स बना कर, ऋषियों ने 'छन्दोमय' वेद, समस्त ज्ञान, दूहा; इन्द्र को, (इन्द्रियों की शक्ति को), वत्स बना कर देवों ने 'सोम' वीर्य, ओजस्, बल, दूहा; दैत्य-दानवों ने, दुष्टों ने, 'सुरा', शराब; अप्सरा और गंधर्वों (कलावन्तों) ने, (गां, वाचं, धर्यंति इति गंधर्वाः, आपः सरंति आभिः इति अप्सरसः, द्विप्रकाराः सूर्यस्य रश्मयः), 'गांधर्व मधु', संगीत विद्या; सिद्ध विद्याधरों ने विविध विद्या और सिद्धियाँ; मायावियों ने तरह-तरह की माया; राक्षसों ने रुधिर; विषधरों ने विष; वृक्षों ने विविध प्रकार के रस; पशुओं ने मातृदुग्ध; पर्वतों ने नाना प्रकार के धातु; इत्यादि। सब प्रकार से प्रजा का 'रंजन' हुआ, इस लिये प्रजा ने पृथु को 'राजा' कहा, 'आदिराज' माना; धरा को पृथु ने अपनी पुत्री माना,

१ Pharaoh; Inca.

इस का नाम 'पृथ्वी' हुआ। ज्योतिष मे पृथ्वी नाम इस लिये रक्खा गया है, कि सब ग्रहों मे वह अधिक 'घन' 'सालिड' 'डेन्स'[1] है, 'पृथु' अर्थात् भारी है। पृथु मे सच्चे राजा के सब गुण पराकाष्ठा मे थे,

मातृभक्तिः परस्त्रीषु, पत्न्यां अर्धम् इवाऽऽत्मनः,
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः, किंकरो ब्रह्मवादिनाम्,
देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः, सुहृदां नन्दिवर्धनः,
मुक्तसंगप्रसंगोऽयं, दंडपाणिः असाधुषु,
अयं तु साक्षाद् भगवान्स्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयाऽवतीर्णः।

प्रजा ने उस को जगदात्मा भगवान् का कलावतार ही माना।

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि, राजराट्
भूमंडलं इदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः,
निवासान्कल्पयांश्चक्रे तत्र तत्र यथाऽर्हतः,
ग्रामान्, पुरः, पत्तनानि, दुर्गाणि विविधानि च,
घोषान्, व्रजान्; सशिबिरान्, आकरान्, खेटखर्वटान्।
प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना;
यथासुखं बसंति स्म तत्र तत्र ऽकुतोभयाः।

पृथु ने धनुष् की कोटि से पर्वतों को चूर कर के 'समथर,' 'समस्थल' बनाया, और उस पर प्रजा के बसने के लिये, जैसे पिता पुत्रों के लिये, ग्राम, पुर, पत्तन, दुर्ग, (घोसियों के गाय बैल रखने के) 'घोष', (घूमते-फिरते 'व्रजन्ति इति' पशु चराने वाले गोपालों के लिए डेरे तम्बू के) 'व्रज', (सेना के) 'शिबिर', आकर (खान), खेट, खर्वट (छोटे छोटे गाँव), आदि बनवाये। पृथु के पहिले यह सब नहीं था; प्रजा इधर उधर सुख से निर्भय जहाँ मन चाहा वहाँ पड़ी रहा करती थी। इसी से पृथु आदिराज कहलाये।

---

१ Solid, dense.

इस कथा का अर्थ स्पष्ट ही यह है, कि पृथु के समय से पहिले, पृथ्वीतल की और ऋतुओं की अवस्था कुछ दूसरी थी; जैसी अब भी दक्षिण समुद्र के टापुओं मे है; बारहो महीने, वसन्त का सा मौसिम, बीच-बीच मे बर्सात, कभी-कभी भारी वात्या, तूफ़ान; प्रजा को मकान बनाने, गाँव शहर बसाने, की, न आवश्यकता न बुद्धि। फिर अवस्था बदली; पृथु के राज्य काल मे, नये सिर से एक बड़े 'सिविलिज़ेशन'[1], सभ्यता, शिष्टता, का प्रादुर्भाव हुआ; विशिष्ट ज्ञानवान् जीवों ने मनुष्य जाति मे जन्म लिया; शास्त्रों का आविष्कार किया; मानव जीवन के प्रकार मे परिवर्तन कर दिया। जैसे, आज काल, सौ वर्ष के भीतर भीतर, आधिभौतिक विज्ञान और विविध यंत्रों के निर्माण मे अद्‌भुत वृद्धि होने के कारण, समग्र मानव जीवन, रहन-सहन आहार-विहार, वाणिज्य-व्यापार, रमण-भ्रमण, शिक्षा-रक्षा-भक्षा के बाह्य प्रकारों मे सर्वथा काया-पलट हो गया है; सभ्यता, कृषि-प्रधान के स्थान मे यंत्र-प्रधान हो गई है। वैसे, पृथु के समय मे ही ग्राम, नगर, आदि बने और बसे; खेती बारी का हुनर पैदा हुआ; गाय भैंस बकरी पाल कर उन के दूध से काम लिया जाने लगा; गीत-वाद्य की विद्या पैदा हुई; अच्छी के साथ बुरी बातें भी आईं; शराब, गोश्त, का भी व्यवहार आरम्भ हुआ; इत्यादि। यह सब विषय, आजकाल, पच्छिम के 'सोशियालोजी'[2] शास्त्र, 'सामाजिक जीवन के आरम्भ और विकास के इतिहास,' का है। ब्रिटेन के नामी वैज्ञानिक श्री आल्फ़्रेड रसेल वालेस ने, 'सोशल एनवाइरनमेंट ऐंड मोरल प्रोग्रेस'[3] नामक अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि अग्नि उत्पन्न करने का, खेती का, दूध दही घी के प्रयोग का, ऊन और रूई से कपड़ा बनाने का, और ऐसी ही कई अन्य परमावश्यकीय

१ Civilisation.

२ Sociology,

३ Alfred Russell Wallace. *Social Environment and Moral Progress.*

वस्तुओं का उपज्ञान, जो स्यात् लाखों नहीं तो दसियों बीसियों हज़ार वर्ष पहिले हुआ, वह इधर के सौ वर्ष के अत्यद्भुत आविष्कारों से भी अधिक आश्चर्यमय और मानव जीवन के लिये अधिक उपयोगी है।

यों तो गो शब्द के कई अर्थ हैं; गाय बैल, स्वर्ग, सूर्य, किरण, वज्र (बिजली), इन्द्रिय, बाण, दिशा, वाणी, पृथ्वी, तारे, इत्यादि; ये सब ही सदा चलते रहते हैं। धातु से अर्थ, 'गच्छति इति गौः' 'जो भी चलै'; अंग्रेज़ी शब्द भी 'गो' और 'काउ'[1] इसी से निकलते हैं। पर इन रूपकों मे 'गो' शब्द का अर्थ पृथ्वी ही है।

'कामधेनु' गौ के लिये, विश्वामित्र (क्षत्रिय, पीछे ब्राह्मण) का बसिष्ठ (ब्राह्मण) के साथ; तथा विश्वामित्र के भगिनीपुत्र जमदग्नि (ब्राह्मण) और उन के पुत्र परशुराम (ब्रह्म-क्षत्रिय) का कार्त्तवीर्य (क्षत्रिय) के साथ बहुत वर्षों तक घोर संग्राम हुआ। दोनो की 'काम-धेनुओं' ने अपने 'खुर, पेट, पूँछ, सींग' से 'शक, पह्लव, काम्बोज, यवन, म्लेच्छ' आदि जातियों की बड़ी-बड़ी सेनाएँ उत्पन्न कीं। दोनो तरफ़ भारी जनसंहार हुआ; वसिष्ठ के भी, विश्वामित्र के भी, सौ सौ पुत्र मारे गये, जमदग्नि और उन के कुटुम्ब के बहुतेरे मारे गये; परशुराम ने कार्त्तवीर्य और उस के वंश को मारा, और फिर फिर, तीन वर्णों की सेनाएँ बना बना कर, इक्कीस युद्धों मे पृथ्वी को 'निःक्षत्रिया' करने का महायत्न किया। बहुत वर्षों के, और बड़े बड़े तरह तरह के उपद्रवों और प्रजा और राष्ट्रों के विप्लवों के बाद शान्ति हुई।

विश्वामित्र और कार्त्तवीर्य दोनो की कथाओं का, आज काल के शब्दों मे अर्थ यही है कि महाभारत काल से पहिले, ब्राह्मण वर्ग और क्षत्रिय वर्ग मे, उपजाऊ भूमि का लोभ बहुत बढ़ा; दोनो ने उचित से अधिक भूमि को अपने भोग विलास के लिये अपने अधिकार मे रखना चाहा; प्रजा की भलाई की चिन्ता बहुत कम की; आपस मे युद्ध हुए; क्षत्रियों की सेना तो बनी बनाई थी; ब्राह्मणो ने बाहरी जातियों को,

---

1 Go; Cow.

अपनी भूमि की पैदावार दे कर, अपनी सहायता के लिये बुलाया; दोनो का बहुत ध्वंस हुआ; अंत मे किसी किसी रीति से संधि और शान्ति हुई। यही कथा, यूरोप के इतिहास मे, कई बेर हो चुकी है। 'चर्च और स्टेट' 'प्रीस्ट और किंग', 'सासरडोटलिस्ट और मिलिटरिस्ट', 'थियोक्राट और टाइमोक्राट'[१] के बीच मे, ज़मींदारी, धन, आज्ञा-शक्ति, अधिकार, भोग विलास, की अति लालच से बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हुईं जिन मे प्रजा की तबाही हुई। 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' के समय भी 'चर्च' की बहुत जायदाद छीनी गई; हाल मे, रूस मे, जनता ने 'प्रीस्ट' की भी और ज़मीदार की भी सब ज़मीन छीन ली[२]; सन् १९३६–३७–३८ मे, स्पेन मे, प्रजा-विनाशक भारी गृहयुद्ध हुआ, जिस मे भी एक मुख्य कारण यह था कि 'चर्च' की बहुत ज़मीन, नये बनाये संघ-राज्य के अधिकारियों ने छीन ली थी; और इस गृहयुद्ध मे चर्च के पक्ष वाले सेनानियों की जीत हुई है। सन् १९५२ मे, भारत वर्ष के उत्तर-प्रदेश और विहार मे ज़मींदारी को नई स्वराज सर्कार ने मिटा दिया; अन्य प्रांतों मे भी ऐसा करने का विचार हो रहा है। इसके पहले, सन् १९४८ मे आरम्भ कर के, सब देशी राज्यों का भारत मे विलयन किया गया और हो रहा है। समग्र भारत (हिंदु-स्थान) मे बड़ी उथल-पुथल मची हुई है; इस सब का फल अच्छा होगा या बुरा, यह भविष्य के गर्भ मे छिपा हुआ है।

रावण के दस सिर और बीस भुजा का अर्थ, दस मंत्री और बीस प्रकार के सेना के अंगों से समझना चाहिये; चतुरंगिणी सेना के स्थान मे उस की सेना विंशांगिनी थी; हवाई जहाज़ भी थे (एयर-आर्म), समुद्री सेना (नेवल आर्म), तोपख़ाना (आर्टिलरी आर्म) आदि, जैसे

---

१ Church and State; priest and king; altar and throne; crozier and sceptre; book and sword; tiara and crown; sacerdotalist and militarist; theocrat and timocrat.

२ French Revolution; church; priest.

आज पच्छिमी राज्यों की। ब्रह्मज्ञानी हो कर भी पापिष्ठ था, इस लिये ब्रह्मराक्षस था; काशी मे जो पाप करै वह ब्रह्मराक्षस ब्रह्मपिशाच होता है। सीता का अर्थ जोती बोई भूमि; राम जी की भूमि को रावण ने चुरा लिया था। इत्यादि।

'सोशियोलाजिकल हिस्टरी' का, 'ईवोल्यूशन' का,[१] ऐसा रूप और क्रम क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर, चैतन्य-परमात्मा की प्रकृति के प्रवृत्ति निवृत्ति रूप असंख्य प्रकार के विकास-संकोच को बतलाने वाले आत्म-दर्शन-शास्त्र से मिलता है।

रूपकों की चर्चा का प्रयोजन

यहाँ यह सब चर्चा केवल इस वास्ते कर दी कि 'दर्शन' से कहाँ तक 'आँख' फैलने का सम्भव हो जाता है, यह जिज्ञासु को मालूम हो जाय; पुराण ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर अंध-श्रद्धा न की जाय; न यक-बारगी, उन को अफ़्यूनूची की ग़प्प कह कर कूड़ेखाने मे फेंक दिया जाय; प्रत्युत उन का बुद्धि-सम्मत, युक्ति-युक्त, गूढ़ अर्थ खोजा जाय। पहिले ही कहा है, पर फिर से याद दिला देना उचित है, कि ऊपर जो अर्थ पौराणिक रूपकों के सूचित किये गये हैं, वे कदापि निश्चित प्रमाणित नहीं हैं; युक्ति-द्वारा कल्पना मात्र हैं; बुद्धिमान् पाठक स्वयं इन मे विस्तार, संकोच, मार्जन, शोधन कर लेंगे।

कोई कहेगा कि 'बह्वायासे लघुक्रिया'; 'कोह कन्दन व काह बरा-वर्दन'; पहाड़ खोद कर चूहा निकालना; भारी मिहनत कर के, एक-एक रूपक का अर्थ खोजैं, वह भी निश्चित न हो, और ऐसी कोई नई बात भी न मालूम हो, तो ऐसा क्यों करैं? पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकों से, क्या इस सब से बहुत अधिक ज्ञान, हम को, इस की अपेक्षा बहुत सरलता से, नहीं मिल सकता?

इस शंका का मुख्य समाधान यह है कि अध्यात्म-विषयक, योग-

१ Sociological history; evolution.

विषयक, जो ज्ञान इन प्राचीन ग्रन्थों से, उन की वर्तमान शीर्ण-जीर्ण अवस्था मे भी मिल सकता है, वह अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को प्राप्त नहीं हुआ है। पश्चिम मे जो पाञ्चभौतिक वस्तुओं का आधिभौतिक विज्ञान, और बाह्य शक्तियों का ('हीट', 'लैट', 'सौंड', 'इलेक्ट्रीसिटी', 'मैग्नेटिज़्म' आदि का)[१] आधि-दैविक विज्ञान, वहाँ के अन्वेषकों गवेषकों ने प्राप्त किया है, उस को हमे, आदर के साथ, और सदुपयोग के लिए, लेना ही चाहिये; पर उस के साथ, हम को अपने प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान का, आभ्यंतर शक्तियों के आधिदैविक ज्ञान का, जीर्णोद्धार कर के संग्रंथन करना भी परम आवश्यक है। संभव है कि वैदिक और पौराणिक सूचनाओं और रहस्यों पर उचित रीति से ध्यान करने से नई आधिदैविक और आधिभौतिक बातों का भी विज्ञान मिले। दोनो के, प्राचीन और प्रतीचीन के, पुराण और नवीन के, प्रज्ञान और विज्ञान के, उत्तम सम्मिश्रण से, समन्वय से, और सम्यग्दर्शन के अनुसार सत् प्रयोग से, 'सनातन'-पदार्थ के अनुकूल 'धर्म' के बताये मार्ग पर चल कर सदुपयोग करने से ही, भारत का, तथा सर्व मानव जगत् का, कल्याण हो सकता है। और भी; प्राचीन काल मे छापाखाना आदि की सुविधा नहीं थी; थोड़े में बहुत अर्थ कहने का प्रयोजन था।

सभी ज्ञान कर्म के वास्ते हैं।

"सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरं"—यह मीमांसकों का मत है। अर्थात् 'सब ज्ञान का प्रयोजन यही है कि किसी कर्म का उपयोगी हो।' शांकर सम्प्रदाय के वेदांतियों ने इस उत्सर्ग मे यह अपवाद लगाया है कि "ऋते आत्मज्ञानात्"; 'आत्मज्ञान स्वयं साध्य है, किसी धर्म का साधक नहीं।' कर्मकांडी मीमांसकों ने इस शांकर मत का दूसरी रीति से उत्तर दिया है, जैसा तन्त्रवार्तिक की न्याय-सुधा नामक टीका मे सोमेश्वर भट्ट ने (अ० १, पाद २, मे) कहा है।

१ Heat; light; sound; electricity; magnetism.

परलोकफलेषु कर्मसु विनाशिदेहादिव्यतिरिक्तनित्यकर्तृ-भोक्तृरूपात्मज्ञानं विना प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अहं-प्रत्ययेन च, देहेऽपि दृष्टेन, स्फुटतया तद्व्यतिरेकस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्, शास्त्रीयम् आत्मज्ञानं क्रतुविधिभिरपेक्षितं ;...उपनिषज्जनितस्यात्म-ज्ञानस्य...क्रत्वंगत्वावधारणात् तद्द्वारेण पुरुषार्थानुबन्धित्वम् ।

अर्थात् 'स्वर्ग-साधक यज्ञादि कर्म-कांड मे मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक उस को यह विश्वास न हो कि इस नश्वर शरीर से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है जिस को स्वर्ग का अनुभव हो सकता है। और ऐसा विश्वास, आत्मा के अस्तित्व का, उपनिषदों से होता है। इस लिए उपनिषत् और तज्जनित आत्मज्ञान भी कर्मपरक हैं'।

इस का भी प्रत्युत्तर, 'आत्म-ज्ञान' और 'आत्म-अनुभव' मे सूक्ष्म विवेक करने से हो सकता है; यथा, 'अनुभव' का तृतीय अंश 'ज्ञान' है; अन्य दो अंश, 'इच्छा' और 'क्रिया'; यह तीनो मिल कर, 'अहं अस्मि' इस 'अनुभव' मे अंतर्गत हैं; ऐसा अनुभव, स्पष्ट ही 'कर्म-परक' नहीं हो सकता, सब कर्म, सब इच्छा, सब ज्ञान, इस मे अन्तर्गत हैं; "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः"; तथा, स्वर्गादि-साधक यज्ञादि काम्य-कर्म से, निर्गुण परमात्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं, केवल जीवात्मज्ञान से सम्बन्ध है—यह विचार करने से भी प्रत्युत्तर हो सकता है। यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्ति वेदों मे कही है; पुनःपुनः जन्म-मरण के बन्ध से मोक्ष, और अमरत्व की प्राप्ति, नहीं कही है; आत्मानुभवात्मक ज्ञान, बाह्य विषयों के, तथा आंतःकरणिक बौद्ध प्रत्ययों वृत्तियों के भी ज्ञान से भिन्न है, इत्यादि। पर इस सब सूक्ष्मेक्षिका मे पड़ने का यहाँ काम नहीं है; अपने को यह अभीष्ट ही है, कि जीवात्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का, उस के गतागत आवागमन का, पुनःपुनः जन्ममरण का, अवरोह-आरोह का प्रवृत्ति-निवृत्ति का, ज्ञान तो न केवल कर्म-परक है अपितु सत्कर्म के, सज्जीवन के, लिए नितांत आवश्यक है; बिना उस के काम ठीक चल सकता नहीं;

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते। (मनु)
अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदतामहम्। (गी०)

बिना अध्यात्म-ज्ञान के अनुसार कर्म किये कोई मनुष्य कोई सत्-फलदात्री क्रिया नहीं कर सकता; सब काम उस का ग़लत, अशुद्ध, होगा। ज्ञान ही के अनुसार तो क्रिया की जाती है; जिस का जैसा ज्ञान वैसी उस की क्रिया है। सब ज्ञानो मे उत्तम ज्ञान अध्यात्म-ज्ञान है, इस लिये उस के अनुसार ही किया काम उत्तम होता है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब को साधता है।

गीता मे मुख्यतः जीवात्मा की प्रकृति का ज्ञान, अर्थात् 'अध्यात्म-विद्या', और उस मे नितरां प्रसक्त होने के कारण 'आत्म-विद्या' 'ब्रह्म-विद्या' भी, जो कही गई, वह स्पष्ट ही इसी लिये कि वह अर्जुन के लिये 'कर्म-परक' हो, उन को धर्म-युद्ध के कर्म मे प्रवृत्त करै। 'मां अनुस्मर' ज्ञानांश, 'थियरी'; 'युध्य च' कर्मांश, 'प्रैकटिस'।[१] यहाँ इस के सिवा इतना ही कहने की आवश्यकता है कि मीमांसा का यह सब आशय, तथा शांकर सम्प्रदाय वालों का भी, तथा अन्य बहुत कुछ अर्थ, मनु भगवान् के थोड़े से श्लोकों मे भरा पड़ा है। उस पर पर्याप्त ध्यान देने से सच्चा आत्म-दर्शन भी हो सकता है, और तदनुसार लोक-यात्रा भी, व्यक्ति की भी, समाज की भी, कल्याणमय बनाई जा सकती है।

धर्म और दर्शन, दोनो, से, स्वार्थ भी, परार्थ भी, परमार्थ भी

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक सूत्र)

वेदान्त पर, ब्रह्मविद्या पर, प्रतिष्ठित मानव धर्म ऐसा है कि इस से इहलोक और परलोक, अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनो, 'अभ्युदय' मे

१ Theory; practice.

अंतर्गत धर्म, अर्थ, काम भी, और 'निःश्रेयस' अर्थात् मोक्ष भी, सभी चारो पुरुपार्थ, उत्तम रीति से सध सकते हैं। 'ब्रह्मविद्या सर्वविद्या-प्रतिष्ठा' है, इस लिये अध्यात्मविद्या तो उस के अंतर्गत ही है।

न केवल संस्कृत शब्दों मे भारतवर्ष के ही वृद्धों ने कहा है, बल्कि अरबी-फ़ारसी शब्दों मे सूफ़ी बुज़ुर्गों ने भी कहा है,

> गौहरे जुज़् ख़ुद-शिनासी, नीस्त दर् बह्रे वुजूद ;
> मा ब गिर्दे ख़्वेश मी गर्दम् चूं गिर्दाबहा ।
> तरीक़त बजुज़ ख़िद्मते ख़ल्क़ नीस्त ;
> ब तसबीहो सज्जादः ओ दल्क़ नीस्त ।

इस भवसागर मे मोती है तो केवल ख़ुद-शिनासी, आत्मज्ञान, ही है। जैसे पानी मे भँवर अपने ही चारो ओर घूमता और चक्कर खाता है, वैसे ही हम सब अपनी आत्मा के ही चारो ओर भ्रमते रहते हैं; 'मै', 'मै', 'मै'—इसी पर हमारी ज़िन्दगी नाचती-फिरती रहती है। सच्चे 'मै', सच्चे आत्मा, को पाने और साबित करने का तरीक़ा, सिवा इस के और कुछ नहीं है, कि ख़िलक़त की ख़िदमत करो, लोकसेवा करो। तसबीह अर्थात् माला फेरना, और सज्जादा यानी आसन बिछा कर चुप्पी साधना, दल्क़ अर्थात् कन्था कथरी गूदड़ी ओढ़ना—यह आत्मा को पाने का उपाय नही हैं। हाँ, यह सब भी, विशेष अवस्था मे, साधन के अंग हैं; पर तभी सच्चे और सफल होंगे जब सर्वभूतदया, सर्वभूतप्रियहितेहा, सर्वभूतहिते रतिः, ख़िदमते ख़ल्क़, उन के पीछे, उन के साथ, लगी रहे, उन की प्रेरक हो।

यदि वह चालीस या पचास लाख वेशधारी साधु-संत, वैरागी, उदासी, संन्यासी, फ़क़ीर, औलिया, महन्त, मठधारी, मन्दिराधिकारी, तकियादार, सजादा-नशीन आदि, जिन की चर्चा पहिले की गई—यदि ये लोग, आरामतलबी और पाप त्याग कर, सच्चे 'साधु', सच्चे आत्म-दर्शी और लोकहितैषी, ख़ादिमे-ख़ल्क़ हो जायँ, तो आज इस अभागे

देश के सब प्रकार के दुःख के बन्धन टूट और छूट जायँ; इन सब आर्थिक, शासनिक, धार्मिक, रक्षा-शिक्षा-भक्षा-सम्बन्धी, सभी दुःखों, बन्धनों, ग़ुलामियों से मोक्ष मिले, नजात हो; और भारत भूमि पर स्वर्ग देख पड़ने लगे; तथा इस के नमूने से अन्य देशों में भी उत्तम समाज-व्यवस्था फैले।

जैसा पहिले कहा, एक-एक मन्दिर की, विशेष कर दक्षिण मे, इतनी आय और इतनी विशाल भवन प्रासाद आदि की सामग्री है, कि सहज मे एक-एक युनिवर्सिटी, विश्वविद्यालय, कलागृह, और चिकित्सा-लय का काम, उन मे से एक-एक मे चल सकता है। यदि सब वक़्फ की जायदादों का और सब धर्मत्र और देवत्र संस्थाओं, 'अखाड़ों', मन्दिरों, दर्गाहों का प्रबन्ध सद्बुद्धि से हो; और उस के अधिकारी, सदाचारी और लोक-हितैषी हों, और स्वयं पढ़ने-पढ़ाने आदि के काम मे, और रोगियों की चिकित्सा मे, लग जायँ; तो इन की आमदनी और मकानात से, आज पचास युनिवर्सिटी और कारीगरी, हुनर, सनअत-हिरफ़त, विविध शिल्प-कला सिखाने के कालिज, और प्रत्येक गाँव मे एक स्कूल, अर्थात् समग्र भारत मे सात लाख स्कूल, और हर बड़े शहर मे एक चिकित्सालय, आयुर्वेद-तिब्ब के अनुसार काम कर सकते हैं। और इतने सदाचार का, 'इन्द्रिय-निग्रह' के लिये, और जनता की संख़्या की अतिवृद्धि रोकने के लिये, तथा अन्य सब प्रकार से समस्त जनता पर, शासक पर और शासित पर, कैसा कल्याणकारक प्रभाव पड़ेगा, यह सहज मे समझा जा सकता है।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म का मूल-शोधन, इस अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों के अनुसार कैसा होना चाहिये और हो सकता है, जिस से समाज के सब दुःख दूर हो जायँगे—इस का प्रतिपादन अन्य स्थानो और अवसरों पर, इस लेखक ने पुनः पुनः किया है। यहाँ विशेष विस्तार करने का अवसर नहीं है। तौ भी इस के आगे के अध्याय मे, संक्षेप से,

उस धर्म के तत्त्वों का वर्णन, मनु के, तथा अन्य, श्लोकों से, उन के अनुवाद के साथ, किया जाता है ।[1]

---

[1] इस समग्र विषय का विस्तार से प्रतिपादन, प्रस्तुत लेखक के अन्य ग्रन्थों मे किया गया है, विशेष कर (संस्कृत) 'मानवधर्मसारः', (हिन्दी) 'पुरुषार्थ', (अंग्रे.जी) 'सनातन वैदिक धर्म' और 'एसेन्शल युनिटी ऑफ़ ऑल रिलिजन्स' मे तथा 'साइंस् आ.फ् सोशल् आर्गेनाइ-.जेशन्' मे ।

अध्याय ६

दर्शनसार और धर्मसार

(विस्मृत्य इव परात्मत्वं, जीवात्मत्वं गता चितिः,
वासनानां प्रभावेण भ्रामिता बहुलान् युगान्,
बह्वीर्योनीरनुप्राप्य, मानुष्यं लभते ततः,
तामसान् राजसान् भावान् सात्त्विकांश्च, पुनः पुनः ।
परोपकारात् पुण्यानि, पापान्यप्यपकारतः,
दुःखानि चाप्यसंख्यानि, तथाऽसंख्यसुखानि च,
द्वन्द्वान्यन्यान्यनन्तानि, नानारूपाणि सर्वशः,
जीवोऽनुभूय मानुष्ये, सत्त्वोद्रेके सुकर्मभिः,)
अनेकजन्मसंसिद्धः, ततो याति परां गतिम्;
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् 'मां' प्रपद्यते, (गी०)
आत्मनः परमात्मत्वं संस्मरन् वेत्ति तत्त्वतः,
बुद्ध्याऽत्मानं तु सात्विकया सम्यग्गृह्णाति सूक्ष्मया,
दुःखातीतां सुखातीतां शांतिं चापि समश्नुते ।)
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये, भयाभये,
बंधं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा सात्त्विकी स्मृता ।(गी०)
(बुद्ध्या समग्रं सात्त्विकया वेदशास्त्रं सुबुध्यते ।)
चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाः, चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्,
भूतं, भव्यं, भविष्यं च, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ।
धर्मं बुभुत्समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः; (मनु)
(श्रुतिं बुभुत्समानानामात्मज्ञानं परायणम् ।
पुरुषार्थाश्च चत्वारः, चतस्रश्चापि वृत्तयः,

ऋणानि चैव चत्वारि, चतस्त्रश्चैषणास्तथा,
हृदयाण्यायनीयानि स्वधर्मोत्साहनानि च
विशिष्टेष्टानि चत्वारि तोषणानि मनीषिणाम्—
सम्यग् अध्यात्मविद्यायाः एतत् सर्वं प्रसिध्यति।)
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः। (गी०)
(समाजकायव्यूहस्य चत्वार्यंगानि चैव हि;
शिक्षाव्यूहः, रक्षाव्यूहः, पोषक व्यूहः एव च,
सेवाव्यूहश्चतुर्थश्च ऽप्यंगिनोऽङ्गानि संति हि।
यथा शरीरे ज्ञानांगं शिरो, ज्ञानेन्द्रियैर्भृतं,
बाहू क्रियांगं च तथा, सर्वशौर्यक्रियाक्षमं,
इच्छांगमुदरं चैव संग्राहि-आहारि-पोषकं,
पादौ च सर्वसेवांगं सर्वसंधारकं तथा।
आयुषश्चापि चत्वारो भागाः, आश्रम-संज्ञिताः;
प्रत्येके आयुषः पादे जीवेनाश्रम्यते यतः,
तत्तद्वयोऽनुरूपे हि, विशेषे धर्मकर्मणि।)
आश्रमादाश्रमं गत्वा, यज्ञैरिष्ट्वा च शक्तितः,
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य, मनो मोक्षे निवेशयेत्, (मनु०)
(चतुर्थे आश्रमे तुर्यऋणापनयनाय हि।)
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः।
सुखाभ्युदयिकं चैव, नैःश्रेयसिकमेव च,
प्रवृत्तं च, निवृत्तं च, कर्म द्विविधमुच्यते। (मनु०)
(धर्मश्चार्थश्च कामश्च, त्रयं ह्यभ्युदयः स्मृतः;
मोक्षो यस्तु चतुर्थोऽर्थः, तं हि निःश्रेयसं विदुः)
इज्या-ऽचार-दम-ऽहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन ऽात्मदर्शनम्। (याज्ञ०स्मृ०)
सर्वभूतेषु चऽात्मानं, सर्वभूतानि चऽात्मनि,

सर्मं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति;
सर्वमात्मनि संपश्येत्, सच्च च ऽसच्च, समाहितः;
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्न ऽधर्मे कुरुते मनः।
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमात्मन्यवस्थितम्;
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्।
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना,
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्म ऽभ्येति परं पदम्। (मनु०)

ब्रह्माभ्येति परं पदम्। ॐ

चितिशक्ति, चेतना, चैतन्य, अपने परमात्म-भाव को मानो भूल कर, जीवात्म-भाव को धारण कर लेता है। वासनाओं के अनुसार, लाखों योनियों में, लाखों प्रकार के शरीरों में, जन्म लेता है, और असंख्य द्वन्द्व, सुख-दुःख-प्रधान, भोगता है। अवारोह-पथ, प्रवृत्ति-मार्ग, अधो-गति, 'क़ौसि-नज़ूल' पर उतरता हुआ, देवभाव से, क्रमशः, कीट-पतंग आदि भाव से भी जड़, निःसंज्ञ-प्राय, मणि ('मिनरल'),[१] पत्थर आदि की अवस्था में आ पहुँचता है; और इस से उठ कर, आरोह-पथ, निवृत्ति-मार्ग, ऊर्ध्व-गति, 'क़ौसि-उरूज', पर चढ़ता हुआ, मनुष्य-भाव मे आता है। इस योनि मे भी बहुत जन्म लेता है; असंख्य तामस, राजस, सात्त्विक, इच्छा-क्रिया-ज्ञान, के भावों का, और उन के साथ बँधे हुए असंख्य दुःख और सुख के भावों का अनुभव करता है। बहुत जन्मों के, 'तनासुख़' के, बाद, सत्त्व के उद्रेक से, 'इल्म' की बेशी होने पर, सत्कर्म कर के, अपने परमात्म-भाव को, 'रूहि-आज़म' की हालत को, फिर पहिचानता है; तब उस को, सुख-दुःख दोनो से परे, सच्ची शान्ति, मोक्ष, निर्वाण, परमानंद, 'नजात', 'फ़ना-फ़िल्ला', 'सुरूरि-जावेदानी', ब्रह्मानन्द, 'लज़्ज़तुल्-इलाहिया', ब्रह्मलीनता, 'इस्ति-ग्राक़', मिलता है। इस ऊर्ध्वगामी 'देवयान' पर भी, क्रमशः, जीव

१ Mineral.

को उन सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है जिन से वह उतरा है। अति सूक्ष्म अति सात्त्विक, बुद्धि वह है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भयस्थान और अभय-स्थान, बंध और मोक्ष, के सच्चे रूप को ठीक ठीक पहिचानती है। ऐसी सात्त्विक बुद्धि, वेद-शास्त्र के मर्म को जानती है। वह मर्म, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, प्रातिस्विक और सार्वस्विक, 'इन्-फ़िरादी' और 'इज्माई', 'इण्डिविड्युअल' और 'सोशल' कल्याण के लिये वर्ण-आश्रम धर्म मे रख दिया है।[१] परमात्मा के स्वभाव से, प्रकृति से, उत्पन्न तीन गुण, सत्त्व, रजस्, तमस्, जो ज्ञान, क्रिया, और इच्छा के मूलतत्त्व वा बीज हैं; इन की प्रधानता से, तीन प्रकार के, तीन स्वभाव के, तीन प्रकृति के, मनुष्य, (१) ज्ञान-प्रधान, ज्ञानी, शिक्षक, 'आलिम', (२) क्रिया-प्रधान, रक्षक, शूर, 'आमिल', (३) इच्छा-प्रधान, पोषक, संग्रही, 'ताजिर', (४) इन तीन के साथ चौथी प्रकृति, 'बालक-बुद्धि', अव्यक्त-गुण, अनुद्बुद्ध-बुद्धि, जिस मे किसी एक गुण की प्रधानता, विशेष विकास, न देख पड़े, 'गुण-साम्य' हो, वह सेवक, श्रमी, 'मज़दूर'। ये हुए चार वर्ण, मुख्य 'पेशे'। किसी देश के किसी भी सभ्य समाज मे ये चार वर्ण अवश्य पाये जाते हैं; पर उतने विवेक से, और उस काम-दाम-आराम के, धर्म-कर्म-जीविका के, विभाजन के साथ नहीं, जैसा भारतवर्ष मे, प्राचीन स्मृतियों मे इन के लिये आदेश किया है।

जैसे समाज के जीवन मे चार मुख्य पेशे वैसे प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे चार 'आश्रम'; (१) ब्रह्मचारी, विद्या सीखने का, 'तालिबि-इल्म', 'शागिर्द', का; (२) गृहस्थ, 'ख़ानादार', का (३) वानप्रस्थ, 'गोशा-नशीन,' का; (४) यति, सन्यासी, 'फ़क़ीर', 'दुर्वेश' का।

मनुष्य के चार पुरुषार्थ, 'मक़ासिदि ज़िन्दगी', हैं। धर्म, अर्थ, काम,

---

२ Individual; social.

और मोक्ष वा ब्रह्मानंद, यानी 'दयानत, दौलत, लज़्ज़ति-दुनिया, और नजात या लज़्ज़तुल्-इलाहिया'। पहिले तीन आश्रमों में अधिकतर धर्म-अर्थ-काम, और चौथे में विशेष-रूप से मोक्ष, को साधना चाहिये।

तीन (अथवा चार) ऋणों को, 'क़र्ज़ों' को, ले कर मनुष्य पैदा होता है। (१) देवों का ऋण, जिन्हों ने पंच महाभूतों की सृष्टि, परमात्मा के नियमों के अनुसार फैलाई है; जिन महाभूतों से हमारी पंचेंद्रियों के सब विषय बने हैं; (२) पितरों का ऋण, जिन की सन्तति, वंश-परम्परा से, हम हैं; जिन से हम को यह शरीर मिला है, जो देह हमारे सब अनुभवों का साधन है; (३) ऋषियों का ऋण, जिन्हों ने वह महा-संचय, विविध प्रकार के ज्ञानों का, शास्त्रों में भर कर रख दिया है, जिस की ही सहायता से हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन सभ्य शिष्ट बनता है, और जिस के बिना हम पशु-प्राय होते; (४) चौथा ऋण, परमात्मा का, कहा जा सकता है, जो हमारा चेतन ही है, प्राण ही है, जिस के बिना हम निर्जीव होते। इन चार ऋणों के निर्मोचन निर्यातन का उपाय भी चार आश्रमों के धर्म-कर्मों का उचित निर्वाह ही है। (१) विद्या-संग्रहण, और सन्तति को विद्यादान, से ऋषि ऋण चुकता है; क्योंकि उस से, प्राचीनों का, ज्ञान के संग्रह में जो भारी परिश्रम हुआ है, वह सफल होता है; (२) सन्तति के उत्पादन, पालन, पोषण से पितरों का ऋण चुकता है; क्योंकि जैसा परिश्रम हमारे माता पिता ने हमारे उत्पादन, पालन, पोषण, के लिये किया, वैसा हम अपने आगे की सन्तति के लिये करते हैं; (३) विविध प्रकार के 'यज्ञ' करने से, 'इष्ट' और 'आपूर्त्त' से, देवों का ऋण चुकता है। यथा, वायु देवता से हमारा श्वास-प्रश्वास चलता है, हवा को हम गन्दा करते हैं; उत्तम सुगन्धी पदार्थों के धूप-दीप से, होम हवन से, हवा पुनः स्वच्छ करना चाहिये; जङ्गल काट काट कर हम लकड़ी को जलाने में, मकान और सामान बनाने के काम में, ख़र्च कर डालते हैं;

नये लखराँव, बाग़, उद्यान, लगा कर, फिर नये पेड़ तैयार कर देना चाहिये; वरुण देव के जल का प्रति दिन हम लोग व्यय करते रहते हैं; नये तालाब, कूँए, नहर आदि बना कर, उस की पूर्त्ति करना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं। परोपकारार्थ जो भी काम किया जाय वह सब यज्ञ है। गीता मे कई प्रकार के यज्ञो का वर्णन किया है। उस मे भी, होम-हवन आदि 'इष्ट' कहलाते हैं, और वापी, कूप, तटाक, वृक्षारोपण आदि 'आपूर्त्त'। इन सब यज्ञो से देव-ऋण चुकता है। (४) परमात्मा का ऋण, मुक्ति प्राप्त करने से, सब मे एक ही आत्मा को व्याप्त देखने से, चुकता है। क्रम से, चार आश्रमो मे चार ऋण अदा होते हैं। यह याद रखना चाहिये कि सब बात, 'प्राधान्येन', 'वैशेष्यात्' 'भूयसा', कही जाती हैं; 'एकान्तेन', 'अत्यन्तेन', नहीं। संसार मे सब वस्तु, सब भाव, सब आश्रम, वर्ण, आदि, सदा मिश्रित हैं; जो जिस समय प्रधान रूप से व्यक्त होता है, उस का नाम लिया जाता है।

ऐसे ही तीन वा चार एषणा, 'हिर्स', 'तमा', 'आ़र्ज़ू', 'तमन्ना', तृष्णा, आकांक्षा, वासना, मनुष्य को, स्वाभाविक, 'फ़ित्रती', पैदाइशी, होती हैं। (१) लोकैषणा, 'अहं स्याम्', 'मै इस लोक और परलोक मे सदा बना रहूँ, मेरा नाश कभी न हो'; इस का शारीर रूप आहार की, ग़िज़ा की, इच्छा है; और मानस रूप, सम्मान, यश, कीर्त्ति, नेकनामी, इज़्ज़त, की ख़्वाहिश; (२) वित्तैषणा, 'अहं बहु स्याम्', मै और अधिक, ज़्यादा, होऊँ'; इस का शारीर रूप, सब अंगों की, हाथ पैर की, पुष्टि, बलवृद्धि, सौन्दर्यवृद्धि; और मानस-रूप, विविध प्रकार के धन दौलत का बढ़ाना; (३) दार-सुतै-षणा, 'अहं बहुधा स्याम्', 'प्रजायेय', मै अकेला हूँ सो बहुत हो जाऊँ; मेरे पत्नी हो, और बाल-बच्चे हों, 'अहलो-अयाल हों', 'ज़ौजा व औलाद हों, बहुतों पर मेरा अधिकार हो, ऐश्वर्य हो, हुकूमत हो; (४) चौथी एषणा मोक्षैषणा है, 'नजात' की ख़्वाहिश; इस सब जंजाल मे, 'फ़ितना, फ़िसाना, जाल' मे, बहुत भटक लिये, अब इस से छुटकारा हो। यह चार एषणा भी,

चार पुरुषार्थों की रूपांतर ही हैं, और चारो आश्रमो के धर्म-कर्म से उचित रीति से पूरी होती हैं।

चारो वर्णों के लिये चार मुख्य धर्म अर्थात् कर्तव्य, 'फ़र्ज़', और चार वृत्तियाँ, जीविका, 'रिज़्क़'; और चार तोषण, राधन, प्रोत्साहन, (अंग्रेज़ी मे 'स्टिम्युलस', 'इन्सेंन्टिव्',),[१] 'मुहर्रिक', 'राग़िब', हैं। (१) विद्योपजीवी, शास्त्री, शास्त्रोपजीवी, विद्वान्, शिक्षक, उपदेष्टा, ज्ञानदाता, 'आलिम', 'मुअल्लिम', 'हकीम', के लिये, ज्ञान-संग्रह और ज्ञान-प्रचार करना; अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, यानी, विद्या सिखा कर, किसी विषय का ज्ञान दे कर, उस के लिये आदर सहित दक्षिणा ('आनरेरियम') लेना; किसी 'यज्ञ' मे, 'पब्लिक वर्क' मे, सार्वजनिक हित के कार्य मे, ज्ञान की, 'इल्मी', सहायता दे कर, दक्षिणा, 'फ़ी', लेना; वा आदर के साथ जो कोई ज्ञान दान दे, 'भेंट', उपहार, पुरस्कार, दे, 'नज़र', 'प्रेज़ेन्ट' दे, वह लेना। (२) क्रियोपजीवी, 'शस्त्री', 'शस्त्रोपजीवी, रक्षक, आदेष्टा, शासक, त्राणदाता, 'आमिल', 'हाकिम', 'आमिर', 'अमीर' के लिये (अरबी मे 'अम्र' का अर्थ आज्ञा है), अस्त्र-शस्त्र के, हथियार के, द्वारा, दूसरों की रक्षा, हिफ़ाज़त, करना; और उस के लिये, जो कर, ख़िराज, 'टैक्स', लगान, मालगुजारी, राष्ट्र की ओर से वेतन, मिले, उसे लेना। (३) वार्तोपजीवी, कृषक, गोपालक, वणिक्, रोज़गारी, 'ताजिर', पोषक, व्यापारी, के लिये, अन्न वस्त्र आदि जीवनोपयोगी, विविध प्रकार के, आवश्यकीय, निकामीय, और विलासीय पदार्थ, 'नेसेसरीज़', 'कम्फ़र्टस्', और 'लक्षरीज़',[१] ज़ुरूरियात, आसायिशात्, और इश्रतीयात, उत्पन्न करना, और उचित दाम ले कर देना, और जो इस रोज़गार से लाभ, 'मुनाफ़ा', हो, वह लेना। (४) श्रमोपजीवी, सेवोपजीवी, 'मज़दूर', (शुद्ध शब्द फ़ारसी का 'मुज़्द-वर्' है)

---

१ Stimulus; incentive; honorarium; public work; fee; present; tax.

भृतक, कर्मकर, किंकर के लिये, अन्य तीन वर्णों की सेवा-सहायता कर के, जो मज़दूरी, व्रात, भृति, मिले, वह लेना।

यह, चार पेशों के चार प्रकार के धर्म-कर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हक़-फ़र्ज़, और उन की चार प्रकार की जीविका, हुई। तोषण उन के ऊपर कहे जा चुके, अर्थात् ज्ञानी के लिये विशेष सम्मान, 'इज़्ज़त' 'आनर'; शासक के लिये विशेष अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ऐश्वर्य, ईश्वर-भाव, 'हुकूमत', 'आफ़िशल् पावर', 'ऑथॉरिटी'; पोषक के लिये विशेष 'दौलत', धन-सम्पत्ति, 'वेल्थ'; सेवक सहायक के लिये विशेष क्रीड़ा-विनोद, 'खेल-तमाशा' 'तफ़्रीह', 'ऐम्यूज़मेंट' 'प्ले'[१]।

जैसे एक मनुष्य के शरीर के व्यूह ('आर्गेनिज़्म') मे चार अंग देख पड़ते हैं, सिर, बाँह, धड़, और पैर; वैसे ही मनुष्य समाज के व्यूह मे भी चार अंग, चार अवान्तर, परस्पर सम्बद्ध, संग्रथित, संहत, संघातवान्, व्यूह होते हैं (१) शिक्षा-व्यूह, 'लर्नेड् प्रोफ़ेशन्स'; (२) रक्षा-व्यूह, 'एक्सिक्युटिव् प्रोफेशन्स'; (३) वार्ता-व्यूह, 'कामर्शल् प्रोफेशन्स'; (४) सेवा-व्यूह 'इंडस्ट्रियल् प्रोफेशन्स'[२]। शिक्षक वर्ण वा वर्ग और विद्यार्थी आश्रमी वा वर्ग मिल कर शिक्षा-व्यूह बनता है। शासक वर्ण और वनस्थ आश्रमी मिल कर रक्षा-व्यूह; वानप्रस्थ सज्जन, शासक वर्ग को, परामर्श और उपदेश देते रहते हैं; और उन के काम की देख रेख करते रहते हैं; जैसा इतिहास पुराणो मे ऋषियों और राजों के प्रश्नोत्तर की कथाओं से दिखाया है। वणिक् वर्ण और गृहस्थ आश्रमी मिल कर वार्त्ताव्यूह बनता है। श्रमी वर्ण और सन्यास-आश्रमी मिल कर सेवाव्यूह सम्पन्न होता है, श्रमी वर्ण समाज की शारीर सेवा-सहायता करता है, और सन्यासी, आध्यात्मिक।[३]

---

१ Necessaries, comforts, luxuries.

२ Honor, official power or authority, wealth, amusement or play.

३ Organism; learned professions; executive professions; commercial professions; industrial professions.

इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का सर्वांग-सम्पूर्ण, उत्तमोत्तम पबन्ध, परमात्मा के दर्शन पर निष्ठित प्रतिष्ठित वेद-वेदांत से निर्दिष्ट धर्म के अनुसार, बाँधा गया है।

एक पर-ब्रह्म, परम-आत्मा, संख्यातीत, के अंतर्गत दो, अर्थात् पुरुप-प्रकृति; जीव की दो गति, अधोयान-ऊर्ध्वयान; समस्त संसार की द्वंद्व-मयता, (सुख-दुःख, सत्य-मिथ्या, राग-द्वेप, क्रिया-प्रतिक्रिया, तमः-प्रकाश, शीत-उष्ण, अग्नि-षोम, घन-तरल, मृदु-क्रूर, हँसना-रोना आदि); चार आश्रम; चार ऋण; चार जीविका; चार तोषण; चार गुणावस्था, सात्त्विक, राजस, तामस, गुणातीत; चार शारीर अवयव, सिर, धड़, हाथ, पैर; चार अंतःकरण के अंग, बुद्धि, अहंकार, संकल्प-विकल्पात्मक मनस्, चित्त; चार इन के धर्म, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, स्मृति; चार अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय; चार प्राकृतिक नियम, अर्थात्, (१) जीव का विविध योनियों मे विविध शरीरों का ओढ़ना-छोड़ना, (२) क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से परोपकार-रूप पुण्य का फल सुख, और परऽपकार-रूप पाप का फल दुःख, भोगना, (३) वासना के अनुसार कर्म, और कर्म के अनुसार जन्म और मरण, पुनः पुनः; (४) रागात्मक वासना से संसरण मे प्रवृत्ति, वैराग्य से संसार से निवृत्ति। चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—यह समग्र दर्शन और धर्म का संग्रह है।

यदि इस के अनुसार मानव प्रजा आचरण करें तो सब का उचित रीति से शिक्षण, रक्षण, पोषण, धारण हो, और सब का कल्याण हो। यह चार वर्ण वा वर्ग वा पेशे, और चार आश्रम, स्वाभाविक हैं; मनुष्य की प्रकृति के ही बनाये हुए हैं, इन का किसी विशेष धर्म, मज़हब 'रिलिजन' से वा किसी विशेष प्रदेश से, अविच्छेद्य सम्बन्ध अणुमात्र भी नहीं है। 'काम्युनिज़्म', 'बालशेविज़्म', साम्यवाद की परिपाटी से वा 'सोशलिज़्म', समाजवाद की नीति से, वा 'फैशिज़्म', 'कैपिटलिज़्म,' पूँजीवाद की पद्धति से, वा 'लेबरिज़्म', 'प्रालिटेरियानिज़्म' श्रमिक-

वाद' की रीति से, 'डेमोक्रैटिज़्म', प्रजातंत्रवाद, सर्वमानववाद की शैली से, किसी से भी इन सिद्धांतों का आत्यंतिक विरोध नहीं है; यदि विरोध है, तो प्रत्येक के केवल उस अंश से है जो 'आत्यंतिक' है; प्रत्युत, सभी इन का उपयोग कर सकते हैं; सभी को शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक चाहियें ही; जहाँ कहीं मनुष्य हैं और उन का समाज है, वहीं ये चार वर्ग उपस्थित हैं; भारत के प्राचीनो ने इतना ही विशेष किया है, कि मर्यादा बुद्धिपूर्वक बाँध दी है, काम-दाम-आराम का बँटवारा उचित रीति से कर दिया है। जब तक मनुष्य के शरीर के अंग, और चित्त के धर्म, और दोनो की बनावट, वैसी रहेगी जैसी इस समय है, तब तक वर्ण और आश्रम के ये सिद्धांत अटल रहेंगे; और इन के प्रयोग से, तथा इन के ही प्रयोग से, सब अतिवाद, 'एक्स्ट्रीमिज़्म', से उत्पन्न विरोधों का परिहार, और सब वादों का समन्वय, हो सकेगा।[१]

एक आश्रम से दूसरे, तीसरे, चौथे मे, क्रमशः, सब मनुष्य जायँ; तीन ऋण चुका कर, अर्थात् विद्याध्ययनऽध्यापन कर के, सन्तान उत्पन्न कर के, (उतनी ही जितने का वह परिपालन सुख से कर सकैं; पशुओं के ऐसी इतनी अधिक नहीं कि उन का पालन न हो सकै, और अधिकांश उन मे से मर ही जावैं, या रोटी के लिये एक दूसरे के रुधिर के प्यासे हो जावें), तथा विविध लोकोपकारात्मक यज्ञ कर के तब मोक्ष का साधन करैं; तो सब को चारों पुरुषार्थ सिद्ध हों।

जो अपने मे सब को, और सब मे अपने को, देखता है, वही सच्चा स्वराज्य, स्वा-राज्य, उत्तम 'स्व' का राज्य, स्वर्गवत् राज्य, स्थापन कर सकता है। अपने भीतर आँख फेर कर देखने से, संसार के सब भाव, सद्भाव भी असद्भाव भी, पुण्यात्मक भी पापात्मक भी, सभी देख पड़-

---

१ Religion; communisn, socialism, bolshevism; fascism; capitalism; laborism; proletarianism; democratism; extremism.

जाते हैं। इन को जो इस प्रकार से, अंतर्दृष्टि से, देख लेता है, और उन के भेद को निश्चय से समझ लेता है, द्वंद्वमय संसार में सत् और असत् के विवेक को भी और संसार को भी पहिचान लेता है, वह फिर अधर्म मे मन को नहीं लगने देता। अधिकाधिक धर्म की ओर, वैराग्य की ओर, आत्मलाभ ब्रह्मलाभ की ओर, मोक्ष की ओर, चलता है। आत्मा ही सब देवों का देव है; सब इसी मे विद्यमान है, यही सब जगत् चलाने वाला है। इस तथ्य को जिसने जाना, वही समता के, साम्य के, सच्चे अर्थ को पहिचानता है, वही शरीर छोड़ने पर विदेहमोक्ष, ब्रह्म-पद को पाता है। यज्ञ, अध्ययन, दान, सदाचार, दम, अहिंसा आदि सब उत्तम गुणो, कर्मों भावों, पुण्यों, व्यवस्थाओं का परम मूल आत्म-दर्शन ही है।

'सब को' आभ्युदयिक सुख, दुनियावी ख़ुशी, धर्म से अर्जित रक्षित अर्थ से परिष्कृत परिमार्जित काम का सुख भी, और उन के बाद नैश्रेयसिक सुख भी, जिस से बढ़ कर कोई श्रेयस नहीं है, 'मै ही मै सब मे हूँ, सब मुझ मे हैं, मेरे सिवा कोई दूसरा है ही नहीं—इन दोनो सुखों को पाने का निश्चित उपाय जो दिखावे वही 'दर्शन' है; वही 'दर्शन का प्रयोजन' है।

यद् आभ्युदयिकं चैव, नैःश्रेयसिकम् एव च,
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्।

॥ ॐ ॥

अध्याय ७

दर्शन का इतिहास

यद्यपि भारतीय जाति और सभ्यता अति प्राचीन है तद्यपि चीन जाति और सभ्यता इस से भी प्राचीन है। तथापि भारतीय सभ्यता ने कई अंशों मे चीनी सभ्यता से आगे पैर बढ़ाया। भारतीय ऋषियों ने ४९ अक्षरों की वर्णमाला मे समग्र वाङ्मय को समेट लिया; चीनियों ने प्रायः ५००० अक्षर की वर्णमाला क्या शब्दमाला बनाई, जो आज काल के 'शॉर्ट हॅण्ड' की सी है; पर उस को सीखने मे कई वर्ष लग जाते हैं, और तिस पर भी उस के लिखने पढ़ने मे धोखे का बहुत सम्भव बना ही रहता है; अणुमात्र भी किसी रेखा की मोटाई मे वा दिशा मे भेद हुआ कि शब्द दूसरे का दूसरा हो गया। सम्राट् काङ्हसी के समय मे (१६६२-१७२३ ई०) एक बृहत् शब्दकोष बना जिस मे ४४००० शब्द-चिह्न हैं! जहाँ यह दोष है वहाँ एक गुण भी है, कि उसी लिपि को चीनी अपनी भाषा मे पढ़ लेता है, तो जापानी भी अपनी भाषा मे पढ़ लेता है; एक चाल के 'पिक्टोग्राफ़',[१] जैसे ३

---

१ पाठक सज्जनो को इस अध्याय की और पूर्वगत अध्यायों की भाषा मे कुछ भेद प्रतीत होगा। कारण यह है। जब तक भारत देश अखंड था तब तक मेरा मत निश्चित था कि इस की राष्ट्र-भाषा हिन्दी उर्दू मिश्रित 'हिन्दुस्तानी' होनी चाहिये। परन्तु अब, जब कुछ अदूर-दर्शी मुस्लिम नेताओं के अहंकारोन्माद ने हमारी जन्मदात्री भारत माता के, जीते जी, तड़पते हुए दो खण्ड कर ही डाले, तब मेरा वैसा ही

को संस्कृतज्ञ 'त्रि', हिन्दी भाषी 'तीन', फ़ारसी-दाँ 'सिह्', अंग्रेज़ 'थ्री', फ़रासीसी 'त्रोआ' आदि। चीन और भारत मे कब लिखित वर्णमाला का आरम्भ हुआ, यह कहना असम्भव है; १०००० वर्ष से तो कम नहीं। पाश्चात्यों की यह रीति हो गई है कि पौरस्त्य अंकों

निश्चित मत अब है कि हमारी राष्ट्र-भाषा संस्कृताश्रित हिन्दी ही, और लिपि नागरी ही होनी चाहिये, और ये ही दोनों प्रान्तीय मातृ-भाषा के साथ, सब लड़की लड़कों को, क्या हिंदू क्या मुसल्मान क्या ईसाई आदि, अवश्य ही स्कूल कालिजों मे सिखाना चाहिये, और न्यायालयों तथा अन्य कार्यालयों मे प्रयोग कराना चाहिये। मुसल्मान लड़के-लड़की भले ही अपने घरों के भीतर उर्दू भाषा और लिपि अपने माँ-बाप के व्यय से सीखैं। पाकिस्तान मे सब को, हिन्दू मुसल्मान को, उर्दू भाषा और लिपि का प्रयोग करने के लिए विवश किया गया है, अथ किं, पच्छिम पाकिस्तान मे तो हिंदू प्रायः मिटा ही दिये गये हैं—इस का उत्तर यही है। इस के अतिरिक्त यह भी सर्व-सम्मत निर्विवाद नितान्त सत्य है कि नागरी वर्णमाला ही शुद्ध वैज्ञानिक है, जैसी कोई अन्य अक्षरावली पृथ्वीतल पर नहीं है; इस मे लिखे किसी भी भाषा के शब्दों को, यदि उस भाषा का अनजान उच्चस्वर से पढ़े, तो उस का जानकार झट् समझ जावैगा; यह गुण किसी अन्य लिपि को प्राप्त नहीं है। साथ ही इस के, यह भी कहना है कि हम को अंग्रे.जी शब्दों और लिपि से द्वेष करने का कोई कारण नहीं है; उन को, प्रयोजनानुसार, अपनाना ही चाहिये। एवं, अरबी-.फारसी के भी उन शब्दों को जो हिन्दी मे सर्वथा घुल मिल गये हैं, यहाँ तक कि गाँवों की और नगरों की हिंदू स्त्रियाँ भी, जो विशुद्धतम हिन्दी बोलती हैं, उन का प्रयोग करती हैं, और जिन के ठीक तुल्यार्थ पर्याय हिन्दी मे वा संस्कृत मे सहज मे मिलते भी नहीं, यथा 'सि.फारिश' (सुपारिस) 'शिकायत' (सिकाइत), चु.ग़्ली (चुग़्ली) आदि। तथा 'रोमन' लिपि मे नागरी से भी अधिक गुण यह है कि आज काल पृथ्वी के दो सौ कोटि मनुष्यों मे से प्रायः एक

को घटाते ही जाना। उन का मत यह है कि पाणिनि के समय में भारतीय लिखना नहीं जानते थे; यद्यपि पाणिनि के धातु-पाठ में लिख्, लिप्', आदि धातु उपस्थित हैं। ईसाई पादरियों ने यह निश्चय कर लिया था कि समग्र सृष्टि को, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र, तारा आदि को, परमेश्वर ने ईसा के जन्म से ४००४ वर्ष पूर्व बनाया। अब पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है कि समग्र सृष्टि तो अनादि है, पर सौर सम्प्रदाय की उत्पत्ति भी २०० कोटि वर्ष सम्मित काल से कम पहिले नहीं हुई; 'सम्मित' इस लिये की सूर्य की और पृथ्वी की वर्तमानावस्था, जिसी से दिन, मास, वर्ष आदि का मान होता है, उस के बनते-बनते भी कोटियों वर्ष लग गये। यह २०० कोटि की संख्या, वेदांग ज्योतिष की संख्या के तुल्यप्राय है, स्यात् पाँच-छः लाख वर्ष का अन्तर हो। अस्तु।

वृद्धतर होते हुए भी चीन ने भारत को गुरु माना जब उस ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। यों तो चीनी साहित्य का आरम्भ ईसा पूर्व ३० वीं शती में, अर्थात् वेदव्यास और महाभारत के समय में, माना जाता है, जब सम्राट् फ़ूही ने कई रेखात्रिक-लिखे यथा, ☰ ☱ ☲ ☳ ☴ ☵ ☶ ☷ आदि; और इन पर विस्तृत व्याख्या भी लिखी; पर व्याख्या लुप्त हो गई है, मूल त्रिक बच गये। फ़ूही के पीछे, ईसा-पूर्व छठीं शती तक किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ का पता नहीं चलता। छठीं शती में दो बड़े नामी दार्शनिक उत्पन्न हुए—लाओ और कङ्फ़ु; इन नामों के पीछे त्से, त्ज़ु, त्ज़े शब्द बहुधा आदरार्थ लगा देते हैं; उस का अर्थ है

सौ कोटि उसे पढ़-लिख सकते हैं; इस लिये, अन्य देशों के विद्वानों से सम्पर्क बनाये रहने के लिये और उन के उपज्ञों से भारत जनता को अनुवाद द्वारा लाभ पहुँचाने के लिये, अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि का भी ज्ञान हमारे विद्वानों के लिये परम आवश्यक है।

'ज्ञानी', 'दार्शनिक'। कङ्-फ़ुत्से का रूप पाश्चात्यों ने कॉन्फ़्यूशियस् कर दिया है। इन्हीं के समकालीन, भारत मे महावीर जिन और बुद्ध देव, तथा ग्रीस देश मे पैथागोरास, सॉक्रॉटीज़ और प्लेटो हुए—दस-दस बीस-बीस बरस की बड़ाई छुटाई से। लाओ का मत प्रायः शुद्ध वेदान्त ही है, जैसा जिन और बुद्ध का भी, और पैथागोरास, सॉक्रॉटीज़, और प्लेटो का भी। 'पैथागोरास' शब्द को तो, कुछ विद्वान् 'बुद्ध-गुरु' का रूपान्तर ही मानते हैं, अर्थात् 'बुद्ध थे गुरु जिन के', और यह तो प्रायः निश्चित ही है कि पैथागोरास और प्लेटो भारत मे आये और यहाँ के विद्वानो, सन्यासियों, से शिक्षा पाये; तथा प्लेटो का शिष्य ऑरिसॅटाट्ल (जिस को ईरानी अरबी विद्वान् 'अरस्तू' या 'अरस्तातालीस' कहते हैं), जो सिकन्दर का शिक्षक गुरु था उस के साथ भारत आया, और यहाँ से न्याय-शास्त्र और राजनीति के सिद्धान्तों को कुछ टूटा-फूटा सीख कर गया; और उन की नीव पर उस ने कई ग्रन्थ लिखे। सम्राट् चन्द्रगुप्त और उस के गुरु चाणक्य-कौटल्य, अद्वितीय राजनीतिज्ञ, इन के समकालीन थे। एक तो, सिकन्दर, महाराज पुरु से पश्चिमी पंजाब की सीमा पर युद्ध मे हारा और घायल हुआ था; दूसरे, उस ने सुना कि चन्द्रगुप्त के पास, छः लाख पदाति, बीसियों सहस्र रथी और अश्वारोही, तथा छः सहस्र गजारोही, अस्त्र-शस्त्र कवचादि से सुसज्ज हैं; इस सब से उस का उत्साह टूटा और वह लौट गया।

कङ्-फ़ू ने ब्रह्म-विद्या आत्म-विद्या के अति गूढ़ प्रश्नो पर ध्यान नहीं दिया, बरन् सद्‌राजनीति सदाचारनीति के ही प्रचार मे मन लगाया और इस से बहुत सुयश कमाया। चीनियों मे आज तक भी ब्रह्म-विद्या के गूढ़ प्रश्नो पर ध्यान नहीं है, आचार नीति पर ही अधिक है।

लाओ का एक ही ग्रन्थ, बहुत छोटा, ताओ-ते-किङ्, मिलता है; उस के विचार भारतीय उपनिषदों के ऐसे हैं। कङ्-फ़ु के कई ग्रन्थ मिलते हैं—शूकिङ्, शीकिङ्, 'सामयिक सूत्र' ('आनालेक्टस') आदि। कङ्-फ़ु को फ़ूही-रचित रेखात्रिकों मे इतनी प्रभूत आस्था थी कि

शरीर छोड़ने से दो वर्ष पहिले; अर्थात् ७० वें वर्ष मे, उन्होंने एक शिष्य से कहा कि मै इन पर ५० वर्ष से मनन कर रहा हूँ, और यदि पुनः युवा हो जाऊँ तो ५० वर्ष और मनन करूँ। परन्तु उन्हों ने अपने मनन का फल लिखा नहीं। 'सर्वमेतत् त्रिकं त्रिकं' से ही स्पष्ट है कि इन रेखाओं की व्याख्या अनन्त है। इस का स्वल्प प्रमाण मेरे लिखे अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'दि सायंस ऑफ़ पीस', तथा महर्षि-गार्ग्यायण-कृत 'प्रणव-वाद' के अंग्रेज़ी अनुवाद, 'दि सायंस ऑफ़ दि सेक्रेड् वर्ड्', मे दिखाया है; प्रायः पाँच सौ त्रिकों की चर्चा उन मे की है। लाओ सम्प्रदाय मे सब से अधिक प्रसिद्ध क्वाङ् (वा च्वाङ्) हुए, ये कङ्फ़ु सम्प्रदाय के मेङ् के सम-कालीन थे। लाओ से मिलने कङ्फ़ु गये; लाओ ने कहा मेरा सिद्धान्त है कि जो तुम्हें दुःख दे उस को तुम सुख दो; कङ् ने पूछा, 'तब जो मुझे सुख दे उसे क्या दूँ ? मेरा तो मत है कि जो दुःख दे उस को दण्ड दो, जो सुख दे उस को सुख'। २०० वर्ष पीछे क्वाङ् ने इस का उत्तर देने का यत्न किया—'भले के साथ तो भलाई करूँगा ही, पर बुरे के साथ भी भलाई करूँगा, कि वह लज्जित हो कर भला हो जाय'। पर संसार ने लाओ को नहीं माना; कङ् को ही माना; और यही ठीक भी है, तथा कङ् से शतगुणाधिक ज्ञानी, शूर, कर्मण्य, नीति-निपुण ईश्वरावतार कृष्ण की भी यही आज्ञा है। तीसरी शती ई० मे ह्यू नू हुए, जो अपने को कङ्फ़ु सम्प्रदाय का मानते थे, पर गुरु से कई विषयों मे भिन्न मत रखते थे; यथा परलोक को और भले बुरे देवों और पिशाचादिकों को नहीं मानते थे। एक और दार्शनिक, बहुत प्रसिद्ध, मो-त्ती नाम के, पाँचवी शती ई० पू० मे हुए। ये स्वतन्त्र विचार के थे। 'यत् लोकहितं अत्यन्तं तत् सत्यमिति नः श्रुतं', इन का मत था; अंग्रेज़ी मे 'युटिलिटेरियेनिज़्म', 'दि ग्रेटेस्ट हॉपिनेस् ऑफ़ दि ग्रेटेस्ट नम्बर';[1] जो अधिक लोकोपकारी हो, जिस से अधिकतर मनुष्यों को

---

1 Utilitarianism, the greatest happiness of the greatest number.

अधिकतर सुख मिले, वही कर्म उचित है। ठीक ही है; सब धर्म-क़ानून की नींव यही है। चौथी शती ई० पू० मे एक सज्जन याङ्-चू हुए जो स्पष्ट स्वार्थवादी थे; प्रत्येक मनुष्य को अपना सुख साधना चाहिए, दूसरों की भलाई की चिन्ता क्यों की जाय! यदि इन महाशय की माता ने भी ऐसा ही सोचा होता तो इन को अपना मत प्रसारने का अवसर ही न मिलता, उत्पन्न होने के साथ ही किसी नदी मे फेंक दिये गये होते! इस के पीछे कोई विशेष नामी दार्शनिक नहीं हुए। कङ्-फ़ु के मत का प्रचार और आदर सिद्ध हो गया। हाँ, दूसरी ओर, बौद्ध धर्म और दर्शन, जो तत्त्वतः वेदान्त और वर्णाश्रम धर्म ही है, चीन देश मे बद्धमूल हुआ। लाओ-वाद बौद्ध-दर्शन मे लीन हो गया, और चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य मे कुछ थोड़ा अन्तर किया गया। चार के स्थान मे पाँच वर्ण माने गये; सब से ऊँचा ज्ञानी (ब्राह्मण), फिर वणिक् (वैश्य), फिर कृषक (वैश्य), फिर शिल्पी (वणिक्-शूद्र), अन्त मे योद्धा (क्षत्रिय)! मनु के प्रबन्ध मे क्षत्रिय द्वितीय है, और कभी कभी तो (यथा महाभारत के राज-धर्म पर्व मे) प्रथम भी कहा गया है। पर, अब १८९४ ई० के जापान-चीन के युद्ध के पीछे, जिस मे चीन नितरां परास्त हुआ, तथा उस के पीछे जो जापान से तथा पाश्चात्यों से निरन्तर युद्ध होते रहे हैं, जिन मे चीन प्रायः हारता ही रहा है, चीन मे क्षत्रिय की आवश्यकता इतनी अधिक प्रतीत हुई है कि वह ब्राह्मण से भी ऊँचा स्थान पा रहा है। एक बात चीनी वर्ण-धर्म मे अत्युत्तम यह सदा रही है, कि 'कर्मणा वर्णः' का सिद्धान्त माना गया, नीचे वर्ण से ऊँचे मे जाते जो संक्रमण, तथा अन्तर्वर्ण विवाह, भी होता रहा। इसी से वहाँ प्रजा मे 'संघता' बनी रही, और इसी से कई सहस्र वर्ष तक वहाँ एक अखंड साम्राज्य बना रहा। भारत मे, विपरीत इस के, शंकराचार्य (७ वीं ८ वीं शती ई०) के पीछे 'जन्मना वर्णः' के दुष्ट सिद्धान्त के अपनाने से वह संघ-शक्ति नष्ट हो गई और देश नरक मे गिर गया।

विश्व-कोष ('एन्साइक्लोपीडिया') का आरम्भ चीन ही मे हुआ। यों तो और भी कई पहिले बने, पर नामी 'ताय-पिङ्-यु-लान्' हुआ, जो १० वीं शती ई० मे तत्कालीन सम्राट् की आज्ञा से और पर्यवेक्षण मे बना। चीन के अनेक सम्राट् बड़े विद्वान् भी हुए। इस के पश्चात् सब से बृहत्काय और अधिक आदृत 'युङ्-लो-ता-तियेन' नाम का विश्व-कोष बना, विद्वान् सम्राट् युङ् लो की आज्ञा से, १५ वीं शती ई० मे। युङ् लो का उद्देश्य था कि इस मे कङ्फ़ु के विधान पर जो कुछ भी लिखा गया हो, तथा इतिहास, दर्शन, कला, और विज्ञान के सब उपलभ्य ग्रन्थ एकत्र कर दिये जायँ। फल यह हुआ कि २२,९३७ संचिकाओं (जिल्दों) का एक बृहत् पुस्तकागार ही बन गया। इतना बड़ा ग्रन्थ छापना असम्भव था, इस लिये केवल तीन ही हस्तलिखित प्रतियाँ बनाई गई। स्मरण रहे कि छापने की कला भी चीन देश मे ही प्रथम प्रथम उपजी, किन्तु आदि मे पूरा पत्र का पत्र काष्ठ के फलक पर खोद लिया जाता था; अलग अलग 'टाइप' नहीं थे; अब तो सीसे आदि के, पाश्चात्यों की देखा-देखी, बनने और बर्ते जाने लगे हैं, तथा 'स्टीरियो-टाइपिङ्' के रूप मे आदिम 'ब्लॉक-प्रिंटिङ्' का भी पुनः प्रयोग होने लगा है। 'मिङ्'-राज-वंश के पतन पर दो प्रतियाँ नष्ट हो गईं, और १९०० ई० मे 'बॉक्सर' उपद्रव मे तीसरी भी। १८ वीं शती ई० मे 'तू-शू-ची-चेङ्' नामक विश्व-कोष, सम्राट् काङ्-ह्सी के आदेश से आरम्भ किया गया और उन के पीछे सम्राट् युङ्-चेङ् के काल मे पूर्ण किया गया। १९३७ ई० मे फ़ुङ् नामक सज्जन ने 'चीनी दर्शन का इतिहास' छपाया है।

अब जापानी दर्शन की ओर ध्यान देना चाहिये। इस देश का इतिहास उतना पुराना नहीं है जितना चीन वा भारत का। प्रायः ७५० ई० पू० मे आरम्भ हुआ, जिसी समय पश्चिम मे रोम नगर की नीव रॉम्युलस् ने डाली और रोम साम्राज्य का आरम्भ किया। आरम्भ तो हुआ, और इस मे सन्देह नहीं कि पहिले सम्राट् जिम्मू तेन्नो ७ वीं

शती ई० पू० मे हुए, पर ठीक ठीक इतिहास का क्रम ८ वीं शती ई० से ही मिलता है। इस शती के पूर्वार्ध मे दो ग्रन्थ, खोजिकी और निहोंगी, को सम्राज्ञियों की प्रेरणा से संकलित किया गया। इनको ही वहाँ के वेद-पुराण मानना चाहिये; इन मे परम्परागत आगम (ट्रॅडिशन), राजाओं के नाम और चरित, धार्मिक विश्वास, दार्शनिक विचार आदि एकत्र कर दिये हैं। बौद्ध-धर्म और दार्शनिक विचार जापान में, बुद्ध देव के सौ दो सौ वर्ष पीछे ही बौद्ध परिव्राजक भिक्षुओं के हाथों पहुँच गये थे, और तब से आज तक इन्हीं का वहाँ प्राबल्य और प्रचार रहा है। १६ वीं शती ई० मे ईसाई जेस्विट् पादरी पहुँचे और उन्हों ने सहस्रों जापानियों को ईसाई बनाया; और तब से प्रायः १९ वीं शती के मध्य तक इन दोनो मतों का वहाँ संघर्ष और परस्पर मारण उच्चाटन होता रहा। ईसाइयों पादरियों की कृतार्थता का हेतु बौद्ध लामाओं की धृष्टता, दुष्टता, और प्रजापीडन ही हुआ, जैसे भारत मे ब्राह्मणम्मन्यों, क्षत्रियम्मन्यों, वैश्यम्मन्यों की भ्रष्टता और 'छू-मत' नीति से इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म यहाँ फैले। जापान का आदिम धर्म 'शिंतो' था; कुछ सज्जनो का मत है कि यह शब्द 'सिन्धु' 'हिन्दु' का ही रूपान्तर है; और यह प्रायः सत्य ही है, क्योंकि सहस्रों वर्षों से भारत नेपाल तिब्बत बल्ख (वाह्लीक), केकय (तुर्किस्तान, सिंकियाङ्), चीन, जापान, कोरिया (उत्तर कुरु) आदि देशों में आना जाना रहा है; महाभारत मे चीन और चीनांशुक (चीन के बने रेशमी कपड़ों), और रामायण मे 'नेपाल-कम्बलों', तथा केकय देश के पहाड़ी शिकारी भयङ्कर कुत्तों की चर्चा की है। सन् १९०८-९ के आस पास, एक जापानी सज्जन ओकाकुरा ने एक पुस्तक 'ईस्टर्न आइडीयल्स' लिखी, उस मे जापान मे पूजे जाते बहुतेरे हिन्दू देवताओं का बहुत सरस और विचारपूर्ण वर्णन किया है। आज भी, सारनाथ में, अनागारिक धर्मपाल जी के अथक परिश्रम से, जब बुद्धदेव, जिन्हों ने उसी सारनाथ मे २५०० वर्ष पहिले 'धर्म-चक्र प्रवर्त्तन' किया, और साठ

भिक्खुओं को यह आदेश दे कर पृथ्वी से चारो ओर भेजा कि "चरथ, भिक्षवः !, चारिकं, बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय, कल्याणाय देव-मनुष्याणां", वे, साठ करोर अनुयायियों को ले कर पुनः पधारे हैं—तब, उन के नये सुन्दर मन्दिर के भीतर भित्तियों पर, तीन वर्ष महा-प्रयास कर के, जापानी चित्रकारों ने जो चित्र बनाये हैं, वे सब हिन्दू देवी देवों के ही हैं; बुद्ध-देव के विशुद्ध जीवन मे उन्हों ने किस प्रकार से उन की सहायता की, अथवा उन के आत्मबल, वैराग्य, और लोको-पकार-परायणता की परीक्षा के लिये विघ्न डाले—इन्हीं इतिवृत्तों के चित्र हैं । अस्तु ।

किन्तु अब प्रायः अस्सी वर्ष मे, जापान मे यह सब भाव बहुत बदल गये हैं; पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण और पाश्चात्य विज्ञान का आदर और सभ्यास अधिकाधिक बढ़ता गया है, और अद्भुत प्रगति भी सामाजिक जीवन के सभी अंगों मे हुई है, एवं दर्शन की ओर ध्यान कम हो गया है । तौ भी वहाँ के विश्वविद्यालयों मे, इस शास्त्र के पंडित हैं ही और इस की शिक्षा देते हैं, और अध्येता उसे लेते हैं । पाँचवीं शती ई० के अन्त और छठवीं के आदि मे सम्राट् कुमार शोतोकु हुये, अद्वितीय महापुरुष थे, उन के भतीजे सम्राट् की अवयस्कता (माइनॉरिटी) के हेतु से ही स्थानापन्न सम्राट्, 'भोज', के रूप से राजकार्य चलाते थे; जब उन्हों ने ६२१ मे शरीर छोड़ा, तो समग्र देश मे वृद्ध ऐसा रोए मानो उन का निजी पुत्र चला गया, और युवा ऐसा मानो पिता छोड़ गया । इन महापुरुष ने शिन्तो-धर्म, कङ्-फु आचारनीति, और बौद्ध-धर्म और दर्शन का बड़ा सुन्दर समन्वय किया, और देश मे उस का प्रचार किया । इस समय जापान मे प्रायः बारह सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के हैं, उन मे आठ प्राचीन और चार नवीन हैं । इन मे निचिरेन् नामक सज्जन का प्रचार किया हुआ 'ज़ेन' (ध्यान) मार्ग अधिक प्रसिद्ध है । इस मे अब भी सच्चे योगी होते हैं जो समाधिस्थ हो कर दूर की बातों को

देख लेते हैं, जिस की साक्षी पाश्चात्यों ने भी किया है। निचिरेन् बारहवीं शती ई० मे हुए।

सुगिवरा नामक जापानी विद्वान् ने, थोड़े वर्ष हुए, 'हिन्दू लाजिक् ऐज़ प्रिज़र्व्ड् इन् चाइना ऐण्ड जापान' नाम का एक ग्रंथ छपाया है, जिस मे भारतीय न्याय की अच्छी विवेचना की है। अन्य जापानी विद्वानो ने भी भारतीय दर्शन पर गम्भीर ग्रंथ लिखे हैं। यथा यामाकामी-सोगेन ने 'सिस्टेम्स ऑफ़ बुद्धिस्टिक् थॉट', जिस मे बौद्ध न्याय के ग्रंथों पर अच्छा विचार किया है। शर्बाट्स्की नामक रूसी विद्वान् ने भी बौद्ध दर्शनो पर कई अच्छे ग्रंथ लिखे हैं।

तिब्बत, बर्मा, स्याम, जावा, सुमात्रा, सिंहल द्वीप आदि देशों मे बौद्ध और हिन्दू धर्म का ही प्रचार रहा, दर्शन भी ये ही थे। हाँ, तिब्बत आदि उत्तरीय देशों में महायान सम्प्रदाय का प्राबल्य रहा है, और सिंहल (सीलोन) में हीनयान का। इन दोनो का वही भेद है जो रामानुजाचार्य के भक्तिप्रधान ज्ञानमार्गी विशिष्टाद्वैत और शंकर के विरक्ति-ज्ञानमार्गी अद्वैत का। दोनो मे कई कई अवान्तर सम्प्रदाय हो गये हैं। यह भी प्रकृति का नियम ही है, परमात्मा की एकता से सर्वत्र एकत्व, समन्वय, और विरोध-परिहार, तथा प्रकृति के नानात्व से सर्वत्र अनैक्य, भेदभाव, और विरोध। आज हिन्दू-धर्म में पाँच सात सौ परस्पर विवदमान पंथ हैं, इस्लाम मे प्रायः सौ, ईसाइयों मे प्रायः पाँच सौ, एवं बौद्धों में भी पचासों, तथा जैनो मे भी। तिब्बत में, १४ वीं शती ई० में एक बड़े प्रतापी दलाइ लामा 'त्सोङ् खा पा' हुए जो गौतम बुद्ध के अवतार ही माने जाते हैं। इन्हीं ने तिब्बत के राज्य-प्रबन्ध को, तथा ऋषियों के उच्चावच अधिकारों को, नया रूप दिया, और ज्ञानप्रचार का बहुत प्रोत्साहन किया। तिब्बत की राजधानी ल्हासा के राजमहल 'पोताला' मे बहुत बड़ा पुस्तकागार है।

बुद्धदेव ने जनता को सुख से बोध्य हों, इस लिये अपने व्याख्यान उस समय की प्रचलित बोली पाली मे दिये, पर उन के सौ दो सौ वर्ष

पीछे ही, संस्कृत का ऐसा माहात्म्य है कि, सब बौद्ध ग्रंथकारों ने संस्कृत मे ही लिखना आरम्भ कर दिया। सब से अधिक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ सब संस्कृत मे ही हैं। विख्यात ही है कि संसार के दुःखों, तथा जनन-मरण के पौनःपुन्य से मोक्ष पाने के ही लिये बुद्धदेव ने वैराग्य और ज्ञान का उपदेश किया, पर यह प्रसिद्ध नहीं है कि उन्हों ने सद्गार्हस्थ्य और सत्समाज-व्यवस्था के उपायों का भी उपदेश किया, और वही किया जो उन से सहस्रों वर्ष पहिले भगवान् मनु और कृष्ण ने किया। समाज व्यवस्था मे, उन के समय से कुछ शतियों पहिले से, 'जन्मना वर्णः' का जो विष भर गया था, और जिस से हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म मुमूर्षु हो रहा था, उस का उन्हों ने मनु-कृष्णादि-अभिमत 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांतों का पुनः प्रचार कर के अपनोदन किया, भारतवर्ष को बारह सौ वर्ष के लिये नया जीवन दिया, और इसी परिष्कृत परिशोधित सनातन-आर्य–बौद्ध–मानव धर्म को, पूर्व मे चीन, जापान, बर्मा आदि, उत्तर मे तिब्बत, साइबीरिया, दक्षिण में सीलोन, जावा, सुमात्रा, बाली आदि, पश्चिम मे फ़िलिस्तीन, सीरिया आदि तक फैलाया, और बृहत्तर भारत की नींव डाली। इन विषयों मे वेदान्त-धर्म और बौद्ध-धर्म मे मनाक् भी भेद नहीं है, तथा दोनो मे पुनः वही भ्रष्टता उत्पन्न हो गई, अर्थात् कर्म मार्ग के सर्वथा उच्छेद का प्रयत्न, तथा असंख्य मूर्तियों की पूजा। इस विषय पर मै ने 'समन्वय' और 'पुरुषार्थ' नामक हिन्दी और 'मानव-धर्म-सार' नामक संस्कृत ग्रंथ मे विस्तार से लिखा है।

बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं (१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक, पाँचवाँ एक शून्यवाद भी कहा जाता है। दर्शन के अन्तिम प्रयोजन के विषय मे सब मे एकवाक्यता है, सभी निर्वाण अर्थात् मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। (१) के प्रसिद्धतम ग्रन्थकर्ता वसुबन्धु (चौथी शती ई०) हुए; (२) के कुमारलब्ध, (३) के असंग और दिङ्नाग (दोनो ४र्थ शतीय), (४) के नागार्जुन और शांतरक्षित। नागार्जुन अद्भुत विद्वान् हुए, न केवल

अद्वितीय दार्शनिक अपितु अद्वितीय वैज्ञानिक और दक्षिण-मार्गी तांत्रिक; किंवदंती है कि आयुर्वेद मे रसौषधों का आविष्कार और प्रचार प्रथम-प्रथम इन्हों ने ही किया; इन के सैकड़ों वर्ष पीछे गोरक्षनाथ ने उस को कुछ आगे बढ़ाया। ये दूसरी शती ई० मे हुए। सभों के कुछ कुछ ग्रंथ मिलते हैं और अब कई छप भी गये हैं। दिङ्नाग प्रकांड पण्डित और बड़े तार्किक हुए; इन को लोग कालिदास का समकालीन मानते हैं, क्यों कि 'मेघदूत' मे श्लेषात्मक ये शब्द मिलते हैं, 'दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्'।

जैन दर्शन का भी प्रयोजन आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति और मोक्ष ही है। महावीर जिन ने भी चातुर्वर्ण्य का संशोधन वैसे ही स्पष्ट शब्दों मे किया है जैसा गौतम बुद्ध ने, अर्थात् 'कर्मणा वर्णः' का प्रचार और 'जन्मना वर्णः' का खंडन। यों तो ग्रन्थ बौद्धों के भी, जैनो के भी, बहुत हैं, पर बौद्धों मे 'धम्म-पद' और 'खुद्दक-पाठ' का वही स्थान है जो सनातन धर्मियों मे भगवद् गीता का; तथा अब तीन चार वर्ष हुए कुछ जैनी सज्जनो ने 'महावीर वाणी' नामक ३५० प्राकृत श्लोकों के एक बहुत उत्तम ग्रन्थ को छपवा कर प्रकाश किया है जिस मे समय-समय पर स्वयं जिन के कहे हुए श्लोकों का संग्रह किया है; यह ग्रन्थ भी धम्म-पद और गीता का समकक्ष है।

जैनो मे उमा स्वामी को (जिन को उमा स्वाती भी कहते हैं) श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो सम्प्रादायों के अनुयायी बहुत आदर से देखते हैं। इन दोनो सम्प्रदायों का भी भेद वैसा ही है जैसा महायान और हीनयान का। उमा स्वामी का प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र' वा 'तत्त्वार्थ-सूत्र' है। थोड़े से सूत्रों मे समग्र सिद्धान्त एकत्र कर दिये हैं। शुद्ध अद्वैत वेदान्त को ही थोड़े थोड़े शब्दों मे इस मे कहा है। यह सज्जन प्रायः दूसरी शती ईसवी मे हुए। जैन सम्प्रदायों के अन्य प्रकांड विद्वान् और ग्रन्थकार समन्तभद्र, कुन्द कुन्द, आदि बहुत हुए; पर सब से अधिक प्रसिद्ध और बहुमुखीन विद्वान् हेमचंद्राचार्य हुए। गुजरात-देशी

राजा कुमारपाल के ये प्रधान गुरु, उपदेशक, मंत्री, पुरोहित, सब कुछ थे। प्रसिद्ध है कि इन्हों ने प्रायः अध्यर्ध कोटि श्लोकात्मक ग्रन्थ लिखे, और सनातनियों ने भी इन का वैसा ही आदर किया जैसा जैनो ने, तथा इन को 'कलियुग सर्वज्ञ' और 'कलियुग वेदव्यास' की पदवी दिया। 'हैम' कोष इन का प्रसिद्ध है, पर अब तक छपा नहीं है; यह खेद का विषय है, क्योंकि प्रचलित 'अमर कोष' से बहुत बड़ा है। , 'देशिनाम-माला' नामक ग्रन्थ मे अपने समय के भूगोल का वर्णन किया है। 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित' नाम जैन पुराण लिखा है; इत्यादि। अहिंसावादी जैन होते हुए भी, कुमारपाल को राजकीय क्षात्र धर्म का ही उपदेश किया, और उपद्रवियों, आततातियों, प्रजापीड़कों, आक्रामकों से युद्ध करवा के उन दुष्टों को मरवाया। इन का समय १२ वीं शती ई० है। स्मरण रखने की बात है कि आज तक सनातनी पंडितों मे भी बालक को संस्कृताध्ययनारम्भ मे 'अमर कोष' ही रटाते हैं, जो अमरसिंह जैन की कृति है। प्रथा है कि इन्हीं के शिष्य अमरचन्द्र सिद्ध कवि हुए जिन का महा काव्य 'बाल-भारतं', प्रायः पचास वर्ष हुए, बम्बई की 'काव्य-माला' मे क्रमशः छपा तथा पीछे स्वतंत्र पुस्तक रूप से; प्रचलित माघ, किरात, ऋतुसंहार आदि काव्यों से बहुत अधिक सुन्दर और प्रायः अश्लीलता-रहित, नैषध और रघुवंश के समकक्ष, काव्य है। ये ईसा की १३ वीं शती मे गुजरात प्रान्त मे राजा वीसल देव के प्रधान सभापंडित हुए। खेद है कि 'बाल-भारत' का आदर पठन-पाठनार्थ पंडितों मे नहीं है; होना चाहिये। ऐसे ही आयुर्वेदाचार्य भिषक् शिरोमणि वाग्भट भी, जिन का ग्रन्थ अष्टांगहृदय', सुश्रुत चरक के समकक्ष माना जाता है, सिन्धु-प्रान्त-निवासी जैन ही थे; इन का काल प्रायः १२ वीं शती ई० समझा जाता है। निष्कर्ष यह है कि जैनो मे भी बड़े-बड़े विद्वान् , सब शास्त्रों के, हो गये हैं।

यद्यपि सनातनियों, जैनो, बौद्धों मे परस्पर राजस तामस संघर्ष होता रहा, और कभी कभी बहुत रक्तपात भी, तथापि अधिकतर शास्त्रों की

रचना और ज्ञानो के विस्तार मे सात्त्विक प्रतिस्पर्धा ही रही, जिस का फल यह हुआ कि तीनो ने उत्तम उत्तम ग्रन्थ विविध विषयों पर लिखे और भारत का मुख उज्ज्वल किया; तथा अधिकांश एक ही घर मे दो के, या तीनो के, मानने वाले सम्बन्धी, मेल से रहते थे, जैसा जापान मे, कि पिता शिन्तोई, माता बौद्ध, बेटा ईसाई । भारत से बौद्ध धर्म के लोप का रूप और उस के हेतु मै ने अन्य उपर्युक्त हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थों मे दर्शाये हैं । उत्तर भारत मे आज तक, जैन वैश्यों और वैष्णव वैश्यों मे वैवाहिक सम्बन्ध बाराबर होते हैं ।

अब भारत के सनातनी दार्शनिकों को देखिये । प्रसिद्ध है कि प्रायः दस सहस्र वर्ष पूर्व, अर्थात् वैदिक और पौराणिक काल मे, उपनिषत् लिखे गये । दश, अथवा कौशीतकि और श्वेताश्वतर को मिला कर, क्यों कि इन पर भी शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, द्वादश उपनिषत् मुख्य और प्राचीन माने जाते हैं । इन मे भी माध्यन्दिनी शाखा का ईशोपनिषत् मुख्यतम है, क्योंकि शुक्ल यजुः की संहिता भाग का ४० वाँ और अंतिम अध्याय है । इस को छोड़ एक ही उपनिषत् ऐसा है जो भी संहिता का अंग है, अर्थात् कृष्ण यजुः की मैत्रायणी शाखा के संहिता भाग का चालीसवाँ अध्याय, जो मैत्रायणी उपनिषत् कहाता है । इस उपनिषत् का विशेष यह है कि इसी मे सत्त्व-तमस्-रजस् और ज्ञान-इच्छा-क्रिया और विष्णु-शिव-ब्रह्मा की पर्यायता स्पष्ट कही है । यों तो सत्त्व-तमस्-रजस् शब्द दसियों उपनिषदों मे मिलते हैं, पर कहीं दूसरे अर्थों मे, कहीं अस्पष्टार्थ रूप से जिस का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने किया है । उपनिषदों मे पचासों ऋषियों के नाम दिये हैं, जिन की जीवनी का कुछ भी पता नहीं चलता, दो चार को छोड़ कर, जिन की चर्चा पुराण-इतिहास मे की गई है; यथा उद्दालक और उन के नियोगज पुत्र श्वेतकेतु, जिन्हों ने, महाभारत के अनुसार, प्रथम प्रथम भारत मे विवाह और श्राद्ध की मर्यादा चलाई; इन मूल उपनिषदों के पीछे, समय समय पर सतत नये नये उपनिषदों को लोग बनाते रहें; यहाँ तक कि

मुग़ली राज मे, प्रायः शाहजहाँ के पुत्र दारा शिकोह के (जो वेदान्त का बहुत रसिक था) समय मे एक अल्लोपनिषत् भी बन गया ! अस्तु।

उपनिषदों मे ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, और तत्सम्बद्ध अध्यात्मविद्या का प्रतिपादन किया है—यह प्रसिद्ध ही है। "ब्रह्मविद्या सर्वविद्या-प्रतिष्ठा", "अध्यात्मविद्या विधानां।" पर "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।" उपनिषत्, गीता, और बादरायणीय ब्रह्म-सूत्र की, जो 'प्रस्थानत्रय' कहे जाते हैं, व्याख्या विविध प्रकारों से की गई है। शंकर और रामानुज की चर्चा ऊपर की गई; इन के अतिरिक्त, आठ दस भाष्य और हैं, मध्व, निम्बार्क, भास्कर, यादवप्रकाश, केशव, नीलकंठ, बलदेव, वल्लभ, विज्ञान भिक्षु, द्रमिड, बोधायन, प्रभृति। इन मे पाँच प्रसिद्ध हैं, शेष अप्रसिद्ध और लुप्तप्राय। गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है; सैकड़ों अनुवाद पचासों भाषाओं मे इस के, तथा सहस्रों व्याख्या, कई कई भाषाओं मे, इस पर लिखे और छापे गये, और अब भी लिखे छापे जा रहे हैं। शंकराचार्य का समय ७ वीं ८ वीं शती ई० माना जाता है। ब्रह्मसूत्र पर इन के भाष्य का नाम शारीरक-भाष्य और मत 'अद्वैत' है। शंकर के प्रगुरु गौड़पाद की मांडूक्य-कारिका सर्वमान्य ग्रन्थ है; इस मे सुगत बुद्ध का आदर-सहित उल्लेख है; परन्तु शारीरक भाष्य मे, शंकर ने बौद्ध-मत का खंडन किया है। प्रसंगवश यह कह देना उचित है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र बादरायण के नाम से प्रसिद्ध हैं; 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' इन शब्दों से गीता मे जिन सूत्रों का संकेत है, वे कृष्ण के समकालीन कृष्ण द्वैपायन के रचे होंगे; क्या वे सूत्र लुप्त हो गये ? पंडित मंडली मे प्रथा है कि कृष्ण द्वैपायन का ही दूसरा नाम बादरायण था; पर इस विश्वास के लिये कोई प्राचीन प्रमाण, पुराणादि, वा स्वयं प्रचलित सूत्रों मे नहीं मिलता है। शंकर ने सौगत अर्थात् बौद्ध मत का खंडन, अ० २, पा० २, मे, तथा जैनागम का भी किया है; इस से स्पष्ट है कि शंकराचार्य, बुद्ध और जिन से पीछे हुए; इतिहास से सिद्ध है कि प्रायः १२०० वर्ष पीछे हुए; और कृष्ण-

द्वैपायन बुद्ध से प्रायः २५०० वर्ष पहिले हुए। प्रचलित ब्रह्म-सूत्रों मे सुगत और जिन का नामोल्लेख नहीं है। एक बात और लिखने के योग्य है; द्वारका-स्थित शारदापीठ की आचार्यों की सूची से विदित होता है कि आदि शंकराचार्य, जिन्हों ने शारदा-मठ की स्थापना की, बुद्ध के प्रायः अस्सी वर्ष पीछे हुए, पर उन के रचे भाष्य का पता नहीं है। यह भी, माधवाचार्य रचित 'शंकर-दिग्विजय' मे, लिखा है कि शारीरक भाष्यकार शंकर से आठ दिन तक विवाद कर के पराजित हो कर मंडन मिश्र जब उन के शिष्य और संन्यासी हो गये तब मंडन की पत्नी शारदा ने शंकर से १७ दिन जल्प किया, और वह भी पराजित हुई, तब शंकर ने उसी के नाम से द्वारका मे शारदा-मठ की स्थापना की; इत्यादि कथाएँ हैं; निश्चित नहीं।

रामानुज से कुछ पहिले, अथवा समकालीन, निम्बार्क हुए, ११ वीं शती ई० मे, इन्हों ने भी ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य लिखा। इन का सम्प्रदाय लुप्तप्राय है; मध्व को पूर्णप्रज्ञ और आनंद तीर्थ भी कहते हैं; इन का जन्म ११९९ ई० मे, दक्षिण भारत के कन्नड़ प्रांत मे हुआ; ये सर्वथा द्वैतवादी विष्णु के भक्त थे, ब्रह्मसूत्र और गीता पर भाष्य लिखा; अपने विचारों के लिये पुराणो का आश्रय अधिक लिया है। इन का सम्प्रदाय अब भी, दक्षिण मे, कुछ चलता है; पर कम होता जाता है।

शंकर, रामानुज, और वल्लभ के ही सम्प्रदाय भारत मे अधिक चल रहे हैं। रामानुज का समय ११ वीं १२ वीं शती, ब्रह्मसूत्र पर इन के भाष्य का नाम श्री-भाष्य है, और मत 'विशिष्टाद्वैत'। वल्लभाचार्य का समय १५ वीं १६ वीं है; इन के भाष्य का नाम अणुभाष्य और मत 'शुद्धाद्वैत'। यूरोपीय मार्टिन लूथर और पंचनदीय गुरु नानक के सम-कालीन थे। इन के मत का बहुत प्रचार हुआ क्योंकि विरक्ति का प्रयोजन नहीं, कृष्ण की भक्ति, पूजा, और उन्हीं का अनुकरण करो—दुष्ट-दमन, राक्षस-हनन, कौरव-पांडव युद्ध मे अर्जुन के सारथ्य-करण का नहीं—रास लीला, चीरहरण लीला, दही-माखन-चोर लीला का।

आज भी जहाँ जहाँ वल्लभ-कुलियों के गोपाल मंदिर हैं वहाँ वहाँ अच्छे से अच्छा भोजन पान, व्यभिचार, वेग से चल रहा है। वाल्लभ 'दर्शन का प्रयोजन' यह है। इस का वर्णन मै ने 'पुरुषार्थ' ग्रन्थ मे विस्तार से किया है। वल्लभ के मत को 'पुष्टिमार्ग' भी कहते हैं; ठीक ही है; इस मत के गोस्वामी महोदय प्रायः पुष्ट ही, स्थूल ही, देख पड़ते हैं, यदि व्यभिचार-जनित उपदंश मूत्र-कृच्छ्र आदि रोगों से ग्रस्त न हो गये हों तो।

इन के समकालीन विज्ञान भिक्षु संन्यासी अच्छे विद्वान् हो गये; सब दर्शनो पर इन के भाष्य हैं; ब्रह्मसूत्र के भाष्य का नाम 'विज्ञानामृतभाष्य' ही है। कपिल के सांख्य सूत्र तो मिलते नहीं; उन के पारम्परिक शिष्य ईश्वर-कृष्ण की सांख्य-कारिका ही अब इस दर्शन का मूल और प्रामाणिकतम ग्रन्थ माना जाता है। ईश्वर-कृष्ण प्रायः ईसा मसीह के समकालीन थे। विज्ञान भिक्षु ने सांख्य-सूत्र रच डाले और उन पर 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' भी लिख दिया।

ब्रह्म-सूत्र के मुख्य भाष्यकार ये छः ही हैं; अन्यों का प्रचार नहीं के तुल्य है। वाल्लभ-साम्प्रदाय मे त्रिरत्न के साथ चतुर्थ रत्न श्रीमद्भागवत है; जो अन्य तीन रत्नो से, क्या वेदों से भी, बढ़ कर है; भागवत पर वाल्लभी टीका 'सुबोधिनी' ही अधिक पढ़ी पढ़ाई जाती है, अणुभाष्य तो नाम मात्र को; पर श्रीधर की टीका सब से अच्छी है।

रामानुज के किसी शिष्य प्रशिष्य की एक गर्वोक्ति है जिस से उन के समय मे माना हुआ दर्शनो का काल-क्रम जाना जाता है;

गाथा तथागतानां गलति, गमनिका कापिली क्वापि लीना,
क्षीणा काणाद-वाणी, द्रुहिण-हर-गिरः सौरभं नारभन्ते,
क्षामा कौमारिलोक्तिः, जगति गुरुमतं गौरवाद् दूरवान्तं,
का शंका शंकरादेः भजति यतिपतौ भद्रवेदीं त्रिवेदीम्।

तथागतों बौद्धों की गाथा गल गई, कापिल सांख्य कहीं लीन हो

गया, काणाद अक्षपाद की वैशेषिक वाणी क्षीण हुई, जैमिनि-कृत मीमांसा-सूत्र पर शाबर भाष्य की तंत्रवार्त्तिक नामक टीका रचने वाले कुमारिल की उक्तियाँ क्षाम हो गईं, गुरु प्रभाकर का मीमांसा मत अतिगुरु गरिष्ठ दुर्बोध होने के कारण दूर फेंक दिया गया, शंकरादिकों की क्या शंका है जब रामानुजाचार्य त्रिवेदी के पांडित्य के भद्रासन पर विराजमान हैं !

प्रभाकर को 'गुरु' पदवी कैसे मिली—इस के सम्बन्ध मे पंडित मंडली मे प्रसिद्ध एक रोचक कथा है। प्रभाकर, अन्य शिष्यों के साथ पढ़ रहे थे, गुरु जी पढ़ा रहे थे; जिस हस्त-लिखित ग्रन्थ को पढ़ा रहे थे, उस मे एक स्थान पर आया "पूर्वंतुनोक्तमिदानीमपिनोच्यते", जिस का अर्थ होता है, 'पहिले तो नहीं कहा, अब भी नहीं कहा'; गुरु जी चक्कर मे पड़े; इस दीर्घ शंका मे पड़े उन को लघु शंका लगी, उस को निवृत्त करने को उठ कर दूसरे स्थान को गये; इसी अवसर मे प्रभाकर ने पत्रे के मर्म (हाशिये) पर लिख दिया, "पूर्वं तुना उक्तं, इदानीं अपिना उच्यते", 'पहिले तु-शब्द से कहा, अब अपि-शब्द से कहते हैं।' गुरु जी लौटे, देखा, बहुत प्रसन्न हुए, पूछा 'किस ने यह टिप्पणी की ?'; अन्य शिष्यों ने बताया; कहा 'आज से, मै नहीं, तुम गुरु हो' ! संस्कृत की आधी से अधिक कठिनाई इस हेतु से है कि संधि का छेद नहीं किया जाता, और पहिले, जब छापने की विधि नहीं ज्ञात थी तब, सब शब्द एक साथ सटा कर हाथ से लिखे जाते थे। यदि संधियों का छेद कर दिया जाय, और शब्द अलग अलग लिखे और छापे जायँ तो संस्कृत बहुत सरल हो जाय ।

एक मेरे मित्र विद्वान् पंडित ने वार्त्तालाप मे प्रसङ्ग-प्राप्त कहा कि 'दो ही तो दर्शन हैं, अद्वैत वेदान्त वा नास्तिक चार्वाकीय; सब आत्ममय ब्रह्ममय है, सभी अपने हैं, हमी हैं, सब संसार का रोना हँसना हमारा ही हँसना रोना है; वा खाओ, पीयो, मौज करो, "आप मरे जग परलो"; "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्,

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः", 'जब तक जीयै, सुख से जीने का जतन करै, ऋण काढ़ के घी पीयै, भस्म हो गया देह कहीं फिर आता है ?!'—पंडित जी स्वयं नैयायिक थे, पर आस्था वेदान्त ही मे थी।

कुमारिल, शंकर से कुछ पहिले हुए; मंडन मिश्र, पहिले मीमांसक और कर्मकांडी, शंकर से जल्प मे परास्त होने के पीछे अद्वैती सन्यासी, उन के समकालीन थे; कुछ का कहना है कि इन्हीं ने सुरेश्वराचार्य के नाम से शंकर के उपनिषद्भाष्यों पर वार्त्तिक लिखे, जिन मे बृहदारण्य का बहुत प्रसिद्ध है; 'वार्त्तिकान्ता ब्रह्मविद्या', ऐसी प्रथा है। कुछ लोग कहते हैं कि मंडन से सुरेश्वर भिन्न थे। जो हो। इतिहास का भारत मे सदा अभाव रहा है। यों तो अद्वैतवाद पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञ मुनि का संक्षेप-शारीरक, चित्सुख की चित्सुखी, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत-सिद्धि, और नैषध-काव्य-रचयिता श्री-हर्ष के खंडन-खंड-खाद्य का विशेष आदर है। श्री-हर्ष, स्थानेश्वर (वा स्थाण्वीश्वर) के महाराज जयचन्द्र (भारत के अन्तिम भारतीय सम्राट् पृथ्वीराज के समकालीन) के सभा-पंडित थे; चित्सुख, १३वीं शती ई० मे हुए; मधुसूदन बंगाली थे, काशी मे ही इन्हों ने अपने सब ग्रन्थ लिखे; वल्लभ के समकालीन थे; इन का एक ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसायन' भी है, पर उपलभ्य नहीं है; अन्य ग्रन्थों मे उद्धृत उस के श्लोकों से ही उस का पता चलता है। महासमृद्ध विजयनगर साम्राज्य के द्वितीय सम्राट् बुक्कराय के महाविद्वान् महामंत्री (प्रसिद्ध वेद-भाष्य-कार सायण के भाई) माधव ने सन्यास लेने के पीछे अद्वैतवाद पर कई अति उत्तम ग्रन्थ लिखे जिन मे पंचदशी तो बहुत ही प्रसिद्ध है; ये १४वीं शती ई० मे हुए।

कणाद, अक्षपाद गौतम, कपिल, द्रुहिण, हर आदि सब बुद्ध के पीछे और ईसा से पहिले हुए; यद्यपि इन के मत इन से बहुत पहिले से चले

आते हैं; इन लोगों ने उन्हीं पुरानी बातों को नये शब्दों मे फिर से सूत्र भाष्यादि रूप मे लिख दिया ।

व्याकरण दर्शन का स्फोटवाद भारत की विशेषता है । इस विषय पर अन्य किसी देश मे विचार नहीं हुआ । कहा जाता है कि इस का आरम्भ पाणिनि ने किया, पर यह भूल है; वेद संहिता की एक ऋचा मे यह समग्र दर्शन रख दिया है ,

> चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
> तानि विदुर् ब्राह्मणाः ये मनीषिणः,
> गुहा त्रीणि निहिताः न इङ्गयन्ति,
> तुरीयां वाचं अभि मनुष्याः वदन्ति।

वाक् के चार क्रम हैं, विकासन मे; चौथी तुरीया वैखरी वह जिस का मनुष्य मुख से उच्चारण करते हैं; अन्य तीन परा, पश्यन्ती, मध्यमा, गुहा मे छिपी हैं । परावाक् परमात्मा का काम-संकल्प ही, त्रिकाल-संग्राही; पश्यन्ती कारण शरीर की, मध्यमा सूक्ष्म शरीर की, बोली है ।

पाणिनि का समय कुछ लोग बुद्ध से सौ दो सौ वर्ष पहिले, कुछ इतना ही पीछे बताते हैं; ठीक कहना कठिन है । पैशाच भाषा मे लक्ष-श्लोकात्मक बृहत्कथा के (जिस का उत्तम संस्कृत श्लोकों मे सोमदेव भट्ट ने, ११वीं शती ई० मे कश्मीर के महाराज अनन्तराज की विदुषी रानी सूर्यवती देवी की इच्छा से २४००० श्लोकों मे अनुवाद किया) रचयिता गुणाढ्य कवि ने, ग्रन्थ के आदि मे, 'कथापीठ-लम्बक' मे, पाणिनि, व्याडि, वर्ष, उपवर्ष, कात्यायन (उपनाम वररुचि), पतंजलि, चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि सब को समकालीन बना दिया है । यह स्पष्ट ही मिथ्या है । पतंजलि, चाणक्य, चन्द्रगुप्त तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इन के समय ज्ञात हैं; अन्तिम दो, सिकन्दर के समकालीन, ४थी शती ई० पू० के अन्त और तीसरी के आदि मे हुए; तथा पतंजलि, "यवनः साकेतं

(अयोध्यां) रुरुधे" और "पुष्यमित्रं याजयामः" आदि उन के महाभाष्य-स्थ वाक्यों से ई० पू० दूसरी शती के अंत मे वर्त्तमान प्रमाणित होते हैं।

विष्णुगुप्त, (चाणक्य, कौटल्य, वात्स्यायनाद्यपरनामक)[१] के रचे जगत्प्रसिद्ध पंचतंत्र मे एक श्लोक मिलता है जिस से जान पड़ता है कि चाणक्य से कुछ ही पूर्व पाणिनि, जैमिनि, पिंगल, कात्यायन आदि हुए,

सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुर् अरहत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
छन्दो-ज्ञान-निधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं,
मीमांसाकृतं उन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिं,
मोहेन ऽऽवृत-चेतसां अतिरुषां कोऽर्थः तिरश्चां गुणैः।

व्याकरणकार पाणिनि को सिंह ने मारा डाला, छंदः-सूत्र के रचयिता पिंगल को तिमि (समुद्र का मांस भक्षक मत्स्य 'शार्क') खा गया, मत्त हाथी ने मीमांसा-सूत्र-कार जैमिनि को कुचल डाला; अज्ञान से अन्धे पशुओं को गुणों की क्या पहिचान! कोई लोग दूसरी पंक्ति के स्थान मे यों पढ़ते हैं,

कुम्भीरो निजघान वार्त्तिककरं कात्यायनं सन्मुनिं,

मगर ने पाणिनिसूत्र पर वार्त्तिक रचनेवाले कात्यायन को मार डाला।

चतुर्दश माहेश्वर सूत्र तो पाणिनि से बहुत पुराने हैं, और व्याकरण भी उन के पहिले ही बहुत बने थे; आठ का नाम तो स्वयं पाणिनि ने कहा है; बृहत्कथा मे औरों के नाम भी, रोचक कहानियों के साथ, कहे हैं। पर पाणिनि ने उन प्राचीनों के उत्तम अंश को समेट कर अपने समय के लिये नया संस्करण कर दिया, इस से उन का नाम बहुत विख्यात हो गया। अस्तु।

१ प्रचलित 'पंचतंत्र' मे, आदि मे, तथा अन्य कई स्थलों मे 'चाणक्य' को नमस्कार, उन की नीतिज्ञता, की प्रशंसा आदि की है, जिस से यह अनुमान हो सकता है कि विष्णुगुप्त चाणक्य से भिन्न व्यक्ति थे, पर पंडित मंडली मे प्रथा यही है कि दोनों, अथ च छः और, एक ही व्यक्ति के हैं, जो चंद्रगुप्त मौर्य के गुरु और महमंत्री भी थे।

ऊपर कह आये हैं कि प्राचीन षट् आस्तिक सूत्र-भाष्य-कारों में कोई वैमत्य नहीं है, केवल शब्दों का भेद है, जिस भेद से एक ही वस्तु सत् के, एक ही तथ्य के, नये नये अंग, अंश, अस्र, रूप देख पड़ते हैं। किन्तु, अर्वाचीन दार्शनिकों ने तो भेद ही पर बल दिया है, विरोध ही को बढ़ाया है, और भाषा को अधिकाधिक जटिल और दुर्बोध करते गये हैं। गंगेश (१२ वीं शती) ने नव्यन्याय का आरम्भ किया; उन के शिष्य प्रशिष्यों ने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की 'शागीली' भाषा को बहुत बढ़ाया। उन की देखादेखी नव्यव्याकरण, नव्यमीमांसा, नव्यवेदान्त भी आरम्भ हुए; पुरुषार्थ-साधकता पर ध्यान नहीं, पांडित्य-प्रदर्शन ही प्रयोजन और अभीष्ट। सब संस्कृत वाङ्मय भ्रष्ट हो गया। सहस्रों ग्रन्थ लिखे गये; उन की चर्चा करना व्यर्थ है।

अब यूरोप-एशिया के मध्य भाग, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, अरब, शाम, रूम फ़िलिस्तीन आदि के दर्शन की कथा सुनिये। यहाँ दार्शनिकों की दो परम्परा है, एक तो यूनानी (ऐयोनियन, यवनी) ग्रीक देशी सु.क्रात (सॉक्राटीज़), अफ़्लातूँ (प्लेटो), अरस्तातालीस (ऑरिस्टॉट्ल) की, दूसरी सूफ़ियों की। प्लेटो और ऑरिस्टॉट्ल के ग्रन्थों का उल्था अरबी और इब्रानी ('हीब्रू', यहूदी) भाषाओं में किया गया, और उस पर अरबों ने, इस्लाम की (७वीं-८वीं शती ई०) उत्पत्ति के पीछे, और यहूदियों ने उस के बहुत पहिले से ही, अच्छी अच्छी शरहें, टीका, लिखीं। अरबों ने प्रायः यहूदी अनुवादों से ही अनुवाद किया, क्योंकि यहूदी धर्म और भाषा बहुत पुरानी हैं, और उन का सम्पर्क ग्रीकों से अधिक था, देशों की सीमा मिलने के हेतु से। यहूदियों में प्रसिद्ध दार्शनिक नाम ये हैं—फ़ाइलो (ई० पू० १००), सादिया (१०वीं शती ई०), बाख़िया इब्न-पकूदा (११वीं), इब्न-जबीरुल् (११वीं), अलमैमू (१२वीं), जुनैद (१३वीं), करिष्क (१४वीं)। इन में कुछ तो अफ़्लातूनी सूफ़ी (इश्राक़ी, प्रातिभ, वेदान्ती), कुछ अरस्तूनी नैयायिक (मश्शाई, तार्किक) थे। सब से प्रसिद्ध नाम फ़ाइलो (वेदान्ती) और

अल्मैमू (नैयायिक) हैं । मैमू का जन्म क़र्दवा (कार्डोवा), स्पेन के नगर, मे हुआ, और वहाँ इन्हों ने पढ़ा लिखा और प्रतिष्ठित विद्वान् हुए; पर जब इन की अवस्था प्रायः चालीस वर्ष की हुई तब वहाँ नया मुसल्मान राजा हुआ जिस ने यहूदियों की यातना और हत्या आरम्भ की; तब ये मिस्र देश मे क़ाहिरा(केयरो)मे आये; और भी कई स्थानो मे भागते फिरे; अन्त में सुल्तान (ख़लीफ़ा सलाहुद्दीन ने इन का आदर किया, इन को शरण दिया, अपना वैद्य बनाया (क्योंकि 'तिब्ब' के भी बड़े पंडित थे), अपनी राजधानी बग़दाद मे बसाया; वहीं इन्हों ने अन्त मे १२०४ ई० मे ७९ वें वर्ष मे शरीर छोड़ा। पर यहूदी दर्शन का अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'क़ब्बाला' है, जो शुद्ध औपनिषद वेदान्त ही है। उस की भाषा भी बहुत कुछ उपनिषदों की सी है। कब लिखा गया, इस का पता नहीं; यहूदी रब्बियों (ब्राह्मणो, ब्रह्मवादियों) का विश्वास है कि महर्षि मूसा के ही समय मे इस का आरम्भ हुआ, अर्थात् ई० पू० १७वीं शती में; वा इस से भी पहिले यहूदियों (और अरबों दोनो के आद्य प्रजापति इब्राहीम (एब्रहम, अब्रह्म, ब्राह्म) के ही समय से (ई० पू० बीसवीं शती)। कुछ लोगों का कहना है कि भारत के ब्राह्मण ही अब्रहम् थे, और वे यहाँ से वेदान्त दर्शन अपने साथ ले गये। यहूदी, अरब, असुर, (असीरियन्), ख़ल्दी (कॉल्डीयन) आदि सब नूह (ई० पू० २५००) की संतान, अतः चचेरे भाई हैं; और इसी हेतु से इन मे सदा बापा-बैर और मारकाट होती रही, जैसे कौरव-पांडवों मे। इन्हीं नूह के वंश मे अब्रहम् भी हुए। यह प्रसिद्ध ही है कि ईरानी (आर्यानी, आर्य) धर्म की पुस्तक ज़िन्द-अविस्ता वेदों की ही एक शाखा है, और वेद और ज़िन्द (छन्द) की भाषा मे वैसा ही भेद है जैसा आधुनिक हिन्दी और मराठी या गुजराती या बँगला मे। इन्हीं ईरानियों की शाखा प्रशाखा, यहूदी, अरब, आदि, और पीछे यवन आदि, हुए। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों बोलियाँ बदलती गईं, अंततः परस्पर अबोध्य हो गईं। अस्तु। क़ब्बाला की बात चली थी।

इस के वर्त्तमान रूप मे दो भाग है, पहिले का नाम सफ़िर यत्ज़िरा, अर्थात् सृष्टि-अध्याय; दूसरे का ज़ोहर, अर्थात् ज्योतिरध्याय। जैसे एक वेद का संस्कार कर के वेदव्यास ने चार वेद बना दिये, वैसे ही पुरानी क़ब्बाला की बिखरी बातों का संस्कार कर के किसी ने या किन्हीं ने यह नया रूप बना दिया; किस ने यह किया, इस का पता नहीं। पहिले अध्याय का समय नवीं और दूसरे का तेरहवीं शती कहा जाता है।

अरबों में अधिक प्रसिद्ध अल् किन्दी (नवीं शती), अल् फ़ारावी (दसवीं) इब्न सीना बग़दादी (११ वीं), अबू रुश्द क़र्दबाइ (११ वीं) हुए; इन मे सब से अधिक प्रसिद्ध अन्तिम दो हुए। ये सब अरस्तूनी नैयायिक परम्परा वाले थे।

सूफ़ी परम्परा मे शम्स तब्रेज़ (जिन को कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय केशवानन्द सन्यासी थे, नाम बदल कर वेदान्त का उपदेश करने के लिये ईरान चले गये थे); इन के शिष्य मन्सूर हल्लाज (८५८-९२२ ई०), बग़दादी, जिन को शरई मुल्लाओं ने फाँसी दिलवा दी, क्योंकि ये 'अन् अल् हक़,' 'अहं ब्रह्म', पुकारते फिरते थे; ग़िज़ाली तूसी (१०६६-११११ ई०); उमर ख़य्याम (११ वीं); शहाबुद्दीन सुहरावर्दी (११५६-१२३४ई०); इब्न अरबी, जो स्पेन के एक नगर में ११६५ मे जन्मे, और दमिश्क में आ कर बस गये और वहीं १२४० मे मरे; मौलाना रूमी बल्ख़ी(१३ वीं);इन्हीं के समकालीन और परम मित्र फ़रीदुद्दीन अत्तार, और अब्दुल् करीम जीली (१४ वीं): शहाबुद्दीन शबिस्तरी (१४ वीं) हुए। प्रायः तीन सौ वर्ष पीछे औरंगज़ेब के समय मे, सर्मद, जिन का जन्म प्रायः फ़िलिस्तीन मे यहूदी कुल में हुआ था, बहुत देशों मे घूमते हुए, और ईसाई और मुस्लिम धर्म का भी पर्याय से ग्रहण करते हुए, अन्त मे दिल्ली पहुँचे, और दिल्ली की गलियों मे मंसूर के ऐसा 'अनल हक़' पुकारते फिरे, सर्वथा नग्न दिगम्बर हो कर; इस हेतु दुराग्रही शरई 'कर्मकांडी' औरंगज़ेब ने इन को फाँसी दिलवा दी। इन

के बिखरे हुए शेर मिलते हैं, बहुत मीठे हैं। औरंगज़ेब ने जब पूछा—'बरहना, नंगे, क्यों फिरते हो?' तो उत्तर दिया,

पोशान्द लिबांस हर् कि रा ऐब दीद्,
बे ऐबाँ रा लिबासि उर्यानी दाद्!

तेरे ऐसे पापी, ऐबों से भरे, के ऐबों को छिपाने के लिये कपड़े का प्रयोजन है; मेरे ऐसे बे-ऐब, निर्दोष, के लिये वस्त्रों का पहिरावा अर्थात् नग्नता ही उचित है। जब फाँसी पर चढ़ाने को ले चले तब हँसे और बोले,

अर्सः बूद् आवाज़ए मंसूर कुहन् शुद्,
मन् जल्वा दिहम् बारि दिगर् दार् ओ रसन् रा!

बहुत समय बीत गया, इस से मंसूर की बोली मन्द पड़ गई, सुन नहीं पड़ती, इस लिये मै दार, दारु, लकड़ी और रसन्, 'रशना', रस्सी के द्वारा फाँसी पा कर पुनर्वार उसे ऊँची करूँगा, जगत् को सुनाऊँगा!

सूफ़ियों मे यह बड़ा विशेष गुण रहा है कि वे, परम धार्मिक वेदान्ती होते हुए भी, जीविका के हेतु कोई न कोई व्यवसाय करते रहे; यथा मंसूर, हल्लाज अर्थात् धुनिया थे; ऊमर ख़य्याम, ख़ेमे, तम्बू, वितान, बनायः करते थे; फ़रीदुद्दीन अत्तार, इत्र, पुष्पसार सुगन्ध, बनाते और बेचते थे; मौलाना रूम, महाजनी लेन-देन करते थे। उमर ख़य्याम, गणित और ज्योतिष के भी बहुत बड़े पंडित थे, पर अब तो उन की प्रसिद्धि 'रुबाइयात' के कारण ही है; ये प्रायः पाँच सौ 'चतुष्पदी'(रुबाई) फ़ारसी भाषा के श्लोक हैं, जिन का अनुवाद कई यूरोपीय भाषाओं मे हुआ है। इब्न अरबी और जीली के कुछ छोटे अरबी भाषा के ग्रन्थों का सरस अनुवाद निकल्सन् ने पद्यों मे किया है; इन्हीं ने मौलाना रूम की तीस सहस्र श्लोकों की फ़ारसी भाषा की 'मस्नवी' का भी अंग्रेज़ी अनुवाद किया है। यह मनस्वी सूफ़ियों मे सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है,

यहाँ तक कि क़ुरान से बढ़ कर नहीं तो उस के तुल्य ही इस का आदर है। सूफ़ियों में कहावत है,

मन् चि गोयम् वस्फ़ि आँ आली जनाब,
नीस्त पैग़म्बर् वले दारद् किताब।

इन महात्मा की जितनी भी बड़ाई की जाय थोड़ी है; नाम मात्र को पैग़म्बर नहीं कहलाते पर किताब तो इन की क़ुरान सी ही है। स्वयं मौलाना ने कहा है,

मन् ज़ि क़ुर्-आँ मग़्ज़ रा बर्दाश्तम्,
उस्तुख़्वाँ पेशे सगाँ अन्दाख़्तम्।

मैंने क़ुरान का सत्तसार निकाल कर इस पुस्तक में रख दिया है, और उस की सूखी हड्डी, कर्मकाण्डी शरई कुत्तों के सामने फेंक दी है!

यों तो शेख़ सादी शीराज़ी (११८४–१२९१ ई०) भी सूफ़ी थे, और कोई कोई शेर इन के बड़े ही मार्मिक हैं, यथा

नमाज़े ज़ाहिदाँ क़द्दो सुजूदस्त।
नमाज़े आशिक़ाँ तर्के वुजूदस्त।

सूखे कर्मकांडी मुल्लाओं ज़ाहिदों की नमाज़ तो उठना बैठना है, पर परमेश्वर के सच्चे आशिक़ों, प्रेमियों, भक्तों की नमाज़ अपने को भूल जाना, स्वार्थ को मिटा देना, ही है।

तरीक़त् बजुज़् ख़िद्मते ख़ल्क़ नीस्त,
ब तस्बीहो सज्जादः ओ दल्क़ नीस्त।

परमात्मा को पाने का उपाय लोक-सेवा को छोड़ दूसरा नहीं; माला फेरना और आसन बिछाना और कथरी गुदड़ी ओढ़ना उपाय नहीं।

अकबर इलाहाबादी की, जिन को मरे प्रायः चालीस वर्ष हुए होंगे, प्रसिद्धि उत्तम हास्य रस की कविता की है, पर इन्हों ने भी कुछ शेर बड़े मार्मिक शुद्ध वेदान्त के भी कहे हैं, यथा

ज़ाहिदे गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ ?
वह कहै अल्लाह है, औ मैं कहूँ अल्लाह हूँ !

अरबी फ़ारसी दार्शनिकों के सम्बन्ध में एक रोचक ऐतिहासिक घटना का वर्णन आवश्यक है क्योंकि वैसा इत्तिवृत्त "न भूतो, न भविष्यति" ! राजा लोग प्रायः शौर्य के यश द्वारा अपने अहंकार के तर्पण के लिये, अथवा कामीय वासना की पूर्ति के अर्थ सुन्दर स्त्रियों के लिये, अथवा लूटपाट द्वारा धन और भूमि के लिये युद्ध करते रहे हैं; दार्शनिक विद्वान् के लिये युद्ध एक ही हुआ है ! सहस्र-रजनी-चरित्र में प्रसिद्ध हारूँ रशीद के पुत्र ख़लीफ़ा और सुल्तान मामू रशीद (नवीं शती) को ज्ञात हुआ कि बाइज़ांटियम् (अब कुस्तुन्तुनिया, कॉन्स्टान्टिनोप्ल) में एक बड़े विद्वान् दार्शनिक लीयो नामक अत्यन्त दरिद्रावस्था में दुःख से जी रहे हैं। मामू ने उन को निमंत्रण भेजा कि मेरे पास आइये और सुख सम्पन्नता से जीवन बिताइये। लीयो ने बिना अपने सम्राट् थियोफ़ाइलस् की अनुमति के दूसरे राजा का आश्रित होना उचित नहीं समझा, विशेष कर के ऐसी अवस्था में जब दोनों राजाओं में अन्य कारणों से वैमनस्य था। थियोफ़ाइलस् ने मना कर दिया और उन को अच्छी वृत्ति देना आरम्भ किया, एक बड़ी पाठशाला की मुख्याध्यापकता और अध्यक्षता भी उन को सौंपी। इस पर ८३० में, मामू ने युद्ध की घोषणा कर दी ! प्रायः तीन वर्ष तक संग्राम होते रहे और बहुत जन-धन का विनाश हुआ ; अन्ततः रोग से मामू की ८३३ में मृत्यु हो गई और युद्ध शांत हुआ। लीयो ने अग्नि की ज्वालाओं के संकेतों से युद्धों में हार जीत के समाचार दूर से बहुत शीघ्र भेजने के उपाय का आविष्कार किया था। उस समय में जब तार, रेडियो, आदि नहीं थे, यह उपज बड़ी अद्भुत मानी गई।

अब अन्त में पाश्चात्य दार्शनिकों, अर्थात् यूरोप और अमेरिका के दार्शनिकों की दृष्टियों को देखना चाहिये। अलेक्ज़ांडर हर्ज़बर्ग नामक जर्मन विद्वान् की पुस्तक 'दि साइकालोजी ऑफ़् फ़िलॉसोफ़र्स' की चर्चा

कई बार पूर्वाध्यायों मे की जा चुकी है। उस मे उस ने तीस प्रसिद्धतम दार्शनिकों की जीवनी लिखी है। प्रसिद्धतमता का लक्षण यह है कि जब दार्शनिकों और वादों की चर्चा ग्रन्थ मे वा मौखिक वार्त्तालाप मे हो तो इनके नाम निश्चयेन लिये जायँ, चाहे अन्यों के लिये जायँ वा नहीं; एवं दर्शन के इतिहासों मे इन के नामों और वादों का उल्लेख और विवरण अवश्य हो, चाहे औरों का हो या न हो। इस कसौटी से परख कर, हर्ज़बर्ग ने तीस नाम चुने हैं जिन मे केवल दो तीन पर यह निकष ठीक नहीं बैठता; वे ये हैं—

१. सॉक्राटीज़् (ग्रीस देश में जन्म वर्ष ४६९ ई. पू., मृत्यु ३९९)
२. प्लेटो (,, ,, ४२८ ,, ,, ३४७)
३. ऑरिस्टॉट्ल् (,, ,, ३८४ ,, ,, ३२२)
४. एपिक्यूरस् (,, ,, ३४२ ,, ,, २७०)
५. सेंट ऑगस्टिन् (उत्तरी आफ्रिका ,, ३५४ ई० ,, ४३० ई.)
६. ज्ञॉर्डानो ब्रूनो (इटली ,, १५५० ,, ,, १६००,,)
७. बेकन् (इङ्लैंड ,, १५६१ ,, ,, १६२६ ,,)
८. हॉब्ज़् (,, ,, १५८८ ,, ,, १६७९ ,,)
९. डेकार्ट (फ्रांस ,, १५९६ ,, ,, १६५० ,,)
१०. लॉक (इङ्लैंड ,, १६३२ ,, ,, १७०४ ,,)
११. स्पाइनोज़ा (हॉलॅन्ड ,, १६३२ ,, ,, १६७७ ,,)
१२. मालेब्रांश् (फ्रांस् ,, १६३८ ,, ,, १७१५ ,,)
१३. लाइबनित्ज़् (जर्मनी ,, १६४६ ,, ,, १७१६ ,,)
१४. बर्कली (आयरलैण्ड ,, १६८५ ,, ,, १७५७ ,,)
१५. ह्यूम् (इङ्लैन्ड ,, १७११ ,, ,, १७७६ ,,)
१६. रूसो (फ्रांस ,, १७१२ ,, ,, १७७८ ,,)
१७. कान्त् (जर्मनी ,, १७२४ ,, ,, १८०४ ,,)
१८. फ़िश्ते (,, ,, १७६२ ,, ,, १८१४ ,,)
१९. हेगेल् (,, ,, १७७० ,, ,, १८३१ ,,)

२०. शेलिङ्	(,,	,, १७७५ ,,	,, १८५४ ,,)
२१. हर्बार्ट	(,,	,, १७७६ ,,	,, १८४१ ,,)
२२. शोपेनहावर	(,,	,, १७८८ ,,	,, १८६० ,,)
२३. कॉम्ते	(फ्रांस	,, १७९८ ,,	,, १८५७ ,,)
२४. फ़ेख्नर्	(जर्मनी	,, १८०१ ,,	,, १८८७ ,,)
२५. फ़्युअर्बाख़्	(,,	,, १८०४ ,,	,, १८७२ ,,)
२६. मिल्	(इङ्लैन्ड	,, १८०६ ,,	,, १८७३ ,,)
२७. स्टर्नर	(जर्मनी	,,	अज्ञात	)
२८. हर्बर्ट स्पेन्सर्	(इङ्लैन्ड	,, १८२० ,,	,, १९०३ ,,)
२९. हार्टमॉन्	(जर्मनी	,, १८४२ ,,	,, १९०६ ,,)
३०. नीचे	(जर्मनी	,, १८४४ ,,	,, १९०० ,,)

स्टर्नर का नाम, मेरे देखे हुए ग्रन्थों मे से किसी मे भी नहीं मिला, सिवा एक के, अर्थात् हार्टमान् के 'फिलासोफ़ी आफ़् दि अन्कांशस्' की तीसरी जिल्द के पृष्ठ ९७–९८ पर; जन्म और मृत्यु की तिथियाँ नहीं लिखी हैं; पर यह लिखा है कि बहुत वर्षों तक निर्जन जंगल के बीच एक मकान मे प्रायः अकेले ही रहा करते थे; आठवें दसवें एक परिचित मनुष्य उतने दिनो को पर्याप्त खाने पीने की सामग्री, पास के किसी ग्राम से क्रय कर के, दे जाया करता था; ध्यान मे, लिखने मे, पढ़ने मे अधिकांश समय बिताते थे; कारण ठीक ज्ञात नहीं; स्यात् असाध्य रोग के हेतु संसार से विरक्त हो रहे थे।

उक्त तीस मे नम्बर १, २, ३, ४, ७, ९, ११, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २२, २३, २६, २८, २९, अधिक प्रसिद्ध हैं; और इन मे भी प्रसिद्धतम नं० २, ३, ४, ७, ११, १४, १५, १७, १८, १९, २२, २३, २८, और २९। सेंट ऑगस्टिन् की प्रसिद्धि उन के दर्शन के लिये उतनी नहीं है जितनी अपने पापों के प्रख्यापनात्मक ग्रन्थ 'कॉन्फ़े-शन्स' के हेतु है; इस मे कहा है कि मै यौवन मे बड़ा दुराचारी 'व्यभिचारी' वेश्याऽऽसक्त आदि रहा, फिर अन्तरात्मा की प्रेरणा से एक

दिन उस भ्रष्टता से घोर घृणा हुई, पश्चात्ताप हुआ, ईसा मसीह मे भक्ति हुई। फिर तो ऐसे तपस्वी हुए कि तत्कालीन रोम-साम्राज्यान्तर्गत उत्तरी आफ्रिका के हिप्पो नामक नगर के 'विशप' नियुक्त हुए, और 'संट' (सन्त' का ही रूपान्तर) की पदवी से विभूषित हुए। बेकन् की प्रसिद्धि शुद्ध दर्शन के हेतु इतनी नहीं है जितनी 'ऑडवॉन्समॅट ऑफ़् लर्निङ्' नामक ग्रन्थ के लिये जिस मे उन्हों ने विज्ञापन और योग्या ('एक्सपेरिमेन्ट्') के द्वारा निश्चित ज्ञान पर बल दिया है; और इस हेतु से वे आधुनिक विज्ञान के प्रवर्त्तक और पितामह माने जाते हैं। स्पाइनोज़ा की विशेषता यह है कि दरिद्र यहूदी घर मे जन्मे, और समस्त आयु उन्हों ने हीरा-तराशी के व्यवसाय से जीविकोपार्जन किया, यद्यपि जब उन के ग्रन्थ छपे और उन के कारण बहुत यश फैला तब कई राजाओं ने उन को बहुत आदर से निमंत्रण भेजा और विश्व-विद्यापीठों मे ऊँचे वेतन पर अध्यापक नियुक्त करने को कहा, पर वे सदा अस्वीकार ही करते रहे; तथा आमरण अविवाहित ब्रह्मचारी ही रहे; सम्पत्ति के अभाव से जनित क्लेशों के कारण बहुत अल्पायु हुए। बड़े दार्शनिकों मे भी ये बहुत बड़े माने जाते हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि प्रायः छः-सात सौ वर्ष से ऑम्स्टर्डाम् नगर मे, जो हॉलॅण्ड की राजधानी है, और जहाँ स्पाइनोज़ा ने जीवन बिताया; तथा काशी मे स्यात् दो सहस्र वर्ष से; हीरा-तराशी का काम हो रहा है; अन्य किन्हीं स्थानों की, इस प्रसंग मे, ऐसी ख्याति नहीं मिलती है; चाहे अब अन्य नगरों मे भी होने लगा हो; तथा ईरान और चीन के पुराने सभ्य देशों मे भी रहा हो, क्योंकि इन दोनों देशों मे हीरा आदि जवाहिरों के बड़े बड़े संचय रहे हैं। चोरी के जवाहिर प्रायः उक्त दो नगरों मे आ कर पुनः घिसवा कटवा लिये जाते रहे हैं, कि पकड़े जाने पर पहिचाने न जायँ। अस्तु; प्रसङ्गवशात् बात कुछ बहँक गई, अब पुनः प्रसक्त विषय पर आना चाहिये। बर्कली का दर्शन प्रायः शुद्ध अद्वैत वेदान्त ही है। रूसो की प्रतिष्ठा दर्शन के कारण उतनी नहीं है

जितनी 'सोशल कान्ट्रॉक्ट' नामक ग्रन्थ के लिये, जिस मे उन्हों ने यह दिखाने का यत्न किया है कि 'समाज' का 'आरम्भ' जनता के पारस्परिक समय (प्रतिज्ञा, इक़रार, कॉन्ट्रॉक्ट) से हुआ। यह बात महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्म पर्व के अ० ६६ मे कहे श्लोकों का अनुवाद है,

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुः इति नः श्रुतं,
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्याः इव जले कृशान्,
समेत्य ताः ततः चक्रुः समयान् इति न श्रुतं।...
ताः तथा समयं कृत्वा, समये न ऽवतस्थिरे,
सहिताः ताः तदा जग्मुः असुखार्त्ताः पितामहं—
अनीश्वराः विनश्यामो, भगवन्!, ईश्वरं दिशः
ताभ्यो मनुं आदिदेश...। १७-२१.

पुरा काल मे सबल मनुष्य दुर्बलों को खा जाते थे, जैसे बड़ी मछलियाँ छोटियों को। तब सब ने एकत्र हो कर आपस मे समय, इक़रार, किया कि जो दूसरों को कष्ट दे उस को अपनी मंडली से निकाल देंगे। पर इस प्रतिज्ञा पर स्थिर नहीं रहे। रोते हुए ब्रह्मा पितामह के, जाति के वृद्धतम महापुरुष के, जिन का दुष्ट और सज्जन दोनो ही आदर करते थे, क्योंकि दोनो उन के सन्तान थे, पास गये, कहा, भगवन्! हम लोगों को एक राजा, ईश्वर, दंडधर, दीजिये जो दुष्टों को दंड दे; ब्रह्मदेव ने मनु को राजा बनाया।

कान्ट भी, स्पाइनोज़ा के ऐसे प्रसिद्धों मे भी प्रसिद्ध हैं; इन्हों ने यूरोप मे वह काम किया जो भारत मे गंगेश और उन के अनुयायियों ने किया; नये दुर्बोध मुखपूरक शब्द गढ़े, जिन के अर्थों के वाचक पुराने सरल सरल चिराभ्यस्त शब्द उपस्थित थे। पर मनुष्य की उलटी प्रकृति ही है; 'जिस की बोली का अर्थ दूसरों को समुझ न पड़ै वही बड़ा पंडित'!। इन के समग्र दर्शन का सार वही है जो वैशेषिक के तीन शब्दों मे है, पर-सामान्य, परा-ऽपर-जाति, चरम-विशेष; तथा

आचारनीति मे वही पुरानी बात, 'जो अपने लिये चाहो वह दूसरे के लिये चाहो, जो अपने लिये न चाहो वह दूसरे के लिये मत चाहो'। पर इस सूत्र को व्यवहार मे लाने के लिये जिस समाज-व्यवस्था की आवश्यकता है उस का कहीं स्वप्न मे भी इन को दर्शन नहीं। हेगेल् की भी कुछ ऐसी ही सी कथा है। फ़िश्ते निश्चयेन शुद्ध अद्वैत वेदान्ती हुए और इन्हों ने पहिचाना कि परमात्मा ही एक परसामान्य सर्वव्यापी सर्वसंग्राही है; पर समाज-व्यवस्था का मर्म इन को भी, अथ किं, किसी भी पाश्चात्य दार्शनिक को नहीं विदित था न आज तक है। हाँ, प्लेटो ने, जो भारतीय व्यवस्था की अवस्था, ग्रीस मे गये भारतीय यात्रियों से सुना, वा स्वयं भारत मे भ्रमण कर के देखा, उस के भरोसे उस की कुछ टूटी फूटी अशुद्ध रूपरेखा अपने 'रिपब्लिक' नाम के ग्रन्थ मे लिख दी है। शोपेनहावर और हार्टमॉन् के ग्रन्थ तो योग-सूत्र—'प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराः वृत्तयः'—की बहुत विस्तीर्ण, बहुत रोचक, वैज्ञानिक टीका हैं। शोपेनहावर ने यह भूल की कि ज्ञान, 'आइडिया', और इच्छा, ईहा, 'विल्', को पृथक्-कार्य समझा; हार्टमान् ने इस का प्रतिशोध किया, सिद्ध किया कि दोनो अपृथक्-कार्य, अयुत-सिद्ध, हैं, जो भारतीय दर्शनो का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी आजीवन अविवाहित ब्रह्मचारी रहे, ज्ञान-पिपासा की शान्ति मे ही निमग्न रहे, ये अध्यात्म विषय के खोजी और सूक्ष्म-दर्शी नहीं रहे, इन का यत्न, क्रम-विकास-वाद, 'ईवोल्युशन् थियरी', के अनुसार, समग्र सृष्टि का इतिहास और सब शास्त्रों का समन्वय करने के लिये था; मानो अंग्रेज़ी शब्दों मे पुराण लिखा; बड़े सच्चरित्र थे; देश-देशान्तर मे यश फैला, बड़ा आदर हुआ; ब्रिटिश् सर्कार ने कई बेर इन को महासम्मान-सूचक पदवी देना चाहा, पर ये अस्वीकार ही करते रहे, क्योंकि राज-नीति के विषय मे संघराज्य (रिपब्लिक) के विश्वासी थे, ऐक्यराज्य के नहीं। सम्राट् मुत्सुहितो के समय मे जापान की सर्कार ने इन से सत्-शासन, प्रजा-शिक्षा, आदि के विषय मे परामर्श की प्रार्थना की, और इन्हों ने दिया,

पर शिक्षा आदि के विषय का परामर्श अंशतः माना और कार्यान्वित किया गया, किन्तु शासन-विषयक संवराज्य, महाजनतंत्र, के प्रकार का नहीं माना गया, क्योंकि जापानी जनता ढाई सहस्र वर्ष से एक सम्राट् की भक्त हो रही है। इस प्रकार से दार्शनिक विद्वान् से शासकवर्ग का परामर्श मागना पूर्व ही की परम्परागत चाल रही है, कि ऋषि लोग राजाओं का शिक्षण नियन्त्रण करते रहे, पच्छिम मे यह प्रकार न रहा, न है। मिल् भी तार्किक तो बहुत अच्छे हुए, पर इन की प्रसिद्धि अध्यात्म दर्शन के लिये उतनी नहीं है जितनी इन के तर्क और अर्थशास्त्र सम्बन्धी 'प्रिंसिपल्स् ऑफ् लॉजिक्' और 'प्रिंसिपल्स ऑफ् पोलिटिकल ईकॉनोमी' नामक ग्रन्थों के। इन के 'युटिलिटेरियनि ज़्म', 'लिबर्टी', और 'सब्जेक्शन ऑफ़् विमेन्' भी बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। 'लॉजिक्' मे अन्वय-व्यतिरेक से अनुगम, 'इण्डकशन्', करने के प्रकार का विस्तृत वर्णन है, 'पोलिटिकल् ईकॉनोमी' मे 'मनी', 'धन' 'सिक्का', सोना, चाँदी ताम्बा आदि की मुद्रा, तथा हुंडी, प्रभृति के अर्थ और उद्देश्य, और 'सप्लाई' और 'डिमांड' (उपस्थित , प्राप्य) वस्तु 'माल' और 'माग' 'खपत' के घटाव बढ़ाव से मूल्य के बढ़ाव घटाव आदि विषयों पर अच्छा विस्तृत विचार किया है। 'युटिलिटेरियनि ज़्म' मे, आधुनिक शब्दों मे, भारतोक्त सिद्धांत "यत् लोकहितं अत्यन्तं तत् सत्यं इति नः श्रुतं" का विवरण किया है, 'लिबर्टी' मे स्वतंत्रता के ठीक अर्थ पर विचार है, 'सब्जेक्शन ऑफ् विमेन्' मे स्त्रियों को पददलित नहीं रखना चाहिये, सब प्रकार के अधिकारों मे पुरुषों के तुल्य मानना चाहिये, इस पर बल दिया है। परमात्मा और जीवात्मा, स्वर्ग और नरक आदि के विषय मे 'संशयवादी' थे, जब इन का अंतकाल आया, और ईसाइयों ने आग्रह किया, तब इन्हों ने आँख बंद कर के, गंभीर भाव से, कहाः 'हे परमेश्वर! यदि कोई परमेश्वर है तो, मेरी जीवात्मा को, यदि जीवात्मा है तो, ग्रहण कीजिये' और शरीर छोड़ दिया।

उक्त तीस दार्शनिकों के पीछे भी, १९ वीं शती मे, कई ऐसे हुए जिन्हों ने अच्छी ख्याति पाई, जैसे बर्गसन् (फ्रांस्), क्रोशे (इटली), रसेल (इङ्लाण्ड), सान्टायना (स्पेन मे जन्मे यू० स्टे० अमेरिका की हार्वर्ड यूनिवर्सिटी मे तेइस वर्ष प्रोफ़ेसर रहे, ब्रिटेन मे कई वर्ष रह कर मरे), विलियम् जेम्स् (यू० स्टे० अमेरिका), जान डिवी (यू० स्टे० अमेरिका) ब्राड्ली (ब्रिटेन), प्रायः मायावादी वेदांती, राइस् (ब्रिटेन), आदि । इन मे भी बर्गसन् और जेम्स अधिक विख्यात हुए । बर्गसन् वेदांतोन्मुख, प्रतिभावादी, तर्क-शंकी हुए । जेम्स तर्क और प्रतिभा दोनो मे विश्वास करते थे; इन के सभी ग्रंथ, 'वेरायेटी ज् ऑफ़ रिलिजस् एक्स्पीरियेंस्', 'प्रिंसिपल्स् ऑफ़् साइकॉलोजी', 'प्रॉगमॉटि ज़्म', आदि बहुत फैले, कारण यह कि भाषा नितांत रोचक, अर्थ सुस्पष्ट, बीच बीच मे हँसी भी, विज्ञान और अध्यात्मविद्या का संमिश्रण भी; पर इन के विचारों और शब्दों मे सब से अधिक प्रसिद्ध 'मॉरल् एक्विवालेण्ट ऑफ़ वार' हुआ, अर्थात् 'शस्त्र-युद्ध का नैतिक तुल्य' । जिन अल्पदर्शियों का यह कहना और यह आशा है कि मनुष्य की प्रकृति ऐसी बदल सकती है और बदल जायगी कि उस मे द्वेष और क्रोध मनाक् भी न रह जाय, और केवल राग और काम, परस्पर स्नेह और प्रेम ही प्रेम बच जाय, उन का इन्हों ने ठीक ही अपहास और तिरस्कार किया है, क्योंकि परमात्मा की प्रकृति सुतमां नितमां द्वंद्व-न्याय से ओत-प्रोत है; पर अब प्रश्न यह है कि इस द्रोहांश वैरांश का उन्नयन, उत्कर्षण, 'सब्लिमेशन्', कैसे किया जाय कि उस का वेग भी शांत हो जाय, दुष्टेच्छा की पूर्ति भी हो जाय, और फल मानव जाति के लिये हानिकारक न हो कर हितकारक हो । इस प्रश्न का उत्तर इन्हों ने इस प्रकार दिया है कि देश देश की सर्कारों को चाहिये कि सब स्वस्थ स्त्री-पुरुषों को, अपने अपने जीविकोपार्जक व्यवसायों से दो, तीन, चार घंटा बचवा कर, (विशेष कर युवा-युवतियों को, क्योंकि अधिकतर यौवन में ही शक्तियाँ और राग-द्वेष आदि सब क्षोभ और वेग प्रचण्ड होते हैं), सार्वजनिक कार्यों

मे लगावें, यथा बड़ी बड़ी नहरें खोदना, पहाड़ काटना, पर्वतों के भीतर से रेल मोटर आदि के लिये सुरङ्ग बनाना, जंगल काट कर उपजाऊ भूमि बनाना, खेती के लिए हल-बैल चलाना, ऊषर भूमि को उर्वरा करने के लिये उस मे पेड़ लगाना, पानी लाना, हिंस्र वन्य पशुओं को, सिंह, व्याघ्र, हाथी, भेडिया, भालू, अजगर, विषधर सर्प, मगर, घड़ि-याल आदि को मारना, समुद्र-यान वायु-यान मे चल कर वात्याओं से, समुद्र की पर्वताकार लहरों से, झंझा के वृक्षोन्मूलक थपेड़ों से, लड़ना, समुद्र के महामत्स्यों का, तिमिङ्गिलों, 'ह्वेलों', तिमियों, मकरों, 'शार्कों,' का शिकार करना—इत्यादि। अस्तु। इन के पीछे भी सैकड़ों अपितु सहस्रों दर्शन की जीविका, प्रोफ़ेसरी आदि द्वारा, करने वाले हुए हैं और होते जाते हैं, पर ये कोई नई बात नहीं कहते, प्रत्युत शार्गाली भाषा, 'जार्गन' ही (पृ० २१३) बढ़ाते हैं, इन की चर्चा व्यर्थ है। भारत के प्राचीन आर्य काल मे ब्रह्म-विद्या, विरक्त, विवेकी, सच्चरित्र, षट्साधन-सम्पन्न मुमुक्षु को, तपस्वी सद्गुरु सिखाता था। आधुनिक समय मे, जीविका का साधन बन कर, यह विद्या नष्ट भ्रष्ट हो गई है।

अब इन पाश्चात्य दार्शनिकों को दर्शन की ओर प्रवृत्त करने के प्रयोजक हेतु क्या हुए, इस को देखना चाहिये। हर्ज़बर्ग के ग्रन्थ, तथा अन्य जीवनियों, से विदित होता है कि किसी न किसी प्रकार का दुःख ही और तन्निवृत्त्युपाय-लिप्सा ही प्रेरक हुए, यथा, किसी को चिरकालिक रोग, किसी को आर्थिक कष्ट, किसी को कामादि-व्याघात आदि। स्यात् ही दो चार ऐसे हुए जिन को शुद्ध कुतूहल और वस्तु-स्थिति-जिज्ञासा हेतु हुए। और उन को भी, सूक्ष्मेक्षिका से देखने से जान पड़ता है कि, यदि अपने दुःख की निवृत्ति नहीं तो दूसरों के दुःख दूर करने के उपाय की जिज्ञासा प्रेरक हुई, जिस के उदाहरण प्रथमाध्याय मे बहुत दे दिये हैं। शुद्ध विज्ञान की खोज का भी अन्त मे फल यही निकलता है कि उस से जनता का आमुष्मिक नहीं तो ऐहिक ही कुछ न कुछ उपकार हो; जैसा पहिले कह आये हैं, 'सायंस् इज़ नॉट फ़ॉर दि सेक् ऑफ़

सायंस्, बट् फ़ार् दि सेक् ऑफ़ लाइफ़,' विज्ञान के लिये विज्ञान नहीं, प्रत्युत जीवन-सौकर्य के लिये'।

अब इस कथा को समाप्त करना चाहिये, और समाप्त करने का इस से कोई दूसरा अधिक अच्छा प्रकार नहीं है कि पूर्वोद्धृत सांख्य-कारिका के श्लोक यहाँ पुनः उद्धृत किये जायँ; उन श्लोकों में दर्शन के प्रयोजन का समग्र समास-व्यास संपुटित है। विविध प्रकार के दुःख मनुष्य को सदा घेरे रहते हैं; उन के कारण और उन को दूर करने का उपाय मनुष्य खोजते हैं; ऐहिक और नरकादिक आमुष्मिक दुःखों की चिकित्सा ऐहिक औषधादिक से, तथा आमुष्मिक की यज्ञ-दान-आदि से, होती है; पर ऐकान्तिक आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ऐसे उपायों से नहीं होती, पुनः पुनः आवागमन जन्ममरण सुखदुःख के भोग से छुटकारा नहीं मिलता; वह मोक्ष, अध्यात्म-विद्या, आत्म-विद्या, ब्रह्म-विद्या, सांख्य-योग-वेदान्त से ही मिलता है।

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ;
दृष्टे सा ऽपार्था चेत् ?, न, एकान्तऽत्यतन्तोऽभावात्।
दृष्टवद् आनुश्रविकः, स हि अविशुद्धि-क्षय-ऽतिशययुक्तः;
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्त-ऽऽव्यक्त-ज्ञ-विज्ञानात्।

ॐ

सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु।

ॐ